

Barcode - 99999990312340
Title - Patanjali Yogdarshanm
Subject - Devotional
Author - Sharma, Rudradatt
Language - sanskrit
Pages - 554
Publication Year - 1960
Creator - Fast DLI Downloader
<https://github.com/cancerian0684/dli-downloader>
Barcode EAN.UCC-13



❀ ओ३म् ❀

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

पातञ्जल योगदर्शनम् ।

निखिलतन्त्रस्वतन्त्रमहर्षिव्यासदेवप्रणीतम्
साङ्ख्यप्रवचन-भाष्यसहितम् ।
तथा राजर्षि-भोजदेव-प्रणीत-राजमार्त्तण्ड
वृत्तिसहितम् ।

स्वर्गीय पं० रुद्रदत्त शर्मा सम्पादकाचार्य

प्रकाश

सुरेन्द्रकुम

वैदिक पुस्तकालय, नाच्वावाग, जयपुर

प्रकाशक

सुरेन्द्रकुमार शर्मा

वैदिक पुस्तकालय, मीचीबाग, बाराबंसी

पुस्तक मिलने का पता—

१—वैदिक पुस्तकालय, मीचीबाग, बाराबंसी

२—प्रेम पुस्तक-मण्डार, मिहारीपुर, बरेली

मुद्रक—

श्रीधरजीनाथ गुप्त

भीमतीठाराम प्रेस, बाराबंसी

उपोद्घात ।

ईश्वर की भी क्या ही अपार महिमा है कि जिसको क्षणमात्र एकान्त स्थल में निष्पन्न होकर विचारने से स्पष्ट भान होता है कि यह जगत् क्षणभंगुर है ।

“प्रथमं जगदेव नश्वरम् पुनरस्मिन्क्षणभंगुरा तनुः,
ननु तत्र सुखाप्तिहेतवे क्रियते हन्त जनैः परिश्रमः” ।

देखिये प्रथम इन शरीरों की कैसी आश्चर्यमय उत्पत्ति है, यदि इसके उपादान कारण पर दृष्टि देते हैं तो उस रजोवीर्य से ऐसे आश्चर्यमय शरीरों का उत्पन्न होना किसी प्रकार से बुद्धि में नहीं आता, पश्चात् शरीर और प्राण के वियोग हो जाने पर यदि समस्त जगत् ढूँढिये तो उस प्राणी का पता न पाइयेगा, परन्तु भारतवर्षीय उद्यमशाली विद्वानों ने इसी अनित्य और मलसार शरीर से ऐसी २ विद्या प्रकट की हैं कि, जिनके साधन से मनुष्य इस लोक और परलोक में अवधि से अधिक भी सुख प्राप्त कर सकता है, जिस प्रकार से आजकल के यूरोपियन विद्वान् लोग अनेक वाह्य विद्या प्रकट करके यश लाभ कर रहे हैं ऐसे ही भारतीय विद्वान् लोग आन्तरिक विद्याओं को प्रकाशित करके कीर्तिमान होते थे और यथार्थ में जबतक मनुष्य यह नहीं जाने कि मेरे शरीर में क्या २ पदार्थ हैं तबतक वह पदार्थान्तरों को कैसे जान सकता है ? इसके अतिरिक्त मनुष्यों के शरीरों में अन्तःकरण चतुष्टय के अन्तर्गत मन ऐसा विघ्नकारक है कि मनुष्यों को अनेक दुःखप्रद विषयों में फँसाकर सासारिक और पारमाथिक सुखों से वञ्चित कर देता है और केवल अर्थ और काम में ही फँसाये रखता है, धर्म और मोक्ष का चिन्तन भी नहीं करने देता यद्यपि

मन की चपलता और तरलता स्वाभाविक गुण है तथापि सुखों का मन धर्म और मोक्ष की ओर चलता है और दुराचारियों का मन निम्नित कर्मों में चलता है जिससे न ज्ञान इन कर्मों के बाध मध्य और अन्त में दुःख उत्पन्न है और यह आपामार प्रसिद्ध है कि सुख की सबको इच्छा होती है परन्तु अल्पज्ञ लोग सुखामास को सुख मानकर फिर दुःखसागर में डूबते हैं जैसे परस्त्री परपुरुष प्रसंगादि क्षणिक सुख में मग्न होने से उपद्रव और उससे कृत्रिम महारोगों से जन्म भर महादुःख का भोग करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि वह सुख नहीं वस्तु सुखामास है वस सुख बड़ी है जिसमें दुःख का अत्यन्ताभाव हो जाय और उसी दुःख के अत्यन्ताभाव को मोक्ष कहते हैं जैसे महर्षि कपिलदेव ने सांख्यशास्त्र में सिखा है।

“अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः”

इसका अर्थ यह है कि आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं वस विचारशील मनुष्य इस ही अक्षय सुख की प्राप्ति का पत्न करते हैं और इस सुखप्राप्ति का साधन मन और इन्द्रियों का निग्रह है परम मनोनिग्रह योग के बिना असम्भव है। गीता में श्री कृष्ण ने भी कहा है “अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते” अर्थात् योगाभ्यास और वैराग्य से मनोनिग्रह हो सकता है और जैसे अग्नि में उपाने से पातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही योगाभ्यास से मनुष्य के मल विषेय और आचरण वाप छूटकर पुरुष ज्ञान की प्राप्ति होती है और उससे मोक्ष सिद्ध होता है।

परन्तु आसक्त लोगों ने योग शब्द को ऐसा बुरा समझ रक्खा है कि जो मित्रक गले में रख पहनकर किसी विद्या के न

जानने के कारण बिना उचित परिश्रम किये आलस्यग्रस्त होकर उदरपूर्ति के लिये घर घर भिक्षा माँगते फिरते हैं आजकल वे ही निरुद्योगी योगी कहलाते हैं । यदि मनुष्य ने अधिक विचार किया तो वस यहाँ तक बुद्धि को दौड़ाया कि “योगी का अर्थ यह समझने लगा कि जो घर वार को छोड़कर जङ्गल में चला जाय उसे योगी कहते हैं” । और कोई २ मनुष्य कनफटे फकीरोंको ही योगी कहते हैं । परन्तु यह सब मनुष्यों की भूल है क्योंकि योग से और वस्त्रों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं योग का केवल चित्त से सम्बन्ध है बल्कि चित्त की स्थिर वृत्ति ही का नाम योग है उसमें गेरु के रंगे कपड़े वा जटा कुछ सहायक नहीं होते । प्रत्युत बाधक होते हैं क्योंकि आजकल प्रायः अज्ञलोग काषायाम्बरधारी मनुष्यों को सिद्ध जानकर ऐसा घेरते हैं कि उनको अष्टप्रहर अवकाश नहीं लेने देते फिर उनके चित्त की वृत्ति कैसे स्थिर हो सकती है और जो यह कहते हैं कि जङ्गल में रहने से योग प्राप्त होता है यह भी उनका ही भ्रम है क्योंकि किसी सज्जन का वचन है कि :—

वनेपि दोषाः प्रभवन्तिरागिणां,

गृहेषु पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।

अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते,

निवृत्तरागस्य गृहंतपोवनम् ॥

गीता में लिखा है कि—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारस्त उच्यते ॥

इत्यादि अनेक प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि मनुष्य गृहस्थाश्रम में भी योगसाधन कर सकता है और प्रत्येक मनुष्य

दिन भर में दो एक बार योग की क्रिया करता है परन्तु उसकी बरा को न कामने के कारण सांसारिक व्यवहार में घुल कर देता है जैसे कोई स्वेच्छक उत्तम अक्षर सिखता है जब उसको समस्त अभ्य विषयों से चित्त की वृत्तियों को रोककर अक्षर के आकार में लगानी पड़ती है क्योंकि बिना उदाहारवृत्ति किये अक्षर सर्पार्थ सुन्दर नहीं बन सकता और पतञ्जलि अर्थात् इसी योगशास्त्र के प्रथमपाद के दूसरे सूत्र में योग का लक्ष्य सिखा है कि चित्त की वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं परन्तु आत्मज्ञ के मनुष्यों पर तो यह कहावत ठीक परिणाम होती है कि अर्घ्य कर्ण कर्ण पर अभ्यास करनी न आई ।

महा हम पूछते हैं कि यदि मन में ही समोनिग्रह होता है तो बा शिर्षो पानी के मरे पड़े सिर पर रखकर प्रति दिन लाती है यह कैसे होता ? क्योंकि बिना चित्त की वृत्तियों के निरास किये निरास्य पदों का सिर पर ठहरना असम्भव है । ऐसे ही मन का निरास्य रस्ते का तार पर चलना समझिये इन दृष्टान्तों से यही मास्त्रुम होता है कि किसी की और नट की चित्रावृत्ति का याग पड़े और रस्ते आदि से है परन्तु बड़े आश्चर्यकी बात है कि नित्य योग की क्रिया करने पर भी साय योग के नाम से करते हैं पूर्वोक्त निन्दा और इस शब्द के दुर्नाम और भय का कारण यही मास्त्रुम होता है कि महाभारत पुरु के पीछे इस देश में अभ्य देशी विद्याओं के फैल जान से भारतवासी अपनी धर्मभाषा संस्कृत को ऐसे भूल गये कि उसके शब्द मात्र से भय करने लगे ।

बड़े शोक का स्थल है कि जिन विद्याओं के आधिर्भाव (पैरा) करनेवाले इस देश में रहते थे उन विद्याओं के पढ़न पढ़ान वालों का भी इस देश में अभाव हो गया जिससे ऊर्ही महर्षियों के वंशम मुक्तकण्ठ से कहते हैं कि हमारे देश में प्रथम कोई विद्या ही न थी

इस अभाव को दूर करने के लिये इस योगशास्त्र का सरलभाषा में अनुवाद किया जाता है, आशा है कि ईश्वरानुग्रह से यह कार्य शीघ्र पूर्ण होकर पाठकों को मङ्गलकारक और सुखदायी होगा ।

इस अनुवाद में केवल अक्षरार्थ और उपयोगी बातें लिखी जायँगी और अनपेक्षित (फिजूल) कुछ नहीं लिखा जायगा, योग में जो जो उपयोगी वस्तु और स्थानादिक हैं वे सब योग के ऽ अंगों के वर्णन में लिखे जायँगे ।

इस सर्वोपकारी सत्य सुख के देनेवाले योगशास्त्रको पाणिनीय व्याकरण और कपिल ऋषि प्रणीत सांख्यशास्त्र के भाष्यकर्त्ता महर्षि पतञ्जलि ने चार भागों में विभक्त किया है ।

उनमें से पहिले पाद में योग के लक्षण मनोनिग्रह और चित्त वृत्तियों के रोकने के उपाय लिखे हैं इसीलिये इस पाद का नाम समाधिपाद है ।

दूसरे पाद में अष्टाङ्गयोग का वर्णन और शम दमादि योग के साधन आदि का सविस्तर वर्णन किया है इसलिये द्वितीय पाद का नाम साधनपाद रखा है ।

तीसरे पाद का नाम विभूतिपाद इसलिये है कि उसमें योग-साधन के गौणफल वाक्सिद्धि और अणिमादि निधियों की प्राप्ति का वर्णन है ।

और चतुर्थपाद में योग के प्रधान फल मोक्ष का वर्णन है इस कारण से चतुर्थ पाद का नाम कैवल्यपाद रखा है ।

इनमें से प्रथम पाद में ५१ दूसरे में ५५, तीसरे में ५५, और चौथे में ३४ सूत्र हैं एवं समस्त सूत्र संख्या १९५ हुई समस्त मुमुक्षु और विद्वानों को उचित है कि इस आर्ष ग्रन्थ को क्रमशः पढ़कर लाभ उठावें ।

यदि इस भाषानुवाद में कोई त्रुटि हो तो सज्जन लोग अनुग्रह

व्याप्त सूचित करें क्योंकि भ्रम मुख्य होमा सर्वथा असम्भव है
 अतएव भ्रुति सम्भव है और सञ्जनों के सूचित करने पर ध्यान
 भी दिया जायगा परन्तु जो लोग दुराग्रह से खण्डन करेंगे उनके
 सर्व अहितकारी कथन पर कुछ ध्यान न दिया जायगा, क्योंकि
 क्या बाद में अक्षय्य करना बुद्धिमत्ता का काम नहीं है ।

—हरदत्त शर्मा अनुवादक

पातंजलि-योगदर्शनम्

समाधि-पादः ॥

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

पदार्थ—(अथ) प्रारम्भ सूचक अव्यय (योगानुशा-
सनम्) योग सम्बन्धी शास्त्र ॥

भावार्थ—अब योग शास्त्र का आरम्भ करते हैं ।

व्यासदेवकृतभाष्यम् ।

अथेत्ययमधिकारार्थः योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं
वेदितव्यम् । योगः समाधिः सच सार्वभौमश्चित्तस्यधर्मः ।
क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रनिरुद्धमिति चित्तभूमयः । तत्र
विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे
वर्तते । यस्त्वैकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति प्रक्षिणोति
च ल्केशान् कर्मवन्धनानि श्लथयति निरोधमभिमुखं
करोति स सम्प्रज्ञातो योगइत्याख्यायते । सच वितर्कानु-
गतो विचारानुगत आनन्दानुगतोऽस्मितानुगतइत्युपरिष्ठात्
प्रवेदयिष्यामः । सर्ववृत्तिनिरोधेत्वसम्प्रज्ञातः समाधिः तस्य-
लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते ॥ १ ॥

भा० का पदार्थ—अथ यह शब्द अधिकार अर्थात् आरम्भ सूचक है, योग का अनुशासन अर्थात् योगशास्त्र का आरम्भ समझना चाहिये । योग समाधि को कहते हैं और वह समाधि सब अवस्थाओं में चित का एक गुण है । चित्त सूक्ष्म विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध यह चित्त की ५ अवस्था हैं । उनमें से विवितावस्थायुक्त चित्त में अनेक विषयों के विचार रूप बिघ्न से नष्ट भट्ट हुई विषयवि योग विषय में नहीं रहता है, एकाग्र चित्त में अर्थात् चित्त को एकाग्र अवस्था में सुस्पष्टार्यों को प्रकाश करता है और दुःखों को कर्म के पन्थनों को ढीला करता है, निरोध अर्थात् टूटने के अभिसृष्ट अर्थात् योग्य करता है वह सम्प्रज्ञात योग अर्थात् जिसमें समाधि के अतिरिक्त अन्य विषयों का भी मान हो कहा जाता है और वह चित्तकान्तुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत ४ प्रकार का है यह भागे इस ही पाद के २७ वें सूत्र में वर्णन करेंगे सब इतियों के निरोध अर्थात् चित्त को निरुद्धावस्था में तो असम्प्रज्ञात योग होता है उसका लक्षण कहने की इच्छा से अगला सूत्र बना है—

माप्य का भावार्थ—इस सूत्र में अथ शब्द आरम्भ का सूचक है योग-समाधि को कहते हैं और वह समाधि सब अवस्थाओं में प्राप्य चित्त का एक गुण है चित्त की ५

अवस्था हैं १-क्षिप्त २-मूढ़ ३-विक्षिप्त ४-एकाग्र ५-निरुद्ध जिस अवस्था में चित्त को वृत्तियाँ अनेक सांसारिक विषयों में गमन करती हैं उसको क्षिप्त कहते हैं, जिसमें चित्त मूर्ख-वत् हो जाय अर्थात् कृत्याकृत्य को भूल जाय उसे मूढ़ावस्था कहते हैं, विक्षिप्त उस अवस्था को कहते हैं जिसमें चित्त व्याकुल वा व्यग्र हो जाता है, एकाग्र अवस्था में वह है जिसमें चित्त विषयान्तरों से अपनी वृत्तियों को खींच कर किसी एक विषय में लगा देता है और निरुद्धावस्था वह है जिसमें चित्त की सब वृत्तियाँ चेष्टा रहित हो जाती हैं (इनमें से पूर्व ४ वृत्तियों में सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण का संसर्ग रहता है परन्तु पाँचवीं अवस्था में गुणों के संस्कार मात्र रहते हैं) इनमें से क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्तावस्थाओं में योग नहीं होता क्योंकि चित्त की वृत्तियाँ उन अवस्थाओं में सांसारिक विषयों में लगी रहती हैं और जो एकाग्र अवस्था में योग होता है उसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं वह ४ प्रकार का है जिनका प्रथम पाद के २७ सूत्र में वर्णन करेंगे, एवं निरुद्धावस्था में असंप्रज्ञात योग होता है उसके लक्षण दूसरे सूत्र में कहते हैं ॥१॥

भोजवृत्तिः—अनेन सूत्रेण शास्त्रस्य सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनान्याख्यायन्ते । अथ शब्दोऽधिकारद्योतको मङ्गलार्थकश्च । योगो युक्तिः समाधानम् । 'युज समाधौ' अनुशिष्यते व्याख्यायते लक्षण-भेदापाय फलैर्येन तदनुशासनम् । योगस्यानुशामन यागानुशास-

नम् । तदाशास्त्रपरिसमाप्तं रभिकुतं वोद्वम्बमित्यर्थः । तत्र शास्त्रस्य व्युत्पाद्यतया यागः ससाधनः सफलऽभिधेयः । तद्व्युत्पादनञ्च फलम् । व्युत्पत्तिस्तस्य यागस्य कैवस्य फलम् शास्त्राभिधेययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः । अभिधेयस्य यागस्य च तत् फलस्य च कैवस्यन साध्यसाधनभावः । पठदुक्तं भवति व्युत्पाद्यस्य योगस्य साधनानि शास्त्रेण प्रपश्यन्त तत्साधनसिद्धौ योगः कैवस्याव्यफलमुत्पादयति ॥ १ ॥ तत्र को योगः ? इत्याह—

भोजनमा० सूत्र में शास्त्र का सम्बन्ध, प्रतिष्ठा और प्रयोजन का वर्णन किया गया है अब शब्द अधिकार को प्रकाश करने और मंगल के वास्ते है, योग युक्त अर्थात् प्राणों के निरोध करने का कहते हैं 'युञ्ज समाधौ' इस वातु से भाव में प्रथम प्रत्यय करने से 'योग शब्द सिद्ध हुआ है । अमुखासम जैसे कहते हैं जिससे लक्ष्य मेव उपाय और फलों के द्वारा विधेय व्याख्या की जाय सारांश यह है कि इस शास्त्र में योग के लक्ष्यादि का वर्णन किया जायगा इस सूत्र का शास्त्र की समाप्ति पर्यन्त अधिकार सम्भूता आदिय । यह शास्त्र याग का प्रतिपादक है योग शास्त्र का प्रतिपाद्य हमें से सफल फल जाता है और योग का फल मोक्ष है, शास्त्र और योग का प्रतिपाद्यप्रतिपादक भाव सम्बन्ध है प्रथम योग और मोक्ष का साध्यसाधन भाव सम्बन्ध है । फलितार्थ यह हुआ कि योग क साधन इस शास्त्र में कहा जायेंगे फलका सिद्ध करने से अनुष्य को मोक्ष रूप फल प्राप्त होता है ? योग क्या पदार्थ है उसका वर्णन अगले सूत्र में करेंगे—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

सूत्र का पदार्थ—(योगः) जो युक्त करे उसे योग कहते हैं (चित्तवृत्तिनिरोधः) चित्त की वृत्तियों का रोकना ।

भावार्थ—चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं ।

व्य० भा० सर्वशब्दाग्रहणात् संप्रज्ञातोऽपि योगइत्याख्यायते चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणं प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टम् ऐश्वर्यविषयप्रियं भवति तदेव तभसानुविद्धम् अधर्माज्ञानवैराग्यानैश्वर्योपगं भवति तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठ सत्त्वं पुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेव ध्यानोपगं भवति तत्परः प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः । चित्तिशक्तिरपरिणाभिन्यप्रतिसंक्रमादशितविषया शुद्धा चानन्ता च सत्त्वगुणात्मिका चेयम् अतो विषरीता विवेकरूप्यातिरित्यतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि रूपातिं निरुणद्धि तदवस्थं संस्कारोपगं भवति स निर्विकल्पस्समाधिः नतत्र किञ्चित्संप्रज्ञायतइत्यसंप्रज्ञातः द्विविधः संयोगश्चित्तवृत्तिनिरोधइति तदवस्थे चेतसि विद्ययाभावादबुद्धिवोधात्मापुरुषः किं स्वभाव इति ॥ २ ॥

भाष्य का पदार्थ—सब बाह्यशब्दादि विषयों के ग्रहण न होने अर्थात् अभाव से सम्प्रज्ञात भी योग कहलाता है चित्त ही विषयविचार, विषय के साथ सम्बन्ध और विषय में स्थिति यह तीन स्वभावयुक्त होने से तीन प्रकार का है चित्त रजोगुण और तमोगुण से मिला हुआ अनेक द्रव्यादि

ऐश्वर्य्य को चाहता है वही चित्त रजोगुण के संयुक्त होने से अथर्व, अज्ञान, विषय में अनुरक्ति और दरिद्रता का चिन्तन करता है वही दूर हो गया है मोहरूपी ढक्कन जिसका चारों ओर से प्रकाशयुक्त केवल रजोगुण के अश्व से धर्म, ज्ञान, सांसारिक विषयों में विरक्ति और ईश्वरभाव के चिन्तन में प्रवृत्त होता है वही चित्त रजोगुण के लेश और पापादि मल से युक्त होता है, अपने रूप में स्थित धर्म हो का विचार करता है उसही को योगी लोग प्रधान प्रसरण्यन्त कहते हैं । ज्ञानशुक्ति जिसका नाश कभी न हो, जिसका प्रतिसंक्रम अर्थात् अवल्ल पदल्ल न हो, जिसके द्वारा विषय देखे जा सकते हों जो मलरहित हो और जिसका अन्त न हो वह सत्त्वगुण प्रधान है और इससे उत्पत्ती अवि वेक कहलाती है इसलिये उसमें उपरस हुआ चित्त उस विचार को भी रोक देता है उस अवस्था में स्थित चित्त केवल सस्कार का विचार करता है, वह सकम्प विकल्प रहित समाधि कहलाती है । जिसमें कुछ न जाना चाय वह असम्प्रज्ञात दो प्रकार का है ॥२॥

माय्य का भावार्थ—सम्प्रज्ञात योग में भी शब्दादि बाह्य विषयों का निरोध होता है इसलिये उसे भी योग कहते हैं, परन्तु याग शब्द का मुख्यार्थ असम्प्रज्ञात ही है । चित्त का दो प्रकार का स्वभाव है एक प्रख्या दूसरा प्रवृत्ति

तीसरा स्थिति अर्थात् दृष्ट वा श्रुत पदार्थों का विचार फिर विषयों के साथ सम्बन्ध पश्चात् विषयों में स्थिति । उपनिषद् में भी भी लिखा है कि “यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत् क्रियया करोति यत् क्रियया करोति तदभिसम्पद्यते” प्रख्या अर्थात् सत्व, रज, तम गुणों के संसर्ग से तीन प्रकार का है जब चित्त विषयविचार अधिक सत्वगुण से युक्त होता है तब केवल ईश्वर का चिन्तन करता है जब वही चित्त अधिक तमोगुणयुक्त होता है तब अधर्म, अज्ञान, विषयासक्ति का चिन्तन करता है और जब रजोगुण चित्त में अधिक हो जाता है, तब धर्म और वैराग्य का चिन्तन करता है इस अवस्था को योगी लोग “परं प्रसंख्यान” कहते हैं । जो ज्ञानशक्ति परिणाम से रहित और शुद्ध होती है वह सत्वगुण प्रधान है अर्थात् उस वृत्ति में तमोगुण और रजोगुण का अभाव हो जाता है परंतु जब चित्त इस वृत्ति से भी उपरत अर्थात् विरक्त हो जाता है तब इसको भी त्याग देता है और केवल सत्वगुण के संस्कार के आश्रय रहता है और उसी संस्कारशिष्ट दशा को निर्विकल्प समाधि वा असम्प्रज्ञात योग कहते हैं, असम्प्रज्ञात का अर्थ यह है कि जिसमें ध्येय (ध्यान करने योग्य ईश्वर) के अतिरिक्त और किसी विषय का भान न हो, योग दो प्रकार का है एक संप्रज्ञात दूसरा असंप्रज्ञात।

असम्प्रज्ञात योग में सब चित्त की सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब समस्त अर्थ और विचार्य विषयों के अभाव से जीव किसका विचार करता है और उस समय उसकी कैसी (स्वभाव) प्रकृति रहता है इस प्रश्न को चित्त में धारण करके तीसरे सूत्र में इसका उत्तर देते हैं ।

प्रश्न—यह सूत्र अत्यन्त संदेहजनक है, क्योंकि चित्त का सचस्य लिखे बिना ही उसकी वृत्तियों के निरोध का वयन करना किसी रीति से युक्त नहीं है ?

उत्तर—प्रत्येक शास्त्र में दो प्रकार के मन्त्र और सिद्धान्त होते हैं एक प्रतिषन्ध और दूसरा सर्वतन्त्र, यहाँ पर चित्त शब्द ऐसा है जो लोकप्रसिद्ध है अतएव उसका मिथ सचस्य लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है, हाँ जो अपने शास्त्रोपयोगिनी पितादिक संज्ञा हैं उनके सचस्य लिखने परमावश्यक है ।

अब यह विचारना भी आवश्यक है कि भगवान् पतंजलि ने शास्त्रारम्भ में योग का फल क्यों नहीं दिखाया ? क्योंकि बिना फल को जाने कदापि मनुष्यों की प्रवृत्ति नहीं होती !

इसका उत्तर यह है कि इस द्वितीय सूत्र में ही योग का फल लिख दिया है अमित्राय यह है कि बिना प्राप्ति के निरोध क चित्तवृत्तियों का निरोध सर्वथा असम्भव है

और जब श्वास के साथ वृत्तियों का निरोध होगा तो मनुष्य से पापाचरण भी नहीं हो सकता है, भगवान् मनु ने भी लिखा है ।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनांहि यथामलाः ।

तथा पुंसां प्रदह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

अर्थात् जैसे अग्नि में तपाने से धातुओं का मल नष्ट हो जाता है वैसे ही प्राणों के निरोध से मनुष्यों के पाप नाश हो जाते हैं ।

बुद्धिमानों ने समस्त प्राणियों के श्वास की संख्या आनुमानिक रीति से लिखी है जिसमें से मुख्य प्राणियों के श्वास की संख्या नीचे दिखाई जाती है ।

प्राणी	प्रति मिनट	आयु	वर्ष
शशक	३८	८	वर्ष
कबूतर	३६	८	"
वानर	३२	२१	"
कुत्ता	२६	१४	"
बकरा	२४	१३	"
विलार	२५	१३	"
घोड़ा	१६	५०	"
मनुष्य	१३	१००	"
हाथी	१२	१००	"

प्राप्ति	प्रति मिनट	आयु	वर्ष
सर्प	८	१२०	"
कलुभा	५	१५०	"

किन्तु यह श्वास संस्था स्वस्य प्राप्ति की है रोगी और दुर्घ्यसनी प्राप्ति के श्वास की संस्था का कोई प्रमाण नहीं है इसी से उनकी अवस्था का भी कोई प्रमाण नियत नहीं हो सकता है श्वास ही के आशय से प्राप्ति का बोध है उसी को निरोध करने से मनुष्य की आयु इनी त्रिगुनी चौरगुनी हो सकती है । महाराज मोक्ष ने योग का लक्ष्य यह सिखा है कि चित्तवृत्तियों को वासविषयों से हटाकर प्रतिलोम रीति से अन्तर्ज्ञान करना योग कहलाता है । भगवान् व्यास ने अपने माप्य में सब भूमियों का विवरण सिद्ध दिया है किन्तु पाठकगणों को केवल नाम से बोध नहीं हो सकता है इसलिए हम उन भूमियों का नाम और स्पष्टाय नीचे लिखे देते हैं ।

चित्त-जिस अवस्था में मनुष्य का चित्त ऐसा चञ्चल रहता है जैसे वायु से दीपक अर्थात् किसी विषय में स्थिर नहीं होता उसे चित्त अवस्था कहते हैं ।

विचित्त-अवस्था वह है जिसमें चित्त विषयों के सुख का अनुभव करता है अर्थात् जिस विषय की प्राप्ति के वास्तविक प्रथम चित्त चञ्चल था उसको पाकर चक्षुमात्र के लिये जो

चित्त को स्थिरता प्राप्त होती है उसही को विक्षिप्त अवस्था कहते हैं ।

मूढ़—जिस अवस्था में काम वा क्रोधादि के वश में होके मनुष्य अपने कर्तव्य को भूल जाता है उस तमो-गुणाधिका भूमि को मूढ़ कहते हैं, कालीवर वेदान्त वागीश ने निद्रा को इसही भूमिका में संयुक्त किया है परन्तु वह सर्वथा असंगत है क्योंकि निद्रा को प्रमाण आदि ५ वृत्तियों में भगवान् सूत्र कार स्वयम् आगे लिखेंगे, जान पड़ता है कि वेदान्त वागीश जी भूमिका और वृत्तियों के भेद को नहीं समझे हैं अन्यथा कभी निद्रा को मूढ़ न लिखते यदि निद्रा को मूढ़ भूमि के अन्तर्गत माने तो विपर्यय और विकल्प को एकाग्र के अन्तर्गत मानना पड़ेगा एवम् स्मृति का सर्वथा अभाव माना है अतएव कालीवर का लेख सर्वथा अममूलक है [भूमिका और वृत्ति के भेद को वृत्तिवर्णन में लिखेंगे]

एकाग्र—अवस्था वह है जिसमें चित्त किसी एक विषय में निश्चल जल वा निर्वात दीपक के समान स्थिर हो जाता है, अथवा जिस भूमिका में रजोगुण और तमो-गुण के भाव विनष्ट के समान हो जायें और सत्त्वगुण के भाव ही चित्त में सञ्चार करं उस भूमिका का नाम एकाग्र है यद्यपि रजोगुण आदि की ऐसी अवस्था को एकाग्र

कह सकते हैं परन्तु रजोगुण में स्वयम् स्थिर स्वभाव नहीं है अतएव तद्विशिष्ट भूमिका को एकाम नहीं कह सकते हैं ।

निरुद्ध—भूमिका वह है जिसमें चित्त निरावलम्ब हो के ईश्वर के चिन्तन में अर्थात् योगसमाधि में लय रहता है ।

मोक्षवृत्ति — चित्तस्य निर्मलसत्त्व परिणामरूपस्य या वृत्तयो ऽङ्गाङ्गिभावपरिणामरूपास्तासां निरोधा बहिर्मुखतया परिणति बिच्छेदाद्वर्तुर्मुखतया प्रतिशोभपरिणामेन स्वकारणे लया याग इत्यास्यायते । सप्त निरोधः सर्वासां चित्तभूमीनां सर्वप्राप्तिनां कर्मः कदाचित् करयाञ्चिद् भूमौ आबिर्भवति । तच्च चित्तं मूढं बिचिप्सं एकामनि । रुद्धमिति चित्तस्य भूमयः चित्तस्यावस्था बिक्षेपाः । तत्र चित्तं रजसद्वयकारिस्त्वरं बहिर्मुखतया सुखदुःखादिविवयेषु विकस्मिन्तेषु व्यबहितेषु सन्निहितेषु वा रजसा मेरितं तच्च सदैव वैत्यवामवाहीनाम् मूढं तमसं सद्वा कालं कृत्वाकृत्यधिभागमन्तरण कोपादिभिः विरुद्धकृत्येभ्यश्च नियमितम् तच्च सदैव रजः पिशाचादीनाम् । बिचिप्संतु सस्वोद्भूतस्यैशित्येन परिहृत्य दुःखसाधनं सुखसाधयेष्वेव शान्तादियु प्रवृत्तं तच्च सदैव वैशामात्म् । पतदुक्त भवति रजसा प्रवृत्तिरूपं तमसा परापकारनियतं सत्त्वेन सुखमयं चित्तं भवति । पठास्तिरुद्धिच्छावस्थाः समाधायमुपयोगिन्यः । एकामनिरुद्धरूपे द्वेष सत्त्वोन्कर्षात् यथाचरमवस्थितत्मात् समाधायुपयोगं भवेत् । सत्त्वादिक्लमप्युत्क्रमे तु अयमभिप्रायः द्वयारवि रजस्तमसारस्यगतेष्वेव ऽस्येवार्थं रजसः प्रथममुपाशयम् । यावन्न प्रवृत्तिर्वेशिता तावन्निवृत्तिर्मे शान्त्यतः वरीयिषुमिति द्वयोर्व्यस्ययेन प्रदर्शयम् । सत्त्वस्य तु पतदर्थं पञ्चाम प्रदर्शयं यत् तत्त्वोन्कर्षेणोत्तरे तु भूमी योगीपयोगिन्याविति । अमयोर्द्वयोरेकाप्रमिरुद्धयोभू

म्योर्यश्चित्तरयैकाग्रतारूपः परिणामः स योग इत्युक्तं भवति ।
एकाग्रे वहिर्वृत्तिनिरोधः । निरुद्धे च सर्वासा वृत्तीना संस्काराणां
च प्रविलय इत्यनयोरेव भूम्योर्योगस्य सम्भवः ॥ २ ॥

इदानीं सूत्रकारः चित्तवृत्तिनि रोधपदानि व्याख्यातुकामः प्रथमं
चित्तपदं व्याचष्टे—

भोज भा०—मल रहितः शुद्ध परिणामरूप चित्त की जो
वृत्ति अर्थात् अगाधि भाव की दूसरी दशा (परिणाम)† उनके
निरोध वहिर्मुखभाम सासारिक विषयों में लगी हुई) को रोक कर
अन्तर्मुखभाव में स्थिर करके उनके कारण अर्थात् चित्त ही में लय
कर देना योग कहाता है । यह चित्तवृत्तियों का निरोध सब
प्राणियों का एक स्वाभाविक गुण है और वह सब भूमियों में हो
सकता है, परन्तु किसी अवस्था में वह निरोध प्रकाशित हो जाता
है और किसी में छिपे रूप से रहता है ।

चित्त की पाँच भूमि हैं, १ क्षिप्त, २ विक्षिप्त, ३ मूढ, ४ एकाग्र,
५ निरुद्ध यह चित्त की विशेष अवस्था हैं । इनमें से जो अवस्था
रजोगुण की प्रधानता के कारण से सासारिक विषयों में चित्तको
फँसाये रखती है उसे क्षिप्त कहते हैं, यह भूमि दैत्य और दानवों
को सदा प्राप्त रपती है । मूढ वह कहाती है जो तमोगुण की
प्रधानता को धारण करके कर्तव्य और अकर्तव्य के विभाग को
भुला देती है तथा क्रोधादिकों के वश में डालकर चित्त को सदा
बुरे कर्मों में ही फँसाये रखती है यह भूमिका राक्षस और पिशाच

मलविक्षेपावरणरूपास्त्रयोदोषाश्चित्तचांचल्यकारिणस्तानवरु-
द्ध्यैव योगाचकीर्षा कार्येति सूचयन्नाह निर्मलसत्त्वपरिणामरूपस्-
येति ।

† यत्रैकादशागिनो तत्रान्यावयरूपत्वेनोपचरन्ति ।

लोगों को प्राप्त रहती है। विविधाबस्था यह है जिसमें सत्त्वगुण की अधिकता से विशेष रूप से दुःख के साधनों को दूर करके सुख के साधन राश्याधिकों ही में आ लगाये रह उसे विविध भूमि कहते हैं। फलितार्थ यह हुआ कि रजोगुण से सांसारिक विषयों में चित्त की प्रवृत्ति होती है। तमोगुण से दूसरों के अपकार करने में और सत्त्वगुण से सुखमय चित्त होता है। यह तीनों अवस्था समाधि में सहायक नहीं होती हैं। पञ्चम और निरुद्ध यह दोनों अवस्था निष्कल और अविमल होने के कारण सं याग में सहायक होती हैं। रजोगुण और सत्त्वगुण तथा इनकी अवस्थाओं को त्यागना चाहिये (अथवा रजोगुण के काय सुख रूप ज्ञान पड़ते हैं और तमोगुण के कार्य हरिभय रूप ज्ञान से दुःखः रूप ज्ञान आते हैं) इस हेतु से रजोगुण को प्रयत्न विना है। प्रवृत्ति के बिना विना आप निवृत्ति नहीं हो सकती है इसलिये उसकी प्रवृत्ति की शासन कर ने दिखलाया है किन्तु योग की अत्यन्त सहायक होने के कारण सत्त्वगुण की प्रवृत्ति दिखलानी तो बहुत ही आवश्यक भी। और निरुद्धावस्थाओं में आ चित्त का एकामता रूपी परिणाम होता है उसे ही योग कहते हैं क्योंकि चित्तके एकाम ज्ञान ही से बाहर की वृत्ति रुक जाती है एवम् वृत्तियों के सुक्ल से सब वृत्ति और संसकारों का सह हो जाता है इसमें निरुद्ध और एकाम भूमि ही योग हो सकता है ॥१॥

तदाद्रष्टु स्वरूपे ऽवस्थासु ॥ ३ ॥

सू० का पदार्थ—(तदा) उस समय (द्रष्टुः) देखने वाला की निर्विकल्प समाधिस्थ जीव की (स्वरूपे) आत्म चिन्तन में (अवस्थानम्) अवस्थित ॥

सू० का भावार्थ—जब चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब समाधिस्थ होकर जीवात्मा केवल अपने रूप को ही देखता है और उस ही का विचार करता है । यह दशा निर्विकल्प समाधि में होती है)

भाष्यम्—स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैल्ये व्युत्थानचित्ते तु सति तथापि भवन्ति न तथा कथं तर्हि दर्शित विषयत्वात् ॥ ३ ॥

भा० का पदार्थ—अपने स्वरूप में स्थित वा अपने स्वरूप का विचार तब ज्ञान शक्ति जैसे कैवल्य मुक्ति में उत्थान सहित चित्त होने पर भी तौ भी होते हैं तैसे नहीं तो फिर कैसे देखे हुये विषयों के कारण से ॥

भाष्य का भावार्थ—जब असम्प्रज्ञात योग में चित्त की स्थिति हो जाती है तब जीव केवल अपने स्वरूप का विचार और दर्शन करता है जैसे कैवल्य * मोक्ष में ज्ञान शक्ति रहती है ऐसे निर्विकल्प समाधि में भी वह ज्ञान शक्ति रहती है उस शक्ति का साफल्य तभी होता है जब किसी ज्ञेय पदार्थ से सम्बन्ध हो तब उस निर्विकल्प समाधि में ज्ञेय विषय क्या है ? इसका उत्तर यही है कि उस असम्प्रज्ञात योग में केवल अपना स्वरूप ही ज्ञेय है क्योंकि जब तक द्रष्टा बाह्य विषयों को देखता

है जब तक वह अपने स्वरूप को नहीं जान सकता ॥ ३ ॥

मो० पू०—द्रष्टु पुरुषस्य तस्मिन्काले स्वल्प भिन्नात्रता
वामवस्थान स्थितिर्भवति । प्रथमर्थः स्वल्पविवेकस्याते संक्रमा
भावात् क्व स्वाभिमाननिवृत्तौ प्रामुक्त परिणामार्थो बुद्धौ च
आत्मनः स्वरूपेणावस्थानं स्थितिर्भवति व्युत्पन्नपराधान्तु तस्य
किं रूपम् १ ॥ ३ ॥ इत्याह ।

भा०—जब सूत्रकार चित्त की वृत्तियों के विवरण का विवरण
की दृष्टि से प्रथम चित्त का विवरण लिखते हैं ।

द्रष्टा अर्थात् पुरुष का उस समय में स्वरूप अर्थात् भिन्नात्रता
में अवस्थान अवान् स्थिति होती है फलितार्थ यह है कि जब
कि ज्ञान स्वल्प होता है तब चित्त चञ्चलता रहित होकर क्व रूप के
अभिमान का त्याग देता है । अभिमान के निवृत्त होने पर चञ्चल
ता रहित बुद्धि में जीम की स्थिति होती है ॥ १ ॥

वृत्तिसारूप्यमित रत्र ॥ ४ ॥

पू० का पदार्थ—(वृत्तिसारूप्यम्) वृत्तियों से अमेद
(इतरत्र) और अवस्थानों में ॥ ४ ॥

पू० का भाषा०—निरुद्धावस्था के अतिरिक्त और
दशाओं में चित्त वृत्ति के रूप को धारण कर लेती है ॥

व्या० भा०—व्युत्पन्ने या चित्तवृत्तयः तदविशिष्ट
वृत्तिः पुरुषः तथाच ऊत्रम् एकमेवदर्शनं स्यातिरेव दर्शन
मिति चित्तमयस्कान्त मयिकस्यसमिधिमात्रोप कारि स्वय
त्वेन स्वम्भवति पुरुषस्यस्वामिनः तस्माच्चित्तवृत्तयोपे पुरु-

पस्यानादि सम्बन्धो हेतुः ॥ ४ ॥ ताः पुनर्निरोद्धव्य बहुत्वे
सति चित्तस्य

विशेष—(प्र०) इस सूत्र और भाष्य में यह शंका
होती है कि द्रष्टा अपने स्वरूप को आप ही नहीं देख
सकता जैसे नेत्र अन्य पदार्थों को देख सकते हैं अपने
रूप को नहीं इस ही प्रकार से जीवात्मा भी अपने स्वरूप
को देखने में असमर्थ है ॥ ४ ॥

(उ०) यह ठीक है परन्तु देखने में नेत्र परतंत्र हैं
क्योंकि नेत्र द्वारा सब पदार्थों का द्रष्टा जीव है बस जीवा-
त्मा में दो प्रकार की दर्शन शक्ति होती है एक स्थूल दूसरी
सूक्ष्म । सूक्ष्मदृष्टि को ही दिव्य दृष्टि भी कहते हैं । जीवात्मा
दर्शन में अत्यन्त सहायक नेत्र से पदार्थान्तरों को देखता
है और दिव्य दृष्टि अर्थात् सूक्ष्म दृष्टि से सूक्ष्म परमाणु
आदि पदार्थ तथा अपने रूप को भी देखता है क्योंकि
परमेश्वर भी स्थूल दृष्टि का अदृश्य और कठवल्ली उप-
निषद में बहुत स्थलों पर लिखा है कि “तस्य योनिं
परिपश्यन्ति धीराः” अर्थात् उस परमेश्वर को धीर लोग
देखते हैं इससे सिद्ध हुआ कि सूक्ष्म दृष्टि से सूक्ष्म पदार्थ
और स्थूल दृष्टि से स्थूल पदार्थ देखे जाते हैं और जो नेत्र का
दृष्टान्त है वह ठीक नहीं क्योंकि दर्पण में नेत्र अपने स्वरूप
को आप देख सकता है बस ऐसे योग के आश्रय से

जीवात्मा भी अपने स्वरूप को देख सकता है इसमें कोई आपत्ति नहीं ॥ ४ ॥

मा० का० प०—चित्त की अप्रकृतता में जो चित्त की वृत्ति है उनसे भिन्न जीवात्मा है ऐसा ही सूत्र में लिखा है एक जीवात्मा ही देखने का साधन विचार ही देखना है चित्त स्फटिकमणि के समान है समीप में स्थित दृश्य पदार्थों के समान भाव भी हो जाता है जीवात्मा का इसलिये चित्त की वृत्तियों के ज्ञान में आत्मा का सदा का ससर्ग कारण है ॥४॥ वे चित्त की वृत्तियाँ रोकने योग्य है चित्त की अनेक वृत्ति होने से ।

मा० का मावार्थ—चित्त की अप्रकृतता से जो अनेक वृत्तियाँ उठती हैं उन सबसे आत्मा पृथक् रहता है और भी में सुखी या दुःखी हैं ऐसे कथन से आत्मा में वृत्तियों का सम्बन्ध मान होता है वह असम्बन्ध है जैसे स्फटिक पत्थर अपने समीप में रखे पदार्थ के समान रंगवासा हीसने लगता है वस्तुतः उस स्फटिक में कोई भी रंग नहीं रहता है ऐसे ही आत्मा भी शुद्ध है परन्तु वृत्तियों के स्वस्वामीभाव सम्बन्ध से आत्मा में सुख दुःखादि प्रतीत होते हैं । चित्त वृत्तियों के द्वारा जो ज्ञान होता है उसमें ज्ञान स्वरूप आत्मा का अनादि सम्बन्ध ही कारण है मनुष्य को उचित है कि चित्त की वृत्तियों को रोके क्योंकि चित्त की अनेक वृत्ति रहने

से सूत्र में लिखी वृत्तियाँ दुःखदायिनी होती हैं ।

विशेषार्थ—भगवान् पतञ्जलि ने तीसरे सूत्र में कहा कि सम्प्रज्ञात योग में जीव केवल अपने स्वरूप को देखता है परन्तु इसमें शङ्का होती है कि इस निरुद्धावस्था में योगी की दशा और मनुष्यों के समान रहती है वा कुछ विलक्षण हो जाती है (उ०) वृत्तिसारूप्यमितरत्र “इतरस्यां वृत्तौ” अन्य अवस्थाओं में अर्थात् निरुद्धावस्था के अतिरिक्त योगी की दशा अन्य मनुष्यों की वृत्ति से कुछ विलक्षण ही हो जाती है ॥ ४ ॥

दूसरा अर्थ—निरुद्धावस्था के अतिरिक्त क्षिप्तादि अवस्थाओं में जीवात्मा दृश्य पदार्थ के रूप को धारण कर लेता है अर्थात् जब जीवात्मा किसी वस्तु के जानने की इच्छा करता है तब नेत्रादि इन्द्रिय द्वारा जीव की वृत्ति बाहर निकल कर दृश्य वस्तु के रूप में परिणत हो (बदल) जाती है और फिर वह पदार्थ के रूप में परिणत हुई वृत्ति जिस इन्द्रिय द्वारा बाहर आयी थी उस ही मार्ग द्वारा अन्तःकरण में प्रवेश कर जाती है, पश्चात् जीव और उस वृत्ति के योग होने से जीव को ज्ञेय पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होता है वृत्ति और वृत्तिमान् का समवाय सम्बन्ध होने से जीव ही वृत्तिरूप कहा जाता है । इस अर्थ में पूर्वसूत्र से ‘द्रष्टुः’ पद की अनुवृत्ति आती है । कोई २ आचार्य पूर्व-

अत्र स्थित पण्ड्यन्त 'द्रष्टु' शब्द से सर्वदृष्टा परमेश्वर को ग्रहण करते हैं स्वरूप शब्द को योगस्त्री मान कर यह अर्थ करते हैं कि 'अप्यस्य जीव निरुद्धावस्था में स्थित होता है तब परमेश्वर के रूप में स्थिति को प्राप्त करता है' और कर्म पण्डित 'द्रष्टु' शब्द की उत्तरार्द्ध में अनुवृत्ति समझ कर तदाप्य जीव को मानते हैं ॥ ४ ॥

भा० पु०—इतरत्र योगादन्यस्मिन् काले वृत्तयो या बहवमा-
खलव्यास्तामिः सारूप्यं सद्रूपं पश्यन् । अयमर्थः यादृश्यो वृत्तयो
दुःखमोदसुखाद्यात्मिकाः प्रादुर्भवन्ति तादृगरूप एव संवद्यत
म्यबहवैरिति पुरुषः । तदेवं यस्मिन्नेकप्रतया परित्यक्त विविक्त
स्वमिन् रूपे प्रतिष्ठितो भवति । यस्मिन्नेन्द्रियवृत्तिद्वारेण विषया
कारेण परित्यक्त पुरुषः स्तथाकार एव परिभाष्यते यथा अक्षरं पु-
नरास्तु चन्द्रमसमिष प्रतिभासत तद्वन्तम वृत्तिपद व्याख्यातु-
माह ॥४॥

अनुष्ठान द्वारा में जीव का कैसा रूप रहता है उसका अगले सूत्र में वर्णन करते हैं ।

भा०—अग्यत्र अयान् योग करने के काल से निम्न समय में आ
वृत्ति आगे बढ़ी साधेगी उनके रूप के समानही रहता है कसिठाव
यह है कि जैसी सुख दुःख वा मोह रूपी वृत्ति उत्पन्न होती है
वैसी ही पुरुष की भी प्रतीत होती है इससे चित्त प्रकार अवस्था
का धारण करता है तब ज्ञानराशि में उसकी स्थिति होती है
और अब इन्द्रियों के द्वारा विषय वृत्तियों को धारण करता है
तब चित्त विषयाकार ही जान पड़ता है वैसे चलती हुई सत की
तरङ्गों में चन्द्रमा भी चलता हुआ जान पड़ता है ॥ ४ ॥

वृत्तयः पञ्चतयः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ५ ॥ ❀

पदार्थ—(वृत्तयः) वृत्तियां चित्त के परिणाम विशेष
(पञ्चतयः) पांचों (क्लिष्टाः) दुखित हों मनुष्य जिनसे वे
क्लिष्ट कहलाते हैं (अक्लिष्टाः) सुखी हों मनुष्य जिन
से ॥ ५ ॥

भावार्थ—(अगले सूत्र में लिखी हुई ५ वृत्तियाँ)
दुःख और सुख को देने वाली होती हैं ॥ ५ ॥

व्यासदेवकृत भाष्य—क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचये
क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः । ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधि-
न्योऽक्लिष्टाः क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः क्लिष्टछिद्रेष्व-
प्यक्लिष्टा भवन्ति अक्लिष्टछिद्रेषु क्लिष्टा इति । तथा
जातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते । संस्कारैश्च वृत्तयः
इति । एवं वृत्ति संस्कारचक्रं मनिशमावर्तते । तदेवंभूतं
चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं च गच्छ-
तीति ताः क्लिष्टश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तयः ॥ ५ ॥

पदार्थ—क्लेश अर्थात् दुःख का कारण कर्म अर्थात्
विहित और निषिद्ध चेष्टाजन्य प्रारब्धादि शब्दवाच्य का
जो आशय अर्थात् फल उसके प्रचय अर्थात् उत्पत्ति में
खेत के समान ख्याति अर्थात् आत्मख्याति वा आत्म-

❀ वि० ताश्च क्लिष्टाक्लिष्टभेदाभ्यां द्विधा प्रमाणादिभेदैश्च पञ्चधा ।

विचार सत् रत्न सम गुणों के अधिकार की विरोधिता
 अर्थात् उनसे रहित अविस्तृत कहलाती है दुःख प्रवाह में
 पतित अर्थात् प्राप्त हुई भी अविस्तृत वृत्तियाँ होती हैं सुख
 प्रद कर्म से दुःखप्रद होती हैं उन वृत्तियों के समान
 संस्कार अर्थात् विस्तृत से क्लेश और अविस्तृत से सुखप्रद
 संस्कार वृत्तियों के द्वारा होते हैं और संस्कारों से वृत्तियाँ
 उत्पन्न होती हैं इस प्रकार से वृत्ति और संस्कारों का चक्र
 रात दिन चसता रहता है । वह ऐसा चित्त अर्थात् विस्तृत
 और अविस्तृत वृत्ति तथा संस्कारों में प्रसृत चित्त अस्त हो
 गये हैं अधिकार जिसके अपने स्वरूप से स्थिर रहता है
 अथवा क्षय हो जाता है । विस्तृत और अविस्तृत दोनों
 प्रकार की वृत्तियाँ ५ प्रकार की हैं ॥ ५ ॥

भाषा—विस्तृत का अर्थ यह है कि क्लेश अर्थात्
 आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों का
 हेतु अथवा जिस वृत्ति में सञ्चित क्रियमाण और प्रारब्ध
 रूप कर्मफल उत्पन्न होते हैं उसे विस्तृत वृत्ति कहते हैं और
 जिसमें केवल आत्मरूपाति अर्थात् सांसारिक विषयों से
 विरक्ति पूर्वक ईश्वर का विचार होता है अथवा जो वृत्ति

जो यदि मनुष्य को केवल सुख ही सुख रहे और कभी दुःख
 न हो तो वह उस सुख के स्वाह को नहीं जान सकता इसलिये
 यह संकल्प भी उत्तम है ।

गुणाधिकार अर्थात् सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण के संसर्ग रहित हो वह अक्लिष्ट कहाती है यद्वा जो वृत्ति दुःख प्रवाह के वेग को रोक करके प्रकट होती है उसे क्लिष्ट कहते हैं अथवा जो दुःखस्थल से उत्पन्न हो वह क्लिष्ट और सुखस्थल में उत्पन्न हो वह अक्लिष्ट जो जैसी वृत्ति होती है उससे वैसा ही संस्कार उत्पन्न होता है और पुनः वह संस्कार उसी वृत्ति को उत्पन्न करता है इस प्रकार से यह वृत्तिसंस्कारचक्र रातदिन चलता है और चित्त भी इसी ही चक्र के अनुसार चंचल रहता है । यदि विवेक वैराग्यादि अक्लिष्ट वृत्ति और संस्कार में चित्त स्थित हो जाता है तो अत्यानन्द मोक्ष सुख को प्राप्त होता है और यदि काम क्रोध लोभ मोहादि क्लिष्ट वृत्तियों को ग्रहण कर लेता है तो महादुःख स्वरूप प्रलय को प्राप्त हो जाता है ।

विशेष—यदि कोई प्रश्न करे कि दृश्य पदार्थ असंख्य हैं उनके योग से चित्त में वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं तो वृत्तियाँ भी असंख्य होनी चाहियें फिर सूत्रकार ने दो वा ५ वृत्ति कैसे लिखी हैं तो इसका यह उत्तर है कि वृत्ति तो असंख्य ही हैं परन्तु उनके भेद ५ हैं जिस प्रकार प्राचीन आर्यावर्त निवासी करोड़ों मनुष्य हैं परन्तु उनके मुख्य ४ भेद हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ।

भो० वृ०—वृत्तियश्चित्तस्य परिणामविशेषः । वृत्तिसमुदाय

लक्ष्यस्य अभयविनो या अभयभूता वृत्तयस्तदपेक्षया तदप्रस्यः ।
 यत्तदुक्तं मयति पञ्चवृत्तयाः कीदृशयः ? विज्ञप्ताः अविज्ञप्ताः क्लेश-
 रोर्बन्धमाश्रयसंयोरप्यन्ताविज्ञप्ताः तद्विपरीताअविज्ञप्ताः । ॥ ५ ॥
 एतापच पञ्च-वृत्तयाः संक्षिप्य अदिरयन्त ।

भा०—वृत्ति चित्त के विशेष परिणाम हैं सामान्य लक्ष्य
 युक्त वृत्ति अभयवी और अन्य विशेष लक्ष्य वाली वृत्ति अभयव
 हैं इस बात को सतझाने के वास्तु तैयार किया गया है ॥ यह वृत्ति
 कैसी हैं ? आगे लिखे लक्ष्य युक्त क्लेशों के सहित विज्ञप्त और
 उनसे विपरीत अविज्ञप्त ॥ ५ ॥

इसी ५ वृत्तियों का विशेष वर्णन आगे लिखते हैं ।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

सूत्र का पदार्थ—[प्रमाण] यथार्थ ज्ञान का साधन,
 मिथ्याज्ञान, ज्ञेयशून्य चित्तका कल्पित नाम हो परन्तु
 वस्तु कुछ न हो जैसे 'सपुष्पम्' नरभृंग [निद्रा] सोना
 (स्मृतिः) पूर्वभूत वा श्रुत पदार्थ का स्मरण करना ।

भाषा—पूरा सूत्र में कही हुई ५ वृत्तियों के यह
 नाम हैं, १ प्रमाण = विपर्यय वृत्ति, २ विकल्प वृत्ति ३
 निद्रा वृत्ति ४ स्मृति वृत्ति ॥

॥ सक्याभयवपुतयविस्पनुशासनेन तदपविहितोर्बस्त्रमेव
 बन्धमाश्रयलक्षणाः पञ्चैववृत्तयोऽप्यवा यासाम्ताः पञ्चतय्यः वस्तु
 तस्त्वासो वृत्तिमेव विज्ञप्ताविज्ञप्तमेवान् केचित्केचित्स्यादृष्टेर्विध्य
 मामनन्ति ।

महर्षिं व्यासदेव ने इस सूत्र को सरल समझ कुछ भाष्य नहीं किया ।

भो० बृ०—आसौ क्रमेण वक्ष्यमाणमाह ॥ ६ ॥

क्रमसे इनका लक्षण कहते हैं ॥ ६ ॥

तत्रप्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥७॥

सू० पदार्थ—तत्र पाँच वृत्तियों में प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रत्यक्ष अनुमान और आगम (प्रमाणानि प्रमाण वृत्ति कहलाते हैं ॥ ७ ॥

सू० भावार्थ—पूर्वोक्त पाँच वृत्तियों में से प्रमाण वृत्ति ३ प्रकार की हैं १ प्रत्यक्ष—२ अनुमान—३ आगम ॥ ७ ॥

व्या० कृ० भा० इन्द्रिय प्रणालिकया चित्तस्य बाह्य वस्तूपरागात् तद्विषया सामान्य विशेषात्मनोर्थस्य विशेषा वधारणप्रधानावृत्तिः प्रत्यक्ष प्रमाणं फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चिद्वृत्ति बोधः बुद्धेः प्रति संवेदिपुरुष इत्युपरिष्ठादुपपादयिष्याम अनुमे यस्य तुल्य जातीय ये ष्वनवृत्तो भिन्नजाती येभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धयस्तद्विषया सामान्यवधारण प्रधाना वृत्तिरनुमानम् । यथा देशान्तर प्राप्त गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्र-चत् विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः आप्तेन दृष्टोऽनुमितोवार्थः परत्र स्वाबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थ विषया वृत्तिः श्रोतुरागमः यस्या श्रद्धेयार्थो वक्तान द्रष्टा-

तुमितार्थः स आगमः प्लवते मूलवत्करितुष्टानुत्तार्थो
निविष्टवस्यात् ॥ ७ ॥

पदार्थ—ज्ञान इन्द्रियों के मार्ग से प्राप्त अर्थात् सांसारिक पदार्थों की प्रीति से उसके लिए सामान्य अथवा विशेष पदार्थ और जिस के सम्बन्ध को अच्छी प्रकार से जो निश्चयात्मक निर्णय करना है वह मुख्य वृत्ति प्रत्यक्ष कहलाती है जिस वस्तु का अनुमान किया जाता है उसे अनुमेय कहते उस अनुमेय को एक जातिवाले पदार्थों में युक्त करने वांछा भिन्न जातिवाले पदार्थों से पृथक् करने वांछा जो सम्बन्ध है उस सम्बन्ध का जिस वृत्ति के द्वारा सामान्य रीति से विचार किया जाय उसे अनुमान प्रमाय कहते हैं । जैसे देशान्तर अर्थात् एक स्थल में दूसरे स्थल में चले जाने के कारण चन्द्रमा तथा समस्त तारादि लोक चलने वाले हैं चैत्र नामक पुरुष के समान बिष्णु नामक पर्वत की अन्य देशों में अप्राप्ति है इस लिए वह गमन किया रहित है । आस अर्थात् सत्य वक्ता धर्म तत्त्ववेत्ता और सत्योपदेष्टा पुरुष ने जिस विषय को देखा वा जिसका अनुमान किया है दूसरे मनुष्य में निज ज्ञान के प्रदान के लिए शब्द द्वारा जो उपदेश किया जाता है वह आगम वृत्ति कहलाती है ॥ ७ ॥

मासार्थ पूर्व सूत्र में कही हुई प्रमाय वृत्ति ३ प्रकार

की है, १ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ आगम जिसमें इन्द्रिय द्वारा चित्त की वृत्ति बाहर निकल कर बाह्य वस्तुओं से संयोग करके आत्मा को उस पदार्थ का ज्ञान कराती है उसका नाम प्रत्यक्ष प्रमाण है अनुमेय (जिसका अनुमान किया जाता है) पदार्थ को समान गति वालों ने मिलने वाले और भिन्न जातीय पदार्थों से घृथक् करने वाले सम्बन्ध की प्रकाश करने वाली प्रधान वृत्ति को अनुमान करते हैं, चन्द्र और तारा आदि चलते हैं । क्योंकि एक स्थल से दूसरे स्थल पर जाना बिना चलने के सिद्ध नहीं हो सकता इससे चैत्र नाम पुरुष के समान सूर्यादि सब लोक चलते हैं एवं विन्ध्याचल गति शून्य है क्यों सदा एक ही स्थल में रहता है, आप्त अर्थात् धर्माधर्म तथा सत्य के विवेक सज्जन महर्षि जो अच्छी प्रकार से देखकर वा अनुमान करके परोपकार के निमित्त उपदेश करते हैं उसका नाम आगम प्रमाण है ॥ ७ ॥

७ सूत्रस्थ प्रमाण वृत्ति के यद्यपि अन्य शास्त्रकारों ने ८ । ४ वा ५ भेद माने हैं परन्तु वह सब इन ३ ही के अन्तर्गत हो जाते हैं उपमान का प्रथम भाग शब्द में अन्तर्भूत हो जाता है और शेष भाग अनुमान प्रमाण से चरितार्थ होता है परन्तु उपनाम का शेष भाग स्थिति के अन्तर्गत होने योग्य है क्योंकि उपमान वास्तव में कोई

प्रमाण नहीं है इस ही रीति से अर्थापत्ति आदि प्रमाण भी इन्हीं के अन्तर्गत हो जाते हैं, अन्य शास्त्रों ने प्रत्यक्षादिकों के लक्षण विस्तार पूर्वक लिखे हैं और वह लक्षण योगाभ्यास में कुछ भी उपयोगी नहीं हैं अतएव उनको इस शास्त्र में लिखा व्यर्थ समझ कर भगवान् पतञ्जलि ने केवल भेद ही लिख दिये हैं प्रमाण के यद्यपि बहुत से लक्षण हो सकते हैं परन्तु सामान्य रीति से यह लक्षण अग्राह्य मान पड़ता है कि सामान्यतोयप्रतिपत्तौ हेतुनो विशेषावधारणप्रमाणम्” यदा “अविसम्बादिज्ञान प्रमाणम्” इस वर्णन से प्रमेय और प्रमाता की त्रिपुटी को भी समझ लेना चाहिये ॥७॥

मी० बृ०—अत्र अतिप्रसिद्धत्वात् प्रमायानां शास्त्रकारेण भेद लक्षणेनैव गतत्वात् लक्षणस्य पूर्णत्वं लक्ष्यं न कृतम् । प्रमाणलक्षणं ननु अविसंवादिज्ञानं प्रमाणमिति इन्द्रियद्वारेण बाह्यवस्तुपरागा-
चितस्य तद्विषयसामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणम-
ध्यानावृत्तिः प्रत्यक्षम् गृहीतसम्बन्धात् किंवात् किंकिरिनि सामान्य-
व्यवसायोऽनुमात्मम् । आत्मवचनम्भागम् ॥ ७ ॥ एवं प्रमाण-
रूपा वृत्तिरव्याख्याय विषयरूपमाह ।

सा०—प्रमाण अस्यन्त प्रसिद्ध हैं तथा शब्द शास्त्र की रीति से व्युत्पत्ति द्वारा ही उनके लक्षण सिद्ध होते हैं अतएव उनके भिन्न लक्षण नहीं लिखे । प्रमाण का लक्षण वा इतना ही ठीक है कि जो कि संवाद अर्थात् विवाद रहित हो वह प्रमाण कहा जाता है (१)

(१) प्रमात्रस्य ज्ञानप्रमाणम् प्रमात्र अवाचितार्थवगादी-
याधः आत्मेन्द्रियवार्गव्यां दुस्पद्यमानम् परिणामिज्ञानं प्रत्यक्षम् ।

“ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थों के ग्रहण से चित्त को सामान्य ज्ञान के पश्चात् जो विशेष ज्ञान प्राप्त करने की प्रधान वृत्ति है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं, जिस अङ्ग के प्रत्यक्ष होने से अङ्गों का जो विशेष निश्चय किया जाता है उसे अनुमान कहते हैं, आप्त के वचन को आगम प्रमाण कहते हैं ॥ ७ ॥

इस प्रकार से प्रमाण वृत्ति से नेदों को कह कर अगले सूत्र में विपर्यय वृत्ति का वर्णन करते हैं ॥ ७ ॥

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

पदार्थ—(विपर्ययः) “जो पदार्थ के सत्यरूप को छिपा दे उसे विपर्यय कहते हैं (मिथ्याज्ञानम्) झूठा ज्ञान (अतद्रूपप्रतिष्ठम्) जिसके द्वारा पदार्थ अपने पारमार्थिक रूप से भिन्नरूप में भान हो ॥ ८ ॥

भावार्थ—मिथ्याज्ञान अर्थात् जिससे पदार्थ का पारमार्थिक रूप न भान हो उसे विपर्ययवृत्ति कहते हैं ॥ ८ ॥

विशेष—अनुमान में ४ पदार्थ आवश्यक होते हैं पक्ष, + साध्य हेतु और उदाहरण । जो विश्वनाथ भट्टाचार्य ने अपने सिद्धान्त मुक्त वल्यादि ग्रन्थों में पञ्चावयव वाक्य को अनुमान माना है वह केवल हठ मात्र है क्योंकि हेतु से पृथक् कोई पदार्थ व्याप्त नहीं हो सकती ॥

व्या० भा०—सकस्मान्नप्रमाणम् यतः प्रमाणेन सिद्धं बाध्यते । भूतार्थविषयत्वात् प्रमाणस्य तत्र प्रमाणेन बाधनमप्रमाणस्यदृष्टम् तद्यथा—द्विचन्द्रदर्शनेन सद्विषये-
शेकचन्द्रदर्शनेन बाध्यते से यं पञ्चपर्व भवत्यविद्या—

अविद्यास्मित राग द्वेषामिनिवेशाः क्लेशा इति । एतएव
स्वप्नमिस्तमो मोहो महामोहस्तामि सौन्धता मिम इति ।
एते चित्तमसु प्रसंगिनामिषास्यन्ते ॥ ८ ॥

पदार्थ—यह किस कारण से प्रमाण नहीं है प्रमाण से छिड़ित
हो जाता है प्रमाण के मूर्तार्थ विषयक ज्ञान से कुछ तीनों प्रमाणों
में प्रमाण द्वारा खंडित होना अप्रमाण का देखा गया है । जैसे दो
अग्रमात्रों का देखना एक अग्रमा के देखन से छिड़ित हो जाता
है वही विपर्यय पाँचमेदवासी अविद्या है) पाँच भेद यह हैं
अविद्या अस्मिता, राग द्वेष और अमि निवेश । वही अविद्या
के पाँच भेद अपन नामों के अनुसार तम मोह, महामोह तामिस्र
और अन्धतामिस्र कहलाते हैं । ये चित्त के मसु बर्णन के प्रसंग
में कहे जायेंगे ।

भा० का मा०—यह विपर्यय ज्ञान प्रमाण नहीं है क्योंकि
प्रमाण से छिड़ित हो जाता है प्रमाण से अप्रमाण का खण्डन
हो जाना अन्यत्र भी देखा गया है जैसे दो अग्रमा का दर्शन
प्रत्यक्ष एक अग्रमा के दर्शन से खण्डित होता है इस विपर्यय को
ही अविद्या कहते हैं और इस के पाँच भेद हैं अविद्या, अस्मिता
राग, द्वेष और अमिनिवेश इन्हीं पाँचों के दूसरे नाम तम, मोह,
महामोह, तामिस्र अन्धता है इनका विशेष बर्णन चित्तमसु के
प्रसंग में किया जाएगा ॥ ८ ॥

प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञानेन्द्रियों के भेद से ५ का है १ बाह्य प्रत्यक्ष
२ आन्तरिक प्रत्यक्ष ३ रासन ४ प्राणज ५ और स्वयं प्र ।

८ सूत्र वि०—योग में चित्त वृत्तियों का निराप ही मुख्य है
अतएव कम से कम बर्णन करना ही आवश्यक है, प्रथम प्रमाण
वृत्ति का बर्णन करके अब विपर्यय का लक्षण कहते हैं विपर्यय का

सामान्य लक्षण यह है “अपवाभूतेऽर्थे तथोत्पद्यामानं विपर्ययः”
जैसे सीप में चाँदी का ज्ञान वा जीव में ब्रह्म ज्ञान, यह वृत्ति
प्रमाण नहीं है क्योंकि प्रमाण से इसका खण्डन हो जाता है ॥८॥

भो० वृ० अतथाभूतेऽर्थे तथोत्पद्यमानं ज्ञानं विपर्ययः । यथा
शुक्तिकायां रजतज्ञानम् । अतद्रूपप्रतिष्ठितमिति । तस्यार्थस्यद्रूपं
तस्मिन् रूपे न प्रतिष्ठति तस्या र्थस्य यत् पारमार्थिकं रूपं न तत्
शक्तिभासयतीत्यावत् संशयेष्यतद्रूपप्रतिष्ठित्वाग्निमध्याज्ञानं यथास्था
णर्वा पुरुषो वा ? इति ॥ ८ ॥ विकल्पवृत्तिव्या व्यातुमाह

भोज वृ० भा० जो वस्तु जैसी नहीं है उसमें से उस ज्ञान की
उत्पत्ति को विपर्यय कहते हैं अर्थात् वस्तु के असल रूप से उलटे
ज्ञान होने को विपर्यय कहते हैं जैसे सीप में चाँदी का ज्ञान ।
अतद्रूप प्रतिष्ठ का अर्थ यह है कि जिस पदार्थ का जो वास्तविक
रूप है उसका ज्ञान न होने दे, संशय भी पदार्थ के सच्चे रूप
को नहीं जानने देता है इस कारण से वह भी मिथ्या ज्ञान है जैसे
यह खम्भा है वा पुरुष है ॥ ८ ॥ अगले सूत्र में विकल्प वृत्ति का
वर्णन करेंगे ॥ ८ ॥

शब्दज्ञानानुपाता वस्तुशून्यो विकल्पः ॥९॥

सू० का पदार्थ—(शब्दज्ञानानुपाती अर्थात् शब्द
ज्ञान मात्र हो जिसमें सार है (वस्तुशून्यः) जिसमें ज्ञेय-
पदार्थ कुछ न हो (विकल्पः) उसे विकल्प कहते हैं ॥९॥

सूत्र का भावार्थ—शब्द मात्र से जिसका भान होता है परन्तु
जिसमें ज्ञेय पदार्थ कुछ भी न हो जैसे “बन्ध्या पत्रो याति” बॉम्ब
का लडका जाता है इस वचन से मालूम होता है कि कोई पुरुष
जाता है परन्तु यथार्थ में बन्ध्या का पुत्र नहीं हो सकता और

जिसके पुत्र होगा वह बच्चा नहीं हो सकती इसलिये क्रिया
आधार बिना रह नहीं सकती ॥ ६ ॥

व्या० भा०—सप्रमाणोपारोही न विपर्ययोपारोही च
वस्तुभूतस्येपि शब्द ज्ञानमहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते
तद्यथा चैतन्य पुरुषस्य स्वरूपमिति यदाचित्तिरेव पुरुषस्तदा
किमत्र केन व्यपदिश्यते भवति च व्यपदेशे वृत्तिः यथा चैत्रस्य
गौरिति तथा प्रसिद्धिद्वस्तु धर्मो निष्क्रियः पुरुषः तिष्ठति
वाच्यः स्वास्पतिस्थित इति गति निवृत्तौ धात्वर्थमात्र
गम्यते तथा तु त्वचिधर्मी पुरुष इति त्वचिधर्मस्यास्वभाव-
मात्रमवगम्यते न पुरुषान्वयी धर्मः तस्माद्विकल्पितः स
धर्मस्तेन चासित व्यवहार इति ॥ ६ ॥

व्या० भा० का पदार्थ—बह विकल्प प्रमाण ज्ञान और न
विपर्यय ज्ञान है अर्थात् संशयात्मक ज्ञान है स य पदार्थ न रहने
पर भी केवल शब्द ज्ञान के प्रमाण से जिसमें व्यवहार प्रमाण
होता है वैसे चेतनता पुरुष अर्थात् आत्मा का स्वरूप है अब ज्ञान
ही पुरुष है तब कौन सा पदार्थ जिसके द्वारा मुख्य व्यवहार किया
जाता है व्यपदेश अर्थात् मुख्य व्यवहार में वृत्ति ही स्थित है वैसे
चैत्र नामक पुरुष की गऊ वैसे ही निवारित वस्तु अर्थात् अस्य
व्यापक वस्तुओं के गुण वाता क्रियारहित आत्मा है वाय रक्ता
आयना रक्ता वा गमन रहित होन वात का केवल अर्थ ही
समम्भवाता है उसे ही अर्थ सेन के गुण से रहित आत्मा है
केवल उत्पत्ति ही केवल समम्भवाता है आत्मा के सब गुण नहीं
समझे जाते हैं इससे यह गुण अर्थात् आत्मा की उत्पत्ति मिथ्या

हुई इससे उत्पत्ति रहित है ऐसा ध्यानादि व्यवहार करना उचित है ॥ ६ ॥

भा० का भा०—यह विकल्पवृत्ति भी प्रमाण अर्थात् यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं है क्योंकि मिथ्याज्ञान और भ्रम उत्पन्न करने वाली यह वृत्ति है और इस वृत्ति में केवल शब्द का ही चातुर्य है जैसे आत्मा का स्वभाव चैतन्य है इस शब्द को सुन कर कोई कहे कि ज्ञान से भिन्न आत्मा कोई नहीं है और वह ज्ञान जीव का गुण है बस ईश्वर ही असिद्ध है इसे विकल्प कहते हैं परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि चैतन्य वृत्ति वाला आत्मा है अर्थात् जड़ प्रकृति से भिन्न है यहाँ पुरुष और चेतनता का वृत्ति और वृत्तिमान होने से स्वस्वामीभाव सम्बन्ध है, जैसे चैत्र की गौ यहाँ पर गौ का और चैत्र का स्वस्वामीभाव सम्बन्ध है । कहीं २ कालभेद से क्रिया की एकता में विकल्प होता है जैसे बाण रक्खा है बाण रखा जायगा बाण रक्खा था इन वाक्यों में केवल कालकृत विकल्प है परन्तु वक्ता का अभिप्राय केवल धात्वर्थ से है ॥ ६ ॥

वि०—इस वृत्ति में पूर्व से यही भेद है कि उसमें कोई ज्ञेय पदार्थ होता है परन्तु इस वृत्ति में ज्ञेय पदार्थ का सर्वथा अभाव होता है । जहाँ पर एक शब्द से भिन्नरूप वाली दो वस्तुओं का ज्ञान हो वह भी विकल्प कहाती है जैसे सैधव शब्द से नमक और घोड़े का बोध होता है अथवा जहाँ एक वस्तु ही दो रूप से भान हो वह भी विकल्प है, जैसे आत्मा को चैतन्य कहने से जान पड़ता है कि आत्मा और चैतन्य भिन्न २ पदार्थ हैं परन्तु वास्तव में आत्मा चैतन्य स्वरूप है तात्पर्य यह है कि भ्रमात्मक ज्ञान को विकल्प कहते हैं ॥ ६ ॥

भोजवृत्ति—शब्दजनितं ज्ञानं शब्द ज्ञान तदनुपतितुं शीलम्

यस्य सः शब्दज्ञानानुपातिवस्तुनस्तथास्वमनपञ्चमायायोऽभ्यवसायः सः विकल्प इत्युच्यते । यथा पुरुषस्य चैतन्यं स्वरूपमिति अत्र देशवस्तस्य कम्बल इतिराज्जनिव ज्ञानपट्ट्या योऽभ्यवसितो भेदस्तमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्ततेऽभ्यवसायः । वस्तुतस्तु चैतन्यमेव पुरुषः ॥ ६ ॥

निर्ग्राम्याख्यासुमाह ।

भाष्य बृ० भा०—शब्द में उत्पन्न हुआ ज्ञान शब्दज्ञान कहाँ है शब्दज्ञान के पीछे ज्ञान का स्मभाव है जिससे वह शब्दज्ञानानुपाति हुआ, अर्थात् शब्दज्ञान में मादित होकर पदार्थ की सत्ता की अपेक्षा जिसमें न रहे वह वृत्ति विकल्प कहाँ है, जैसे कोई कह कि पुरुष का स्वरूप चैतन्य है” इस वाक्य में ‘देशवस्तु में भिन्न पट्टी बिभक्ति द्वारा कम्बल का ज्ञान होता है परन्तु पदार्थ में पुरुष ही चैतन्यरूप है अगले सूत्र में निर्ग्राह्य की व्याख्या करेंगे ॥ ७ ॥

अभावप्रत्यात्मन्यनावृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

सू० का प० (अभावप्रत्यात्मन्यनावृत्तिर्निद्रा) अभाव को समता को ओ आश्रय करे वह वृत्ति (निद्रा) निर्गत अर्थात् शारिरिक विषय-प्रसक्ति जिस वृत्ति में दूर हो जाती है उस निद्रा कहते हैं ।

सू० का म०—अभाव अर्थात् शान्ताभाव को ओ आश्रय करे उसे निद्रा कहते हैं अर्थात् अविद्याप्रवृत्ति वृत्ति का निद्रा कहते हैं ।

व्या -मा०—साच सप्रबोधप्रत्यक्षमर्शत् प्रत्यय विशुष । कथं मुखमहमवाप्तम् प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञा मे विशारदीकराति । इह सुखमहमस्वाप्तं स्नानं मनो अमत्यन

नवस्थितं गाढं मूढोहमस्वाप्नं गुरुणि मे गात्राणि, क्लान्तम्
मे चित्तमलम् सुषितमिव तिष्ठतीति स खल्वयं प्रबुद्धस्य
प्रत्ययमर्शो न स्यात् असति प्रत्यायानुभवेतदाश्रिताः स्मृत-
यश्च तद्विषया न स्युः । तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा साच
समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ॥ १० ॥

व्या० भा० पदार्थ—और वह निद्रा जाग्रत हो जाने पर निद्रा-
वस्था के विचारने से ज्ञान विशेष है यदि वह ज्ञान विशेष न हो
तो जागने पर यह बोध कैसे हासका, मैं आनन्द से सोया मेरा
मन प्रसन्न है बुद्धि मुझे उत्तम बनती है अर्थात् मेरी बुद्धि निर्मल
है । मैं दुःखपूर्वक सोया मेरा मन आलस में होरहा है, घूमता है
अनवस्थित अर्थात् विचारशून्य होरहा है अत्यन्त वेसुध मैं सोया
मेरे अग भारी हो रहे हैं, आलसयुक्त और अपहृत चुराये हुये
की समान जडवत् हो रहा है वह निद्रा यदि प्रत्यय न हो तो नींद
से जागे मनुष्य को उक्त प्रकार के ज्ञान न हो यदि उस ज्ञान का
अनुभव न हो तो उस अनुभव के आश्रित स्मृत भी न होनी
चाहिये । इस हेतु से निद्रा भी अभाव ज्ञान है और वह निद्रावृत्ति
भी समाधि अर्थात् योग में और वृत्ति के समान त्यागनी
चाहिये ॥ १० ॥

व्या० भा० भा०—निद्रावृत्ति का भी जागृत होने पर विशेष
विचार किया जाता है इसलिए वह भी एक प्रकार का ज्ञान है
यदि वह ज्ञान न हो तो—“मैं आज सुख से सोया इससे मेरा मन
प्रसन्न है मेरी बुद्धि स्वच्छ है, यद्वा मैं दुःख से सोया इससे मेरा
मन आलस में हो रहा है और मत्त के समान घूम रहा है” यह
विचार भी न होता, क्योंकि अज्ञान से अनुभव नहीं होता और

यस्य सः शब्दज्ञानानुपातिवस्तुनस्तथास्वममपंचमाद्योपाऽप्यव-
सायः सः विकल्प इत्युच्यते । यथा पुरुषस्य चैतन्यं स्वरूपमिति
अत्र देशवस्तस्य कम्बज इतिशब्दजनित ज्ञानपण्ड्या योऽव्यवसिधौ
मेवस्तमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्ततेऽप्यवसायाः । वस्तुतस्तु
चैतन्यमेव पुरुषः ॥ ६ ॥

निद्राव्याख्यातुमाह ।

भोज्यं ह० भा०—शब्द में उत्पन्न हुआ ज्ञान शब्दज्ञान कहाँ
है शब्दज्ञान के पीछे ज्ञान का स्मरण है जिससे वह शब्दज्ञान-
माप्नुपाति हुआ, अर्थात् शब्दज्ञान में मोहित होकर परार्थ की
सत्ता की अपेक्षा जिसमें न रहे वह वृत्ति विकल्प कहाँ है, जैसे
कोई कहे कि 'पुरुष का स्वरूप चैतन्य है' इस वाक्य में 'देशवत्त-
से भिन्न बड़ी विभक्ति द्वारा कम्बज का ज्ञान होता है परन्तु यथार्थ
में पुरुष ही चैतन्यरूप है अगले सूत्र में निद्रावृत्ति की व्याख्या
करेंगे ॥ ६ ॥

अभावप्रत्यासम्बनावृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

सू० का प० (अभावप्रत्यासम्बना) अभाव की
समता को जो आशय करे वह वृत्ति (निद्रा) निर्गत
अर्थात् शारिरिक विषय-प्रसक्ति जिस वृत्ति में दूर हो जाती
है उसे निद्रा कहते हैं ।

सू० का म—अभाव अर्थात् ज्ञानाभाव को जो आशय करे उसे
निद्रा कहते हैं अर्थात् अविद्यामस्त वृत्ति को निद्रा कहते हैं ।

व्या०—भा०—साध संप्रबोधप्रत्यक्षमर्थात् प्रत्यक्ष
विशेषः । कथं सुखमहमवाप्सस् प्रसन्न मे मनः प्रज्ञा मे
विशारदोऽहोति । दुःखमहमवाप्सं स्थान मनो अमत्यन

नवस्थितं गाढं मूढोहमस्वाप्नं गुरुणि मे गात्राणि, क्लान्तम्
मे चित्तमलम् सुषितमिव तिष्ठतीति स खल्वयं प्रबुद्धस्य
प्रत्ययमर्शो न स्यात् असति प्रत्यायानुभवेतदाश्रिताः स्मृत-
यश्च तद्विषया न स्युः । तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा साच
समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ॥ १० ॥

व्या० भा० पदार्थ—और वह निद्रा जाग्रत हो जाने पर निद्रा-
वस्था के विचारने से ज्ञान विशेष है यदि वह ज्ञान विशेष न हो
तो जागने पर यह बोध कैसे हासका, मैं आनन्द से सोया मेरा
मन प्रसन्न है बुद्धि मुझे उत्तम बनती है अर्थात् मेरी बुद्धि निर्मल
है । मैं दुःखपूर्वक सोया मेरा मन आलस में हो रहा है, घूमता है
अनवस्थित अर्थात् विचारशून्य हो रहा है अत्यन्त बेसुध मैं सोया
मेरे अंग भारी हो रहे हैं, आलसयुक्त और अपहृत चुराये हुये
की समान जडवत् हो रहा है वह निद्रा यदि प्रत्यय न हो तो नींद
से जागे मनुष्य को उक्त प्रकार के ज्ञान न हो यदि उस ज्ञान का
अनुभव न हो तो उस अनुभव के आश्रित स्मृत भी न होनी
चाहिये । इस हेतु से निद्रा भी अभाव ज्ञान है और वह निद्रावृत्ति
भी समाधि अर्थात् योग में और वृत्ति के समान त्यागनी
चाहिये ॥ १० ॥

व्या० भा० भा०—निद्रावृत्ति का भी जागृत होने पर विशेष
विचार किया जाता है इसलिए वह भी एक प्रकार का ज्ञान है
यदि वह ज्ञान न हो तो—“मैं आज सुख से सोया इससे मेरा मन
प्रसन्न है मेरी बुद्धि स्वच्छ है, यद्वा मैं दुःख से सोया इससे मेरा
मन आलस में हो रहा है और मत्त के समान घूम रहा है” यह
विचार भी न होता, क्योंकि अज्ञान से अनुभव नहीं होता और

यस्य स. शब्दज्ञानानुपातिवस्तुमस्तथास्वमनपेक्षमाधोयाऽध्यक्ष
साया म विकल्प इत्युच्यते । यथा पुरुषस्य चैतन्यं स्वरूपमिति
अत्र देवदत्तस्य कम्बल इतिशब्दजनित ज्ञानपट्ट्या योऽध्यक्षसितो
मेवस्तमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्ततेऽध्यक्षसाया । वस्तुतस्तु
चैतन्यमेव पुरुषः ॥ ६ ॥

निर्वाच्याख्यातुमाह ।

भा. ६० मा०—शब्द में कल्पित हुआ ज्ञान शब्दज्ञान कहाता
है शब्दज्ञान के पीछे ज्ञान का स्वभाव है जिससे वह शब्दज्ञाना-
ननुपाति हुआ अर्थात् शब्दज्ञान में मोहित होकर परार्थ की
सत्ता की अपेक्षा जिसमें न रहे वह वृत्ति विकल्प कहाणी है, जैसे
कोई कहे कि 'पुरुष का स्वरूप चैतन्य है' इस वाक्य में "देवदत्त
से भिन्न वृत्ति विमर्श द्वारा कम्बल का ज्ञान होता है परन्तु यथार्थ
में पुरुष ही चैतन्यरूप है अगले सूत्र में निरावृत्ति की व्याख्या
करेंगे ॥ ६ ॥

अभावप्रत्यासम्बन्धावृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

सू० का प० (अभावप्रत्यासम्बन्धा) अभाव की
समता को जो आश्रय करे वह वृत्ति (निद्रा) निर्गत
अर्थात् शारिरिक विषय-प्रसक्ति जिस वृत्ति में दूर हो जाती
है उसे निद्रा कहते हैं ।

सू० का म—अभाव अर्थात् ज्ञानाभाव को जो आश्रय कर उसे
निद्रा कहते हैं अर्थात् अविद्याप्रस्त वृत्ति को निद्रा कहते हैं ।

न्या०—मा०—साध सप्रसाधप्रत्यक्षमर्शात् प्रत्यय
विशेष । क्व सुखमहमवाप्सम् प्रसन्न मे मनः प्रज्ञा मे
विशारदीकरोति । दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यान मनो भ्रमस्पन

नवस्थितं गाढं मूढोहमस्वाप्सं गुरुणि मे गात्राणि, क्लान्तम्
मे चित्तमलम् सुषितमिव तिष्ठतीति स खल्वयं प्रबुद्धस्य
प्रत्ययमर्शो न स्यात् असति प्रत्यायानुभवेतदाश्रिताः स्मृत-
यश्च तद्विषया न स्युः । तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा साच
समाधावितरप्रत्ययवन्निरुद्धव्येति ॥ १० ॥

व्या० भा० पदार्थ—और वह निद्रा जाग्रत हो जाने पर निद्रा-
वस्था के विचारने से ज्ञान विशेष है यदि वह ज्ञान विशेष न हो
तो जागने पर यह बोध कैसे हासक्ता, मैं आनन्द से सोया मेरा
मन प्रसन्न है बुद्धि मुझे उत्तम बनती है अर्थात् मेरी बुद्धि निर्मल
है । मैं दुःखपूर्वक सोया मेरा मन आलस में हो रहा है, घूमता है
अनवस्थित अर्थात् विचारशून्य हो रहा है अत्यन्त वेसुध मैं सोया
मेरे अंग भारी हो रहे हैं, आलसयुक्त और अपहृत चुराये हुये
की समान जडवत् हो रहा है वह निद्रा यदि प्रत्यय न हो तो नींद
से जागे मनुष्य को उक्त प्रकार के ज्ञान न हों यदि उस ज्ञान का
अनुभव न हो तो उस अनुभव के आश्रित स्मृत भी न होनी
चाहिये । इस हेतु से निद्रा भी अभाव ज्ञान है और वह निद्रावृत्ति
भी समाधि अर्थात् योग में और वृत्ति के समान त्यागनी
चाहिये ॥ १० ॥

व्या० भा० भा०—निद्रावृत्ति का भी जागृत होने पर विशेष
विचार किया जाता है इसलिए वह भी एक प्रकार का ज्ञान है
यदि वह ज्ञान न हो तो—“मैं आज सुख से सोया इससे मेरा मन
प्रसन्न है मेरी बुद्धि स्वच्छ है, यद्वा मैं दुःख से सोया इससे मेरा
मन आलस में हो रहा है और मत्त के समान घूम रहा है” यह
विचार भी न होता, क्योंकि अज्ञान से अनुभव नहीं होता और

यस्य सः शब्दज्ञानानुपाविष्टस्तुनस्तथास्वममपेक्षमायोयोऽप्यत्र
सायः सः विकल्प इत्युच्यते । यथा पुरुषस्य चैतन्यं स्वरूपमिति
अत्र देवदत्तस्य कम्बु इतिशब्दजनितं ज्ञानपञ्च्या याऽप्यवसितो
मेवस्तुमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्ततऽप्यवसायः । वस्तुतस्तु
चैतन्यमेव पुरुषः ॥ ६ ॥

निर्वाच्याख्यानुमाह ।

श्री० भ०—शब्द में रूपम हुआ ज्ञान शब्दज्ञान कहाता
है शब्दज्ञान के पीछे जाने का समान है जिससे वह शब्दज्ञान-
मानुपाविष्ट हुआ अर्थात् शब्दज्ञान में मोहित होकर पदार्थ की
सत्ता की अपेक्षा जिसमें न रह वह वृत्ति विकल्प कहाती है, जैसे
कोई कहे कि 'पुरुष का स्वरूप चैतन्य है' इस वाक्य में 'देवदत्त'
से भिन्न वृत्ति विमर्श द्वारा कम्बु का ज्ञान होता है परन्तु यथार्थ
में पुरुष ही चैतन्यरूप है अगले सूत्र में निरावृत्ति की व्याख्या
करेंगे ॥ ६ ॥

अभावप्रत्यासम्बनावृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

सू० का प० (अभावप्रत्यासम्बना) अभाव को
समता को जो आशय कर वह वृत्ति (निद्रा) निर्गत
अर्थात् शारिरिक विषय-प्रसक्ति विस वृत्ति में दूर हो जाती
है उसे निद्रा कहते हैं ।

सू० का म—अभाव अर्थात् ज्ञानाभाव को जो आशय करे उसे
निद्रा कहते हैं अर्थात् अविद्याप्रसक्त वृत्ति को निद्रा कहते हैं ।

व्या०—मा०—साध संप्रबोधप्रत्यवमर्शात् प्रत्यय
विशेषः । कथं सुखमहमवाप्सु प्रसन्न मे मनः प्रज्ञा मे
विशारदीकरोति । दुःखमहमस्वाप्सं स्थानं मनो भ्रमत्यन

नवस्थितं गाढं मूढोहमस्वाप्सं गुरुणि मे गात्राणि, क्लान्तम्
मे चित्तमलम् सुषितमिव तिष्ठतीति स खल्वयं प्रबुद्धस्य
प्रत्ययमर्शो न स्यात् असति प्रत्यायानुभवेतदाश्रिताः स्मृत-
यश्च तद्विषया न स्युः । तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा साच
समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ॥ १० ॥

व्या० भा० पदार्थ—और वह निद्रा जाग्रत हो जाने पर निद्रा-
वस्था के विचारने से ज्ञान विशेष है यदि वह ज्ञान विशेष न हो
तो जागने पर यह बोध कैसे होसका, मैं आनन्द से सोया मेरा
मन प्रसन्न है बुद्धि मुझे उत्तम बनती है अर्थात् मेरी बुद्धि निर्मल
है । मैं दुःखपूर्वक सोया मेरा मन आलस में होरहा है, घूमता है
अनवस्थित अर्थात् विचारशून्य होरहा है अत्यन्त वेसुध मैं सोया
मेरे अंग भारी हो रहे हैं, आलसयुक्त और अपहृत चुराये हुये
की समान जडवत् हो रहा है वह निद्रा यदि प्रत्यय न हो तो नींद
से जागे मनुष्य को उक्त प्रकार के ज्ञान न हों यदि उस ज्ञान का
अनुभव न हो तो उस अनुभव के आश्रित स्मृत भी न होनी
चाहिये । इस हेतु से निद्रा भी अभाव ज्ञान है और वह निद्रावृत्ति
भी समाधि अर्थात् योग में और वृत्ति के समान त्यागनी
चाहिये ॥ १० ॥

व्या० भा० भा०—निद्रावृत्ति का भी जागृत होने पर विशेष
विचार किया जाता है इसलिए वह भी एक प्रकार का ज्ञान है
यदि वह ज्ञान न हो तो—“मैं आज सुख से सोया इससे मेरा मन
प्रसन्न है मेरी बुद्धि स्वच्छ है, यद्वा मैं दुःख से सोया इससे मेरा
मन आलस में हो रहा है और मत्त के समान घूम रहा है” यह
विचार भी न होता, क्योंकि अज्ञान से अनुभव नहीं होता और

यस्य सा शब्दज्ञानानुपातिवस्तुनस्तथास्वममपेक्षमाप्नोयाऽप्यथ
 सामा न विकस्य इत्युच्यते । यथा पुरुषस्य चैतन्यं स्वस्वमिति
 अत्र देववृत्तस्य कम्बल इति शब्दजनित ज्ञानपट्ट्या याऽप्यवसिती
 भेदस्तमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्ततऽप्यवसायः । वस्तुतस्तु
 चैतन्यमेव पुरुषः ॥ ६ ॥

निद्राभ्यास्यातुमाह ।

भाष्य सू० म०—शब्द में उत्पन्न हुआ ज्ञान शब्दज्ञान कहाँ
 है शब्दज्ञान के पीछे ज्ञान का स्मरण है जिससे वह शब्दज्ञान-
 मासुपाति हुआ, अर्थात् शब्दज्ञान में मोहित होकर पदार्थ की
 सत्ता की अपेक्षा जिसमें न रहे वह वृत्ति विकस्य कहाँती है, जैसे
 कोई कह कि 'पुरुष का स्वस्व चैतन्य है' इस वाक्य में 'देववृत्त'
 से भिन्न पट्टी विभक्ति द्वारा कम्बल का ज्ञान होता है परन्तु यथार्थ
 में पुरुष ही चैतन्यरूप है अगस्त सूत्र में निद्रावृत्ति की व्याख्या
 करेंगे ॥ ६ ॥

अभावप्रत्यासम्बनावृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

सू० का प० (अभावप्रत्यासम्बना) अभाव की
 समता को जो आशय करे वह वृत्ति (निद्रा) निगल
 अर्थात् शारिरिक पिपय-प्रसक्ति जिस वृत्ति में दूर हो जाती
 है उस निद्रा कहते हैं ।

मू० का म०—अभाव अर्थात् ज्ञानाभाव को जो आशय करे उसे
 निद्रा कहते हैं अर्थात् अविद्यामस्त वृत्ति को निद्रा कहते हैं ।

व्या०—मा०—साध सर्वप्रसोषप्रत्यक्षमर्शात् प्रत्यय
 विज्ञेयः । कथं सुखमहमवाप्सस् प्रसन्न मे मनः प्रज्ञा मे
 विशारदीकरोति । दुःखमहमवाप्सस् स्यान् मनो अमत्यन

नवस्थितं गाढं मूढोहमस्वाप्नं गुरुणि मे गात्राणि, क्लान्तम्
मे चित्तमलम् सुपितऽमिव तिष्ठतीति स खल्वयं प्रबुद्धस्य
प्रत्ययमशो न स्यात् असति प्रत्यायानुभवेतदाश्रिताः स्मृत-
यश्च तद्विषया न स्युः । तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा साच
समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ॥ १० ॥

व्या० भा० पदार्थ—और वह निद्रा जाग्रत हो जाने पर निद्रा-
वस्था के विचारने से ज्ञान विशेष है यदि वह ज्ञान विशेष न हो
तो जागने पर यह बोध कैसे हासका, मैं आनन्द से सोया मेरा
मन प्रसन्न है बुद्धि मुझे उत्तम बनती है अर्थात् मेरी बुद्धि निर्मल
है । मैं दुःखपूर्वक सोया मेरा मन आलस में हो रहा है, घूमता है
अनवस्थित अर्थात् विचारशून्य हो रहा है अत्यन्त वेसुध मैं सोया
मेरे अंग भारी हो रहे हैं, आलसयुक्त और अपहृत चुराये हुये
की समान जडवत् हो रहा है वह निद्रा यदि प्रत्यय न हो तो नींद
से जागे मनुष्य को उक्त प्रकार के ज्ञान न हों यदि उस ज्ञान का
अनुभव न हो तो उस अनुभव के आश्रित स्मृत भी न होनी
चाहिये । इस हेतु से निद्रा भी अभाव ज्ञान है और वह निद्रावृत्ति
भी समाधि अर्थात् योग में और वृत्ति के समान त्यागनी
चाहिये ॥ १० ॥

व्या० भा० भा०—निद्रावृत्ति का भी जागृत होने पर विशेष
विचार किया जाता है इसलिये वह भी एक प्रकार का ज्ञान है
यदि वह ज्ञान न हो तो—“मैं आज सुख से सोया इससे मेरा मन
प्रसन्न है मेरी बुद्धि स्वच्छ है, यद्वा मैं दुःख से सोया इससे मेरा
मन आलस में हो रहा है और मत्त के समान घूम रहा है” यह
विचार भी न होता, क्योंकि अज्ञान से अनुभव नहीं होता और

अनुभव के बिना स्मृति नहीं होती इससे सिद्ध होता है कि निद्रा सातृप्त अवस्था के दृष्ट वा मृत पदार्थ ज्ञान के अभाव ज्ञान का कहते हैं ॥ १० ॥

१० सु वि०—जिसमें सांसारिक पदार्थों के अभाव का ज्ञान रहे अर्थात् जो अभाव ज्ञान के आश्रय पर ही स्थिर हो उस वृत्ति का नाम निद्रा है इस वृत्ति में तमोगुण ही प्रधान है इस ही कारण से सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान जाता रहता है इसमें अभाव का ही ज्ञान रहता है इस कारण से इसे मनोवृत्ति कहते हैं ॥ १० ॥

भोजवृत्ति—अभावप्रत्यय आलम्बनं यस्याः सा यथाका वृत्तिः एतदुक्तं भवति—या मन्तर्तं च्छिच्छन्नात् तमसः ममस्तविषयपरि त्यागो न प्रवर्तते वृत्तिः सा निद्रा । तस्याश्च सुश्रवणमस्वाप्समिति स्मृतिदर्शनात् स्मृतेष्वनुमवाक्यतिरेकेणानुपपत्तेर् नृत्तिस्थम् ॥ १० ॥
स्मृतिं व्याख्यातुमाह ।

भोज वृ० मा०—अभाव ज्ञान को धारण करने वाली वृत्ति को निद्रा कहते हैं अतएव यह है कि तमोगुण का प्रधानता से जिसमें सब विषयो का त्याग हो जाता है उस वृत्ति को निद्रा कहते हैं (२) मनुष्य जब सा के छूटता है तब उसे स्मरण होता है कि मैं सुख से सोया यह स्मृति बिना अनुभव के नहीं हो सकती है इससे जाना जाता है कि निद्रा भी एक वृत्ति है अगत्त सूत्र में स्मृति का लक्षण लिखेंगे ॥ १० ॥

अनुभूतविषयासम्प्रमोप, स्मृति ॥ ११ ॥

वृ० का पदार्थ—(अनुभूतविषयासम्प्रमोपः)
अर्थात् जिन विषयों का चित्त द्वारा वा इन्द्रिय द्वारा अनुभव अनुभूत किया गया हो उनका जो असम्प्रमोप अर्थात्

ध्यान (स्मृतिः) उसे स्मृति कहते हैं ॥ ११ ॥

सू० का भा०—अननूत पदार्थों के पुनर्विचार को स्मृति कहते हैं ॥ ११ ॥

व्या० भाष्य—किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति आहोस्वित् विषयस्येति ग्राह्यापरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासः तज्जातीयकं संस्कारमारभते स संस्कारः स्वव्यंजकांजनः तदाकारमेव ग्राह्याग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति । तत्र ग्रहणाकारपूर्वाबुद्धिः ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः साच द्वयी भावितस्मर्त्तव्या चाभावितस्मर्त्तव्या च स्वप्ने भावितस्मर्त्तव्या । जाग्रत्समयेत्वभावितस्मर्त्तव्येति सर्वाः स्मृतयः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभवात् प्रभवन्ति । सर्वैश्चैव वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः । सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः सुखानुशयीरागः । दुःखानुशयी द्वेषः । मोहः पुनरविद्येति । एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः । आसां निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवति असंप्रज्ञातोवेति ॥ ११ ॥

अथासां निरोधक उपाय इति

व्या० भा० का पदार्थ—क्या बोध का चित्त स्मरण करता है वा विषय का ? ग्रहण करने योग्य विषयोंमें जो प्रसन्नतापूर्वक बोध होता है वह प्रत्यय अथवा ग्राह्या जो विषय और ग्रहण अर्थात् जिनके द्वारा पदार्थ ग्रहण किया जाता है यह प्रमाण वह यह दोनों अपने समान संस्कार को उत्पन्न करते हैं संस्कार नेत्राब्जन के समान अपने समान ही अनुभूत विषय तथा उसमें ज्ञान की

स्मृति को उत्पन्न करता है परन्तु उस स्मृति में भी बोध रूप बुद्धि है अर्थात् जो विषय ग्रहण का ज्ञान होता है वह बुद्धि है और प्राप्ति विषय का जो स्मरण है वह स्मृति है। और दोनों बुद्धि और स्मृति दो प्रकार की हैं 'मादितस्मर्तव्य' और अमादितस्मर्तव्य' भेद से स्वप्नावस्था में या जागृत अवस्था के अनुभूत पदार्थों की स्मृति होती है वह मादितस्मर्तव्य स्मृति और बुद्धि कहलाती है जागृत अवस्था में या स्वप्नावस्था के पदार्थों की स्मृति होती है उसे अमादितस्मर्तव्य स्मृति कहते हैं। सब स्मृति प्रमाण विपर्यय विकल्प मित्रा और अनुमन इन पाँचों बुद्धियों के अनुमन से होती हैं और यह सब बुद्धियाँ सुख दुःख तथा मोह रूप ही हैं सुख दुःख तथा मोह का वर्णन पाँच क्लेशों के वर्णन में किया जायगा। सुख के निमित्त जिसमें प्रवृत्ति होती है उसे राग कहते हैं दुःख के निमित्त जिसमें प्रवृत्ति होती है उसे द्वेष कहते हैं यद्यपि असुरायी शब्द का अर्थ वास्तव्य के अनुसार पश्चात्ताप होता है परन्तु प्रकरणवशा यहाँ निमित्तार्थ करना ही पुष्ट है मोह अधिष्ठा को कहते हैं योगी को अचित है कि इन सब बुद्धियों का निरोध करे इन बुद्धियों के निरोध हो आत्मे के पश्चात् अस्तम्यज्ञात योग हो सकता है क्यों कि जब तक बुद्धियाँ निरुद्ध न होंगी तब तक मनुष्यों के समान ही योगी भी रहता है किन्तु उसकी योग संज्ञा भी अनुचित ही है ॥ ११ ॥

व्या० भा० का भाष्य—सूत्रकार ने जो स्मृति का यह सङ्ख्य किया है कि अनुभूत विषयों का पुनर्विचार को स्मृति कहते हैं इसमें यह शंका होती है कि चित्त पदार्थ का स्मरण करता है या पदार्थज्ञान का ? यदि पदार्थ का ही स्मरण करता है तो बिना पदार्थ ज्ञान के स्मरण होना असंभव है क्योंकि स्मरण में तीव्र ही कारण होते हैं राग द्वेष मोह । इन तीनों में से राग उसे कहते

हैं जो सुख निमित्तक हो और द्वेष वह है जो दुःख निमित्तक हो जैसे देवदत्त पितरं स्मरति देवदत्त अपने पिता का स्मरण करता है यह सुख पूर्वक रागः से स्मरण हुआ । भारतवासी यवन सम्राटों का स्मरण करते हैं यह दुःख पूर्वक द्वेष से स्मरण हुआ ऐसे ही मोह में भी स्मरण होता है, उस स्मृति के दो भेद हैं एक भावितस्मर्तव्य और दूसरा अभावितस्मर्तव्य । स्वप्नावस्था में जो जागृत अवस्था में तुल्य पदार्थों का स्मरण होता है वह भावित स्मर्तव्या स्मृति है और जागृत अवस्था में जो स्मृति होती है वह अभावितस्मर्तव्या है सब प्रकार की स्मृति प्रमाणादि ५ वृत्तियों के अनुभव वा आश्रय से ही होती है योगी को उचित है कि इन सब वृत्तियों का निरोध करे, इन वृत्तियों के निरोध होने ही से संप्रज्ञात वा असंप्रज्ञात होता है ॥ ११ ॥

विशेष—समाधिपाद के प्रथम सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा था कि सर्ववृत्तिनिरोधेत्वसंप्रज्ञातः समाधिः अर्थात् समस्त वृत्तियों के निरोध होने पर असंप्रज्ञात योग होता है और इस ११ वे सूत्र के भाष्य में लिखते हैं कि “एताः सर्वा वृत्तियो निरोद्धव्या आसा निरोधे संप्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसंप्रज्ञातो वा,, अर्थात् इन पाँच वृत्तियों के निरोध होने ही पर संप्रज्ञात वा असंप्रज्ञात योग होता है ये दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध हैं क्योंकि संप्रज्ञात योग जो चार प्रकार का आगे वर्णन करेंगे उसमें विचारानुगत योग में अवश्य किसी विषय का विचार किया ही जायगा । ऐसे ही वितर्कानुगत में भी किसी विषय का ध्यान रहने ही से उस पर तर्क वितर्क हो सकता है इससे सिद्ध होता है कि संप्रज्ञात योग वृत्तियों के रहते भी हो सकता है । फिर भाष्यकार ने अपने भाष्य में पूर्वापर विरोध क्यों लिखा ? उत्तर—भाष्यकार ने अपने वचन में पूर्वापर विरोध नहीं लिखा केवल समझने वालों

की बुद्धि में पूर्वापरविरोध है क्योंकि प्रथम शब्दार्थ का समझना आदिमें अर्थ यह है 'सुयोगम् योगमित्याहुर्जीवात्मपरमात्मनोः' अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के मिलाने को योग कहते हैं अर्थात् जो जीवात्मा सांसारिक विषयों में लगा रहा है उसे इदमरीय विषयों में लगा देने को योग कहते हैं और उस योग के अन्तर्गत दो भेद हैं एक सम्प्रज्ञात दूसरा असम्प्रज्ञात, इन का अर्थ पूर्व लिख ही चुके हैं परन्तु फिर यहाँ पर लिखना उचित माना जाता है इसलिये फिर लिखते हैं सम्पक् क्षायन्ते पुष्यन्तु प्रदाया अमनति सम्प्रज्ञातः मन्त्री प्रकार से पदार्थों का ज्ञान जिस के द्वारा उसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं इसी के अनुसार भाष्यकार ने प्रथम सूत्र के भाष्य में लिखा है 'सर्वमूतमर्थेन्द्रियासयतीत्यादि' अर्थात् उन पदार्थों के अर्थ मूल रूप को जो प्रकाश करे उसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं ।

११ सू० वि०—प्रमाणेनानुमूतस्य विषयस्य योऽसम्प्रमोहः संस्कारादरेण बुद्ध्यावाराहः सा स्मृतिः तात्पर्य्यं यह है कि जागृत अवस्था में जिन विषयों का इन्द्रियों के द्वारा अनुभव किया जाता है उनका संस्कार हृदय में स्थिर हो जाता है उस ही संस्कार के आश्रय से जो अनुमूत विषयों का चित्त में विचारमात्र होता है उसे स्मृति कहते हैं ।

भो० १ —प्रमाणेनानुमूतस्य विषयस्य योऽसम्प्रमोहः संस्कारादरेण बुद्ध्यावाराहः सा स्मृतिः तत्र प्रमाणविपर्य्ययविकल्पाः । आम्नेयस्या तद्वत् तदनुभववत्तात्मवीचमरुताः स्वप्नः । निद्रातु असंशयमामविषया स्मृतिश्च प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिवृत्तिरिति ॥ ११ ॥

भा० १ भा० —जो विषय प्रथम किसी प्रमाण के द्वारा गृहीत हो चुका है उसे भी असम्प्रमोह अर्थात् संस्कारों के द्वारा बुद्धि में

धारण करने को स्मृति कहते हैं । प्रमाण विपर्यय और विकल्प यह जाग्रत् अवस्था की वृत्ति हैं इस ही कारण से इनके अनुभव से केवल प्रत्यक्ष के समान स्वप्न जान पड़ते हैं परन्तु निद्रा के विषय जाने नहीं जाते हैं । प्रमाण विकल्प और निद्रा के हेतु से स्मृति होती है ॥

उक्त प्रकार से वृत्तियों का वर्णन करके अब वृत्ति के निरोध का उपाय कहते हैं ॥ ११ ॥

एव वृत्तीर्व्याख्याय सोपाय निरोधं व्याख्यातुमाह ।

अभ्यासवैराग्याभ्यातन्निरोधः ॥ १२ ॥

पदार्थ—(अभ्यासवैराग्याभ्याम्) अभ्यासश्च वैराग्यञ्च अभ्यासवैराग्ये ताभ्याम्” ईश्वर का निरन्तर चिन्तन करने से और और विषयवासना को त्यागने से (तन्निरोधः) “तासां वृत्तीनां निरोधस्तन्निरोधः” पूर्वोक्त पाँचों वृत्तियों का निरोध (रोकना) होता है ॥

भावार्थ—ईश्वर के निरन्तर चिन्तन तथा वैराग्य से उक्त वृत्तियाँ रुक जाती हैं ॥ १२ ॥

व्या० भाष्य—चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणायवहति पापाय च यातु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा । संसारप्राग्भारऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा । तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते । विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्धाट्यते इत्थुभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १२ ॥

पदार्थ—चित्तरूप नदी दोनों ओर से बहनेवाली बहती है कल्याण के लिए और बहती है पाप के लिये जो कैवल्य अर्थात् मोक्ष जिसका पर्वताग्रभाग उत्पत्ति स्थान है अर्थात् जैसे ऊँचे स्थान की ओर नदी का वेग नहीं जाता है वैसे ही इस कल्याण-बहा चित्तरूप नहीं का भी वेग मोक्ष की इच्छा रूप पर्वत से उत्पन्न हुआ है और यह नदी विवेक विषय की ओर लीची है इसीलिए अपम वेग से कल्याणरूपी समुद्र में प्राप्त होती है संसार अर्थात् जगत् जिसकी ऊँची भूमि अर्थात् उत्पत्ति स्थान है और अविवेक जिसका बहने का स्थान नीचा और स्थल है और पाप अधर्म रूपी समुद्र में जाकर मिलती है । उन दोनों प्रवाहों में से वैराग्य विषय रूपी नदी का छिन्नभिन्न कर देता है विवेक सत्य का विचार तथा दर्शन अर्थात् शास्त्र के अभ्यास से विवेक रूपी नदी का प्रवाह सुख साता है इस प्रकार से चित्तरूपी नदी दोनों नहरों के अधीन है ॥ १० ॥

भाषार्थ—प्रसिद्ध चित्तरूपी नदी की दो धारा हैं एक कैवल्य पहाड़ में निकली है और विवेक भूमि में बहती हुई कल्याण सागर में मिलती है दूसरी संसारवृक्ष से निकल कर अविवेक तथा विषय भूमि में बहती हुई अधर्म सागर में मिल जाती है । जब वैराग्यरूप बाँध से विषयभूमि में बहनेवाली धारा को छिन्न भिन्न कर दिया जाता है तब विवेक भूमि में बहनेवाली धारा तीव्र हो जाती है । देखिये जैसे जगत् में गङ्गा भादि नदियों की नहर का जब एक ओर से तट या काँचे के बन्ध से मार्ग अवरुद्ध (बन्द) कर दिया जाता है और उसका जल दूसरी नहर में छोड़ दिया जाता है तब पहिली नहर (जिसमें तटता लगा दिया जा) सूख जाती है और दूसरी बहने लगती है इसी प्रकार से वैराग्यरूपी हस्ते से चित्तरूपी की पापबहा नहर को बन्द करके कल्याण

वहा नहर को खोलना निरन्तर ईश्वर चिन्तनरूपी यन्त्र (कल) से होता है इससे चित्तवृत्तिनिरोध अभ्यास और वैराग्य के आधीन हैं ॥ १२ ॥

विशेष—चित्त की वृत्ति जो बाह्य विषयों में लिप्त हो रही है वैराग्य द्वारा उनका निरोध होता है अर्थात् सांसारिक विषयों में दोषदृष्टि होकर घृणा उत्पन्न होती है और घृणा होने ही से वृत्तियों का अभाव हो जायगा अतएव वह स्वयम् ही अन्तर्मुख होके लीन हो जाती है जैसे काष्ठ के जल जाने पर अग्नि आप ही बुझ जाती है । एकाग्र और निरुद्ध अवस्था को दृढ़ रखने के वास्ते अभ्यास अर्थात् पुनः पुनः तन्निमित्तक क्रिया करनी चाहिये ।

भोज वृत्ति—अभ्यासवैराग्ये वक्ष्यमाणलक्षणे ताभ्या प्रकाश-प्रवृत्तिनियमरूपा या वृत्तायस्तासा निरोधो भवतीत्युक्तं । तासा विनिवृत्तबाह्याभिनिवेशाना अन्तर्मुखतया स्वकारण एवचित्ते शक्तिरूपतयाऽवस्थानम् । तत्र विषयदोषदर्शनजेन वैराग्येणतद्वै-मुख्यमुत्पाद्यते । अभ्यासेन च सुखजनकशान्तप्रवाहदर्शनद्वारेण दृढस्थैर्यमुत्पाद्यते इत्थं ताभ्यां भवति चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १२ ॥ अभ्यासं व्याख्यातुमाह ।

८भो० वृत्ति भा०—जिस अभ्यास और वैराग्य का लक्षण आगे कहेंगे उससे प्रकाश प्रवृत्तियों और नियमरूप वृत्तियों का निरोध होता है । तात्पर्य यह है कि दूर हो गया है बाह्य वस्तुओं में अभिनिवेश जिनका उन वृत्तियों का अन्तर्मुख होके चित्त में स्थिर रखना ही अभ्यास है । विषयों में दोष दृष्टि से उत्पन्न हुआ जो वैराग्य उससे विषयों में विमुखता उत्पन्न होती है और अभ्यास से सुख की उत्पादक शान्त प्रवाह से दृढ़ स्थिरता प्राप्त होती है इसी रीति से अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है ॥ १२ ॥ अभ्यास का लक्षण लिखते हैं ।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

पदार्थ—(तत्र) परमेश्वर में (स्थितौ) स्थिर करने में (यत्नोऽभ्यासः) उत्साह को अभ्यास कहते हैं ॥ १३ ॥

भाषार्थ—परमेश्वर परमेश्वर में वल और उत्साहपूर्वक चित्त की स्थिति सम्पादन को अभ्यास कहते हैं ॥ १३ ॥

भ्या० भा०—चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवादिता स्थितिः तदर्धप्रयत्नो वीर्यमुत्साहः तत्प्रतिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः ॥ १३ ॥

भा० का पदार्थ—राजस और तामस वृत्ति से रहित चित्त की या प्रशान्त वादिता स्थिति है अर्थात् जब चित्त वाद्य वृत्तियों से उपरत होकर केवल अपने अर्थ में निमग्न हो जाता है तब वह अवृत्तिक कहलाता है । असंयत ज्योग या स्थिरता के साधनों का सम्पादन करना वल अथवा दृढ़ता कभी दुःख प्राप्त होने पर भी चित्त में स्थानि न जाना उस स्थिरता की सम्पादन अर्थात् प्राप्ति की इच्छा में उसके साधन विषयान्तर में समानिप्रदादि के प्रयोग करने को अभ्यास कहते हैं ॥ १३ ॥

भा० का० भा०—चित्त जो अपने विषयों में लब्ध रहता है ईश्वर में असंयत शान्त स्थिति के लिये उद्योग बल अथवा दृढ़ता और उत्साह पूर्वक या उसके साधनों का अनुष्ठान करना है उस अभ्यास कहते हैं ॥ १३ ॥

१३ सू बि०—महाराज भाज में स्थिति का अर्थ यह लिखा है कि वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठा परिणामस्थितिः वृत्तिरहित चित्त की या अवसन्न रूप में स्थिति है उसका नाम स्थिति है तीमान् व्याप्ती दयानन्द सरस्वतीजी न या इस सूत्र के अर्थ में

ईश्वर के रूप में स्थिति का अर्थ किया है वह भाष्य के चित्तस्या-
वृत्तिकस्य प्रशांत वाहिता स्थितिः इस वाक्य का आवृत्तिकस्य
ऐसा पदच्छेद करने से हो सकता है परन्तु एकाग्र और निरुद्ध
भूमि में अभ्यास बढ़ाने से तात्पर्य है सारांश यह है कि चित्त
को विषयों से रोककर निरुद्ध और एकाग्र भूमि में स्थिर का नाम
अभ्यास है ॥ १४ ॥

भोज वृ०—वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः परिणामः
स्थितिः तस्यां यत्न उत्साहः पुनः पुनस्तत्त्वेन चेतसि निवेशनम-
भ्यास इति ॥ १३ ॥ तस्यैव विशेषमाह ॥ १३ ॥

भोज वृत्तिका भाष्य—वृत्तिरहित चित्त का जो स्वरूप मात्र
परिणाम है उसे स्थिति कहते हैं उसमें जो यत्न अर्थात् उत्साह
अर्थात् बारम्बार चित्त को लगाना है उसे अभ्यास कहते हैं ॥ १३ ॥

सतु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेविता दृढभूमिः १ ४

पदार्थ-(सः) वह अभ्यास दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कार
सेविताः) दीर्घकाल तक अभ्यास से अर्थात् बहुत समय
तक ईश्वर के ध्यान से निरन्तर अर्थात् आलस्य प्रसाद को
परित्याग करके नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य्य से साकार अर्थात्
श्रद्धापूर्वक ईश्वर के स्मरण से सेवन किया हुआ (दृढभूमिः)
दृढभूमि कहलाता है ॥ १४ ॥

व्या० भा०—दीर्घकालसेवितः निरंतरासेवितः
सत्कारासेवितः । तपसा ब्रह्मचर्य्येण विद्यया च संपादितः
संस्कारवान् भूमिवेति व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवोनभि
भूतविषय इत्यर्थः ॥ १४ ॥

व्या० माय्य का पदार्थ—बहुत कास तक अभ्यास किया गया, व्यवधानरहित अर्थात् प्रतिदिन अभ्यास किया गया पूर्णक सेवन किया गया, क्लेश सहकर धम्म करना प्रत्यक्ष अर्थात् महा का वह उसके ज्ञान से अभिज्ञा महा सा परमेश्वर उसकी स्थापना से तब से ईश्वर पर्यन्त सब पदार्थों के पदार्थ ज्ञान से सत्यधारण [किया] आय जिससे वह प्रकाशित होती है अर्थात् सत्यमाहिणी बुद्धि का नीति से प्राप्त किया आदरयुक्त दृढविश्वास होता है और बड़ी उत्थान रहित संस्कार द्वारा ही निश्चय हो जाना तथा विषय हाता है यही अभिज्ञाय है ॥ १४ ॥

मायार्थ अभ्यास दीर्घकाल अर्थात् बहुत दिनों तक व्यवधान रहित अर्थात् प्रतिदिन वा अपन निश्चय किये हुए प्रत्येक दिन के मार्गों में तप अर्थात् पुच्छाहारविहार अपवा अपने वर्णमम के योग्य धर्मसिद्धि से प्रत्यक्ष अर्थात् मन और इन्द्रियों को बाह्य विषयों से निरस्त करके प्रत्यापूर्वक संवित होकर दृढ़ होता है १४

सो ४ —चतुष्पदं नैरन्तर्येण आदरातिशयेन च सेव्य मानां दृढभूमिः स्थिरीभवति । बाह्याय प्रभवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥
चैराम्यस्य सङ्गमाह ।

मात्रवृत्तिक भा०—जब बहुत समय तक निरन्तर अर्थात् किसी समय किसी अवस्था में वा किसी विषय से त्याग न किया हुआ अधिक आदर के साथ अनुष्ठान करने से दृढ़ होता है ॥ १४ ॥

अभ्याससत्यनत अस्यकाल यथा स्यात्तथा व्यवधानराहित्येन विध्नबाहुल्याभावेनया मूर्च्छिवाधिक्येन वा सेवितः सम्भगमुपिष्ठः दृढभूमिर्भवतीति पक्षितार्थः दृढा स्थिरा भूमिर्भवत्यति समासः १४

साधक विचार से शुद्ध परीक्षारम्भ का नाम वैराग्य है । अग्नि प्राय यह है कि जो गीत वरा में नहीं है उसका अपन वरा में नहीं है उसका अपन वरा में करके इक्षरपयण हाकर अम्य विषय का इच्छा न करने का वैराग्य कहते हैं ॥ १५ ॥

आगे वैराग्य का लक्षण कहेंगे ।

भाषा—श्री अन्नपान आदि राग्य पम्पन्त मत्र सांसारिक विषयों की आपत्ति से इच्छा न करना यह पारलौकिक विषयों का भी इच्छा न करना अर्थात् पित्त का समस्त विषयवासना से इत्यादि अपन वरा में करके इक्षर म लग्न रखन का वैराग्य कहते हैं । यथायत्न यह है कि वैराग्य के समान अम्य काई मा मुम्य नहीं क्योंकि जिसके वरा में आप ही और फिर उस ही का अपन वरा में करते इससे अधिक और क्या मुख हागा । सर्व परवर्ष दुःख मधमात्मपरी मुत्तम' ॥ १६ ॥

(१६) सू १६०—अथ मुमुक्षु सप विषयों का त्यागना लक्ष्मी के अन्तर्गत योग में लगना अतएव वैराग्य भी योग का साधन है ।

भा० १—द्विविधा हि विषया दृष्टव्यानुमविष्य । एत इदेषाप ल यमान शान्तिः न चला कलावानुमविष्य । अनुभूयत गुरुमुखा-
नित्यनयसा नदन्तन कामममान गतअनुमविष्य तथाद्वयारपि विषय या पारणामाश्रम वगणनादिगतगधस्य या परीकार सदा ।
ममतवदया नाहमतर्पा वदय इति याऽयंविमरोस्तद्वैराग्यमुच्यते ।
तर्प्यो र अपमाह

श्रव अर्थात् वेद से जिन विषयों का ज्ञान होता है वे आनुभविक विषय कहते हैं, इन दोनों विषयों को परिणामी अर्थात् अनित्य जानकर निर्लोभी की जो वशीकारसंज्ञा अर्थात् मेरे वश में विषय हैं मैं विषयों के वश में नहीं हूँ इस विचार को वैराग्य कहते हैं, इस ही के विशेष रूप को आगे कहते हैं ॥ १५ ॥ ❀

तत्परं पुरुषख्यातेगुणवैतृष्यम् ॥ १६ ॥

पदार्थ—(तत्) वह वैराग्य (परमपुरुषख्यातेः) ईश्वर के पूर्ण और यथार्थज्ञान हो जाने से (गुणवैतृष्यम्) प्रकृति के गुण अर्थात् सत्व रज तम और उनके कार्य में तृष्णा रहित होना है ॥ १६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के पूर्णज्ञान हो जाने से जो प्रकृति के गुण और कार्यों में अरुचि होती है उसे वैराग्य कहते हैं ॥ १६ ॥

व्या० भा०—दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषः दर्शनाभ्यासातच्छुद्धिं प्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेश्वरो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति तत्तद्वयं वैराग्यं तत्र यदुत्तरं तत्तज्ज्ञानप्रसादो मात्रं यस्योदये स तियोगी प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते प्राप्तं प्रापणीयं क्षीणा क्षेतव्याः क्लेशाः छिन्नः श्लिष्टपूर्वो भवसंक्रमो यस्याविच्छेदात् जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायतइति ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् एत

❀ तच्छब्देनात्र पूर्वोक्त वैराग्यं गृह्यते, पूर्वोक्तलक्षणलक्षितं वैराग्यं पुरुषख्यातेः पुरुषस्येश्वरस्य ख्यातिज्ञानम्, ईश्वरज्ञानामन्तरमेनी तृष्टं वैराग्यमुत्पद्यते नान्यथेति भावार्थः ॥ १५ ॥

प्राय के विचार से क्षुब्ध यशीकारसंज्ञा का नाम वैराम्य है । अग्नि प्राय यह है कि जो बीज वरा में नहीं है उसको अपने वरा में नहीं है उसका अपने वरा में करके ईश्वरपरायण होकर अम्य विषय की इच्छा न करने को वैराम्य कहते हैं ॥ १५ ॥

आगे वैराम्य का लक्षण कहेंगे ।

साधारण—जो अन्नपान आदि साम्य पर्यन्त सब सांसारिक विषयों की दोषदृष्टि से इच्छा न करना एवं पारलौकिक विषयों की भी इच्छा न करना अर्थात् चित्त को समस्त विषयवासना से हटाकर अपने वरा में करके ईश्वर में लय रहने को वैराम्य कहते हैं । साधारण तो यह है कि वैराम्य के समान अम्य कोई भी सुख नहीं क्योंकि जिसके वरा में आप हो और फिर उस ही का अपने वरा में करके इससे अधिक और क्या सुख होगा । सर्व परवशी दुःखं सर्वमात्मवशी सुखम्” ॥ १५ ॥

(१५) सू० वि०—अथ मुमुक्षुः सः विषयो ह्यगोपात्तुमविकल्पः । तस्य शब्दोपलब्धमानः शब्दादिः देवताकृतावानुमविकल्पः । अनुमप्ये गुरुमुखादिस्थानुमयो वदस्त्वम आसमभीदे गतअनुमविकल्पः तपोवैचारपि विषयः याः परिणामविरसत्त्वदर्शनाद्विगतगर्भस्य या वशीकार संज्ञा । समैवेवस्या नाहमेतया वरय इति योऽयं विमर्शस्तदैराम्यमुच्यते ॥ १६ ॥ तस्यैवपि सेवमाह

मो० वृ०—विषयो हि विषयो ह्यगोपात्तुमविकल्पः । तस्य शब्दोपलब्धमानः शब्दादिः देवताकृतावानुमविकल्पः । अनुमप्ये गुरुमुखादिस्थानुमयो वदस्त्वम आसमभीदे गतअनुमविकल्पः तपोवैचारपि विषयः याः परिणामविरसत्त्वदर्शनाद्विगतगर्भस्य या वशीकार संज्ञा । समैवेवस्या नाहमेतया वरय इति योऽयं विमर्शस्तदैराम्यमुच्यते ॥ १६ ॥ तस्यैवपि सेवमाह

भास वृत्ति भा०—विषय हो प्रकार का है एक दृष्ट दूसरा अनुमविकल्प । अन्नका इसही लोक में भाग किया जाता है उन्हें दृष्ट विषय कहते हैं देवलोक अर्थात् स्वर्गादिक अनुमविकल्प विषय कहते हैं अब गुरुमुखा से सुना आप इसे अनुमविकल्प कहते हैं अनु

अब अर्थात् वेद से जिन विषयों का ज्ञान होता है वे आनुश्रविक विषय कहाते हैं, इन दोनों विषयों को परिणामी अर्थात् अनित्य जानकर निर्लोभी की जो वशीकारसंज्ञा अर्थात् मेरे वश मे विषय हैं मैं विषयों के वश मे नहीं हूँ इस विचार को वैराग्य कहते हैं, इस ही के विशेष रूप को आगे कहते हैं ॥ १५ ॥ ❀

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्यम् ॥ १६ ॥

पदार्थ—(तत्) वह वैराग्य (परमपुरुषख्यातेः) ईश्वर के पूर्ण और यथार्थज्ञान हो जाने से (गुणवैतृष्यम्) प्रकृति के गुण अर्थात् सत्व रज तम और उनके कार्य में तृष्णा रहित होना है ॥ १६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के पूर्णज्ञान हो जाने से जो प्रकृति के गुण और कार्यों में अरुचि होती है उसे वैराग्य कहते हैं ॥ १६ ॥

व्या० भा०—दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषः दर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिं प्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति तत्तद्वयं वैराग्यं तत्र यदुत्तरं तत्ज्ञानप्रसादो मात्रं यस्योदये स तियोगी प्रत्यूदितख्यातिरेवं मन्यते प्राप्तं प्रापणीयं क्षीणा चेतव्याः क्लेशाः छिन्नः श्लिष्टपूर्वो भवसंक्रमो यस्याविच्छेदात् जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायतइति ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् एत

❀ तच्छब्देनात्र पूर्वोक्त वैराग्यं गृह्यते, पूर्वोक्तलक्षणलक्षितं वैराग्यं पुरुषख्यातेः पुरुषस्येश्वरस्य ख्यातिर्ज्ञानम्, ईश्वरज्ञानामन्तरमेनी तृष्टं वैराग्यमुत्पद्यते नान्यथेति भावार्थः ॥ १५ ॥

स्येव हि नांतरोपक कैवल्यमिति ॥ १६ ॥

अप्रोपायद्वयेन निरुद्धचित्तवृत्तेः कथमुच्यते सम्प्रज्ञातः समा-
धिरिति ॥ १६ ॥

भा० का ५०—लौकिक और पारलौकिक विषयों में दोष
देखकर विरक्त अर्थात् मग्न हुआ पुरुष शास्त्रविचार और योगा-
भ्यास से चित्त की शुद्धि हासिल है और उससे बुद्धि निर्मल होती
है । प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष गुणों से उत्पन्न होना यह दोनों प्रकार
का वैराग्य होता है । इन दोनों में जो विद्वत्ता वैराग्य है वह केवल
ज्ञान का साधन है जिसके उदय होने पर अद्विष्ट हुए ज्ञान से मुमुक्षु
ऐसा मानता है जिसकी मुझे इच्छा थी उसे मैंने पाया जिनका मैं
घृण करना चाहता था वे मेरे अज्ञेय दूर हो गये जिसकी सम्भिर्यो
परस्पर एक से दूसरी सटी हुई हैं यह संसारमयी बेड़ी टूट गयी,
जिसके बिना विच्छिन्न हुये जन्म लेकर मरता है और मरकर जन्म
लैता है इस ज्ञानही की अधिकता को वैराग्य कहते हैं इसी वैराग्य
के विमलरहित अभ्यास करने से मोक्ष होता है ॥ १६ ॥ अब दोनों
स्वाध्यायों से निरुद्धचित्तवृत्तिवाले का सम्प्रज्ञात याग कैसे होता है ?

भाषाये—लौकिक और पारलौकिक विषयों में विरक्त पुरुष
का विशुद्ध वाच्य बुद्धि शुद्ध होने से स्पृह और सूक्ष्म गुणों में विर-
क्तता होने से शुद्ध ज्ञान उदय होता है और उस समुद्र्य का यह
ज्ञान होता है कि मुझे प्राप्य सुख की प्राप्ति हुई है और देय दुःखों
का नाश हुआ है । जिस अज्ञान से जन्म लेकर मरता है और मर-
कर फिर जन्म लेता है, वह भी नष्ट हो गया इस ज्ञान का दृढ़
होना ही वैराग्य कहलाता है इस ज्ञान की निर्विघ्न स्थिति से
मात्र होता है इस वैराग्य द्वारा जिसकी चित्तवृत्ति निरुद्ध हो गई
है उसका सम्प्रज्ञात समाधि होती है ॥ १६ ॥

भो० वृ०—तद्वैराग्यं परं प्रकृष्टं प्रथमं वैराग्यं विषयविषयं
द्वितीय गुणविषयं उत्पन्नगुणपुरुषविवेकख्यातेरेव भवति, निरोध-
समाधेरत्यन्तानुकूलत्वात् ॥ १६ ॥

एवम् योगस्य स्वरूपमुक्त्वा सम्प्रज्ञातस्वरूपभेदमाह ।

भो० वृ० भा०—यह वैराग्य उत्तम और प्रथम विषयविषयक
है अर्थात् प्रथम संसार के विषयों में दोषदृष्टि से उन्हें त्यागने की
इच्छा उत्पन्न होती है, दूसरा गुणविषयक वैराग्य है, वह परम
पुरुष के ज्ञान से उत्पन्न होता है अर्थात् परमात्मज्ञान से प्रकृति के
समस्त गुणों में वितृष्णा उत्पन्न होती है । यह वैराग्य समाधि में
अत्यन्त सहायक है । इस रीति से योग का लक्षण कहके अब
योग के सम्प्रज्ञात भेद का वर्णन करते हैं ।

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः १ ७

पदार्थ — (वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्)
वितर्क उसे कहते हैं जिससे सर्व पदार्थों का स्थूल विचार
किया जाता है और जिससे सूक्ष्म विचार किया जाता है
उसे विचार कहते हैं, जिससे सन्तोष प्राप्त हो उसे आनन्द
कहते हैं अस्मिता उस ज्ञान को कहते हैं जिसके द्वारा जीव
को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जैसे मैं पाँचभौतिक शरीर से
भिन्न हूँ, ऐसे ही ईश्वर से भी भिन्न हूँ, यहाँ पर अनुगत
शब्द का “द्वंद्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते” इस
न्याय से प्रत्येक के संग में योग होता है इन चार भेदों से
चार प्रकार का (सम्प्रज्ञातः) संशय जिसमें संशय विप-

योगी का उसमें कैसा स्वभाव रहता है यह अगले सूत्र में कहते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—वितर्क उसे कहते हैं जो चित्त के स्थिर करने में स्थूल आश्रय होता है जैसे घट के कारण मृत्ति का कारण त्रसरेणु त्रसरेणुका कारण-द्वयणुक ऐसे ही लक्ष्य पर स्थूल दृष्टि रखने को वितर्क कहते हैं और वितर्कानुगत योग वह है जिसमें वितर्क का आश्रय लिया जाय जैसे समाधिसमय में यह विचारना कि इस जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई है पुनः उसके द्वारा समस्त सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर में चित्त को लगा देना । विचार उसे कहते हैं जिससे सूक्ष्म वस्तुओं का विचार किया जाय और विचारानुगत योग वह है जिसमें चित्त और शरीर के सूक्ष्म अवयव तथा रजो कार्य से असाध्य उत्पत्ति समझ कर जगतकर्त्ता को अत्यन्त ही निपुण शिल्पी है उसमें अपनी स्थिति को सम्पादन करता है सन्तोष को आनन्द कहते हैं जिसमें पूर्वोक्त दो समाधि से सम्पूर्ण पदार्थों को यथा रूप में जानकर और अपने को सब जड़ पदार्थ तथा स्थूल शरीर से भिन्न जानकर महाआनन्द अर्थात् सन्तोष होता है उसे आनन्दानुगत कहते हैं और अस्मितानुगत वह है जिसमें जीव अपने स्वरूप ही को केवल विचारता है क्योंकि जब तक अपने स्वरूप को अच्छी प्रकार से नहीं जानेगा तब तक योगी स्थिर-चित्त नहीं हो सकता अब दूसरे असम्प्रज्ञात योग का लक्षण अगले सूत्र में कहेंगे ।

विशेष सू० योग वा समाधि दो प्रकार की है एक सम्प्रज्ञात दूसरी असम्प्रज्ञात, सम्प्रज्ञात का लक्षण यह है “संशयविपर्ययरहितत्वेन प्रकर्षेणोत्कृष्टतया ज्ञायते भाव्यस्य रूपं येन स सम्प्रज्ञात ” संशय और विपर्ययरहित उत्तम प्रकार के ध्येय का जिससे रूप-जाना जाय उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं और विशेष चिन्तन

र्ययश्चन्य ध्येय का तथा न्याता का निश्चय हो वह सम्प्रज्ञात योग है ॥ १७ ॥

भावार्थ—सम्प्रज्ञात योग चार प्रकार का है चित्तकान्तुगत, विचारानुगत आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भेद से ।

न्या० मा० वितर्कः चित्तस्यालम्बने स्थूलभ्रामोः ।
सूक्ष्मो विचारः । आनन्दोन्मेषः । एकात्मिकासंविदस्मिता
तत्र प्रथम चतुष्टयानुगत समाधिः सवितर्कः । द्वितीयो
वितर्कविकल्तः सविचारः तृतीयो विचारविकल्तः आनन्दः
चतुर्थस्तद्विकल्तः अस्मितामात्र इति । सर्व एते सात्त्विकानां
समाधयः ॥ १७ ॥ अथासम्प्रज्ञातः समाधिः किमुपायः
किं स्वभावो वेति ।

पदार्थ—वितर्क चित्त के आश्रय में स्थूल पूर्णता अर्थात् विचार
अथवा स्थूल विषय सम्बन्ध सूक्ष्म सम्बन्ध को विचार कहते हैं
आनन्द संतोष को कहते हैं एक जीव ही जिसमें विचार्य रहता है
वह ज्ञान अस्मिता कहलाता है उन दोनों समाधियों में पहिला
अर्थात् सम्प्रज्ञात योग चारों के अनुगत है वितर्कानुगत विचारा-
नुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत पहिला वितर्कानुगत
सावितर्क अर्थात् स्थूल आश्रय के सहित होता है दूसरा वितर्क-
रहित विचारके सहित होता है इसलिये उसे विचारानुगत कहते हैं
तीसरा विचाररहित और आनन्द के सहित होता है चौथा अर्थात्
उस आनन्द से रहित केवल अस्मिता अर्थात् अपने ही स्वरूप का
विचार इसमें रहता है ये चारों आत्मा अर्थात् आश्रय के सहित
योग होते हैं इसके पश्चात् असम्प्रज्ञात योग का क्या उपाय है

योगी का उसमें कैसा स्वभाव रहता है यह अगले सूत्र में कहते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—वितर्क उसे कहते हैं जो चित्त के स्थिर करने में स्थूल आश्रय होता है जैसे घट के कारण मृत्ति का कारण त्रसरेणु त्रसरेणुका कारण-द्वयणुक ऐसे ही लक्ष्य पर स्थूल दृष्टि रखने को वितर्क कहते हैं और वितर्कानुगत योग वह है जिसमें वितर्क का आश्रय लिया जाय जैसे समाधिसमय में यह विचारना कि इस जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई है पुनः उसके द्वारा समस्त सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर में चित्त को लगा देना । विचार उसे कहते हैं जिससे सूक्ष्म वस्तुओं का विचार किया जाय और विचारानुगत योग वह है जिसमें चित्त और शरीर के सूक्ष्म अवयव तथा रजो कार्य से असाध्य उत्पत्ति समझ कर जगत्कर्त्ता को अत्यन्त ही निपुण शिल्पी है उसमें अपनी स्थिति को सम्पादन करता है सन्तोष को आनन्द कहते हैं जिसमें पूर्वोक्त दो समाधि से सम्पूर्ण पदार्थों को यथा रूप में जानकर और अपने को सब जड़ पदार्थ तथा स्थूल शरीर से भिन्न जानकर महाआनन्द अर्थात् सन्तोष होता है उसे आनन्दानुगत कहते हैं और अस्मितानुगत वह है जिसमें जीव अपने स्वरूप ही को केवल विचारता है क्योंकि जब तक अपने स्वरूप को अच्छी प्रकार से नहीं जानेगा तब तक योगी स्थिर-चित्त नहीं हो सकता अब दूसरे असम्प्रज्ञात योग का लक्षण अगले सूत्र में कहेंगे ।

विशेष सू० योग वा समाधि दो प्रकार की है एक सम्प्रज्ञात दूसरी असम्प्रज्ञात, सम्प्रज्ञात का लक्षण यह है “संशयविपर्ययरहितत्वेन प्रकर्षणोत्कृष्टतया ज्ञायते भाव्यस्य रूपं येन स सम्प्रज्ञातः” संशय और विपर्ययरहित उत्तम प्रकार के ध्येय का जिससे रूप-जाना जाय उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं और विशेष चिन्तन

का नाम समाधि है ।

भो० पु०—समाधिरिति शेषः सम्यक् संशयविपर्ययवहितत्वन
प्रज्ञायते प्रकर्षेण व्यस्यते भाव्यस्य रूपं येन स संप्रज्ञातः । समाधि-
र्मायनाविशेषः । स वितर्कादिभेदास्तुविषयः सवितर्कः सविचारः
सानन्दः सास्मित्यम् । भावना भाव्यस्य विषयान्तरपरिहारेण
चेतसि पुनः पुननिवेशनम् । भाव्यञ्च द्विविधम्—ईश्वरस्तनित्यानि
च । साम्यपि द्विविधानि जडाजकपेदात् । सद्धानि चतुर्विधाणि ।
अजकपुरुषाः । तत्र यदा महाभूतानीन्द्रियाणि स्पर्शनानि विषयस्वना
दाय पूर्वापरानुसम्माननं शब्दायोस्त्रस्तसम्भेदेन च भावना क्रियते
तदा सवितर्कः अस्मिन्मेव तन्मने पूर्वापरानुसन्मानरागोम्भेकशून्य-
त्वेन यदा भावना प्रवर्तते तदा निर्वितर्कः । तन्मात्रान्तरकरणासृष्टं
सूक्ष्मविषयमात्रमभ्य तस्य देशकालधर्मावच्छेदेन यदा भावना प्रव-
र्तते तदा सविचारः । तस्मिन्मनस्य तन्मने देशकालधर्मावच्छेदं
विना धर्ममात्रावमासिरपेक्ष भावना क्रियमाणा निर्विकार इत्युच्यते
एवं पर्यन्तः समाधिप्राप्त्यसमापत्तिरिति व्यपदिश्यते । यदा तुर-
तस्तमोक्षेशामुपिच्छमन्तःकरणसत्त्वं भाव्यते तदा गुणभावाविति-
शक्तः सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्भूतं सानन्दः
समाधिर्मवति अस्मिन्मनस्य समाधौ ये यद्वपुतयस्तत्स्थान्तरं प्रधान-
पुरुषरूपं न पश्यन्ति तं विगतबेदाहङ्काररवादिबेदशब्दवाच्याः ।
इयं महेशसमापत्तिः । ततः परं रजस्तमोक्षेशानमिमूर्तं शुद्धसत्त्वमा-
त्रमवनीकृत्य वा प्रवर्तते भावना तस्यां प्राज्ञस्य सत्त्वस्य व्यभिचान्
चितिशब्दच्छेदात् सत्तामात्रविशेषत्वेन समाधिः सास्मित इत्यु-
च्यते । नचाहङ्कारास्मितमारमेदः शङ्कनीयः ? पतो यथान्तःकरण
महमिति छत्वेन विषयान् वेदयते सोऽहङ्कारः । यत्रान्तर्मुखतया
प्रतिसोमपरिणामे प्रकृतिस्तीने चेतसि सत्तामात्रं अवभाति सास्मिता
अस्मिन्मनस्य समाधौ ये कृतपरितोषाः परमात्मानं पुरुषं न पश्यन्ति

तेषां चेतसि स्वकारणे लयमुपागते प्रकृतिलयाइत्युच्यन्ते । ये परं पुरुषं ज्ञात्वा भावनायां प्रवर्तन्ते तेषामियं विवेकख्यातिर्ग्रीहीतुसमापत्तिरित्युच्यते । तत्र सम्प्रज्ञाते समाधौ चतस्रोऽवस्थाः शक्तिरूपतयाऽवतिष्ठन्ते । तत्रैकैकस्यास्त्यागे उत्तरोत्तराग्राह्या इति चतुरवस्थोऽयं सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

असंप्रज्ञातमाह ।

भोज वृ० का भा०—संशय और विपर्यय में रहित उत्तम रीति से समाधि द्वारा जिसमें ज्ञेय का रूप जाना जाता है उस बोध को सम्प्रज्ञात कहते हैं, वह समाधि अर्थात् सम्प्रज्ञात योग वितर्कादि भेद से ४ प्रकार का है, सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित भावना भाव्य अर्थात् ध्येय का ही बारम्बार चित्त में चिंतन करना और दूसरे विषय को चित्त में न लाना । ध्येय दो प्रकार के हैं— एक ईश्वर दूसरे तत्त्व । तत्त्व भी दो प्रकार के हैं जड़ और चैतन्य, जड़ तत्त्व २४ हैं और चैतन्य केवल जीव है । जब महाभूत और इन्द्रियों को विषय बना के और उनके पूर्वापर को विचार कर शब्द और अर्थों के विचार द्वारा ध्यान किया जाता है तब वह सवितर्क समाधि कहाती है । इस ही आश्रय से पूर्वापर के शब्द और अर्थों के विचार को त्याग कर जो समाधि की जाती है उसे निर्वितर्क समाधि कहते हैं । जिसमें केवल अन्तःकरण की तन्मात्रा ही सूक्ष्मविषय हों देश और काल के सम्बन्ध को विचार कर जो समाधि की जाती है उसे सविचार समाधि कहते हैं । उक्त आधार से देश और काल के विचार को त्याग कर केवल गुणों के परिज्ञान से जो समाधि की जाती है उसे निविचार समाधि कहते हैं । यहाँ तक जो समाधि की जाती है उन्हें ग्राह्यसमापत्ति कहते हैं, जिस समय रजोगुण और तमोगुण के थोड़े से अंश से युक्त हुआ मन जान पड़ता है, उस समय सत्त्वगुण सुखस्वरूप दो चित्त में

संचारित रहता है इस कारण से वह समाधि भी सामान्य कहाती है इस सामान्य समाधि ही में जिसकी धारणा रह हो जाती है वह प्रियेष्ट कहलाते हैं क्योंकि इन लोगों को समाधिसमय में शरीर और जीव का भी बोध नहीं रहता है, यह अवस्था माह्यसमापत्ति कहाती है। इसके पश्चात् रजोगुण और तमोगुण के लेश से रहित शुद्ध सत्त्वगुण का आश्रय करके जो समाधि की जाती है उसमें माह्य के पृथक् होने से तथा चित्तिशक्ति की प्रयत्नता से सत्तामात्र जो समाधि होती है उसे सास्मित समाधि कहते हैं यह कार और अस्मिता के एक होनेकी शक्ति न करनी चाहिये क्योंकि अहंकार उसे कहते हैं जिसमें मैं हूँ इस अभिमान के साथ बाह्य विषय का ज्ञान होता है और अस्मिता यह है जिससे अन्तर्मुख हाके चित्त प्रकृति में बंध लय हो जाता है इसही समाधि में जिन का सम्तोष होता है और जो परमात्मा को नहीं देखते हैं वह प्रकृतिकृत कहते हैं जो परमपुरुष परमात्मा का ज्ञानकर समाधि में प्रयुक्त होते हैं उनका चित्तेकग्राम महीतसमापत्ति में पूर्ण करी जाये अवस्था शक्ति रूप से रहती है उनमें से पहली अवस्थाओं को त्याग कर पिछली अवस्थाओं का ग्रहण करना चाहिये ॥१५॥

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्व ॐ संस्कारशेषोन्त्य ॥१६॥

पदार्थ—(विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्व) समस्त चित्त वृत्तियों के अवसान अर्थात् अन्त को विराम कहते हैं उस विराम का जो प्रत्यय अर्थात् ज्ञान के धारम्बार अभ्यास

ॐ संस्कार अर्थात् वह गुण जो निमित्त के नाश होने पर भी किंचितमात्र गुण रह जाता है।

पूर्वक (संस्कारशेषः) जिसमें केवल संस्कार ही शेष हैं, अर्थात् निरावलम्ब अवस्था (अन्यः) असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है ॥ १८ ॥

भावार्थ—जिसमें चित्त की समस्तवृत्तियों का अवसान(अन्त) हो जाता है उस चित्तकादि के अभाव ज्ञान की बारम्बार विचार पूर्वक केवल संस्कार ही शेष रहते हैं उस निरालम्ब समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं परन्तु चित्तवृत्तिनिवृत्ति का मुख्य कारण वैराग्य है ॥ १८ ॥

व्य० भा०—सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोध-
चित्तस्य समाधिरसम्प्रज्ञातः तस्य परं वैराग्यमुपायः सालम्ब-
ऽहम्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययोनिर्वस्तु-
कअलम्बनीक्रियते स चार्थशून्यः तदम्यासपूर्वकंहि चित्तं
निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्वीजः समाधिरसंप्र-
ज्ञातः स खल्वयं द्विविध उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च तत्रो-
पायप्रत्ययो योगिनां भवति ॥ १८ ।

पदार्थ—सब वृत्तियों के अस्त हो जाने पर जिसमें केवल संस्कार ही शेष रह जाते हैं वह चित्त का निरोध असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है उस असम्प्रज्ञात समाधि का परम उपाय वैराग्य है चित्तकादि के आश्रय से जो प्राणायाम का अभ्यास वह उक्त असम्प्रज्ञात समाधि के सिद्ध करने को युक्त नहीं है चित्त वृत्तियों को अभाव ज्ञान अथवा विषयों में विरक्ति निर्वस्तुक अर्थात् निराकार परमेश्वर के आश्रय में दृढ़ करता है वह निरालम्ब असम्प्रज्ञात समाधि सांसारिक प्रयोजन से रहित होती है उसके

अभ्यास से चित्त निराश्रय होने से ऐसा मान होता है कि माना है ही नहीं इस निर्बीज अर्थात् निराश्रय समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं सा यह निर्विकल्प असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार की है उपायप्रत्यय और भयप्रत्यय । इन दोनों में से उपायप्रत्यय योगियों को होती है ॥ १८ ॥

भाषार्थ—जब चित्त की समस्त वृत्तियाँ अस्त हो जाती हैं और केवल संस्कार छेप रह जाते हैं तब असम्प्रज्ञात समाधि होती है उसकी प्राप्ति का परम उपाय वैराग्य है आत्मनसहित कोई उपाय उसकी प्राप्ति का साधन नहीं है सांसारिक विषय से रहित होती है केवल दृश्य पदार्थों में विरक्ति और आकाररहित पुरुषेश्वर स्थिति एवम् प्राणायाम उसका साधन है जिससे चित्त का अभ्यास सा मान होने लगता है असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद हैं एक उपायप्रत्यय दूसरा भयप्रत्यय इन दोनों में से उपायप्रत्यय योगियों को होती है ॥ १८ ॥

भा० पु०—विरम्यतेऽननति विरामो चित्तर्कादिचिन्तात्यागः । विरामस्यासौ प्रत्ययमेति विरामप्रत्ययस्तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन चेतसि निवेशनम् । तत्र या काचित् वृत्तिरुत्पद्यते तस्या नति नेतीति नैरन्तर्येण पशु वसनं यत्पूर्वः सम्प्रज्ञात समाधिः संस्कारा शेषान्यः तद्विलक्षणोऽयमसम्प्रज्ञात इत्यर्थः । न तत्र किञ्चिद्द्वेषं सम्प्रज्ञापत इत्यसम्प्रज्ञातो निर्बीजः समाधिः । इह चतुर्विधः चित्तस्य परित्यागः व्युत्थान समाधिप्रारम्भो निरोध एकाग्रता च तत्र चित्तमूढे चित्तमूमि व्युत्थानम् विचित्रा भूमिश्च । सत्त्वाद्वात् समाधिप्रारम्भः । निरुद्धैकाग्रता च पर्यन्तमूमि । प्रतिपरित्यागस्य संस्काराः तत्र व्युत्थानवनिताः संस्काराः समाधिप्रारम्भोऽसंस्कारैः प्रत्याह्वयन्त तद्वशाच्चैकाग्रताच्चैः निरोधवनिताश्चैकाग्रताश्च संस्काराः स्वरूपस्य इत्यन्ते । यदा सुषण्यं सर्वहितं ध्यायमानं सीस-

कमात्मानं सुवर्णमलञ्च निर्दहति । एवमेकाग्रताजनितान् संस्कारान् निरोधजाः स्वात्मानञ्च निर्दहन्ति ॥ १८ ॥ तदेवं योगस्य स्वरूपं भेदञ्च संक्षेपेणोपायोश्च अभिधाय विस्तरूपेणोपायं योगाभ्यास-पददर्शनपूर्वकं वक्तुमुपक्रमते ।

भो० बृ० का भा०—जिसके द्वारा वितर्कादिकों की चिन्ता को प्राणा जाता है उसे विराम कहते हैं विरामरूप प्रत्यय अर्थात् मनको बारम्बार चित्तमें धारण करने को विरामप्रत्ययाभास कहते हैं । फलितार्थ यह हुआ कि सब वृत्तियों के निवारण करने को विरामप्रत्ययाभ्यास कहते हैं । जिसमें विरामप्रत्ययाभास होता है उसे संप्रज्ञात समाधि और उससे जो विलक्षण समाधि हो उसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं । असम्प्रज्ञात योग निर्जीव समाधि का ही नाम है चित्त का परिणाम ४ प्रकार का है व्युत्थान समाधि प्रारम्भ, निरोध और एकाग्रताक्षिप्त मूढ़ भूमिकाओं में जो चित्त का परिणाम रहता है उसे व्युत्थान कहते हैं, सत्त्व-गुण से समाधि का प्रारम्भ होता है, समाधि के संस्कारों से व्युत्थान के संस्कारों का नाश होता है समाधि प्रारम्भ के उत्पन्न हुए संस्कार एकाग्रता के संस्कारों से नाश होते हैं, ऐसे ही एकाग्रता के संस्कार विरोध से नष्ट हो जाते हैं, जैसे सोने में मिला हुआ सीसा आग में रखने से सोने के मैल को जला कर आप भी जल जाता है, ऐसे ही निरोध के संस्कार एकाग्रता के संस्कारों को नाश करके आप भी लय हो जाते हैं ।

इस प्रकार से योग के भेद और सक्षिप्तरीति से उपाय दिखलाके योग के उपायों को विस्तार के साथ कहते हैं ॥ १८ ॥

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

पदार्थ—(भवप्रत्ययः) भव जो जगत् अथवा

अविद्या उसका प्रत्यय अर्थात् ज्ञान जिसमें रहता है उसे भवप्रत्यय कहते हैं (विदेहप्रकृतिलयानाम्) विदेह प्रकृतिसत्त्वों को "भवतीति शेषः" होता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—भवप्रत्यय विदेहसत्त्व और प्रकृतिलयसंज्ञक योगियों को होता है विदेहानां देवानां भिन्नप्रत्ययः तेषां स्वसंस्कारमाश्रययोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाक तथा मातृयकमतिवाहयन्ति तथा प्रकृति सत्त्वाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलोने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्तते अधिकारवशाच्चित्तमिति ॥ १६ ॥

पदार्थ—विदेहसत्त्व अर्थात् वेहरहित जो आत्मसत्ता उसमें सब अर्थात् तत्पर योगी हैं वे विदेहसत्त्व कहते हैं कामादि राग दुःखा निन्द इन्द्रियों को जीतने वालों को भवप्रत्यय नामक समाधि होती है क्योंकि वे अपने संस्कार की सहायता से चित्त द्वारा मोक्ष के सुख भोगत हैं अपने संस्कार के फल का संस्कार के समान ही निर्वाह करते हैं अर्थात् जैसा उनका अगमात्सरीय सुख संस्कार होता है वैसे ही सुखापरण तथा सुख ध्यानादि भी रखते हैं । ऐसे ही अव्याकृत प्रकृति उसमें जो संसन्न योगी हैं वे अपने अधिकारसुख चित्त में प्रकृति में लीन हो कर मोक्ष के सुख का अनुभव करते हैं अर्थात् प्रकृति सब नामक योगी सांसारिक पदार्थों की मिथि का परमपद मान लेता है जबतक फिर न अपनी पूर्वावस्था में छोटकर आवे तभी तक वह मोक्षसुख रहता है क्योंकि उसके चित्तमें प्राकृत पदार्थों का अधिकार अर्थात् सम्बन्ध निवृत्त नहीं हुआ है ॥ १६ ॥

भा० अ० सा०—विदेहसत्त्व योगी अपने संस्कारमात्र से मोक्ष सुख को प्राप्त होते हैं क्योंकि जैसा उनका सुख संस्कार होता है

वैसा ही उनको शुद्ध फल भी मिलता है और प्रकृतिलय योगी-
तभी तक मोक्ष के सुख का स्वाद लेते हैं जब तक वे ध्यानावस्थित
रहते हैं परन्तु जब उन का चित्त प्राकृतिक पदार्थों में अपने अधि-
कार के अनुसार लग जाता है तब वह सुख भी नहीं रहता ॥१६॥

आ० वृ०—विदेहाः प्रकृतिभूमिकाः सृत्रन्याख्याताः तेषां
समाधिः भवप्रत्ययः भवः संसारः स एव प्रत्ययः कारणं यस्य स
भवप्रत्ययः अयमर्थः अधिमात्रान्तर्भूता एव ते संसारे तथाविध-
समाधिभाजो भवन्ति । तेषां परतत्वादर्शनाद् योगाभासोऽयम् अत-
परतत्त्वज्ञाने तद्भावनायाञ्च मुक्तिकामेन महान् यत्नो विधेयः
इत्येतदर्थमुपदिष्टम् ॥ १६ ॥ तदन्येषान्तु

भो० वृ० भा० विदेह और प्रकृतिलय योगियों का वर्णन पूर्व
कर चुके हैं उनकी समाधि भवप्रत्यय होती है । भव कहते हैं संसार
को, वही है प्रत्यय अर्थात् कारण जिसका वह भवप्रत्यय कहाता
है फलितार्थ यह हुआ कि वह लोग अधिमात्र के अन्तर्गत हैं
उनको समाधि होती है परन्तु वह परमतत्त्व परमेश्वर को नहीं
देख सकते हैं इसलिये उनकी समाधि योगाभास कहाती है । इस
कारण से योगी को चाहिये कि परमतत्त्व क जानने से उसके ध्यान
करने में मुक्ति पाने की इच्छा से महान् यत्न करे ॥ १६ ॥

इनसे भिन्न लोगों को अर्थात् जिन लोगों को अभी इच्छामात्र
उत्पन्न हुई है उनकी समाधिसिद्धि का उपाय अगले सूत्र में
कहते हैं ।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् । २० ।

पदार्थ—(इतरेषाम्) विदेहलय और प्रकृतिलय
नामक योगियों से भिन्न मुमुक्षुओं को (श्रद्धावीर्यस्मृति-
समाधिप्रज्ञापूर्वकः) श्रद्धा, उत्साह, स्मृति, एकाग्रचित्तता

और यथार्थ ज्ञान से उपायप्रत्यय योम होता है ॥ २० ॥

मायातै—पूर्वोक्त योगियों से भिन्न सुमुमुक्षुओं का योग, भ्रष्टा, अस्माह, स्मृति, समाधि प्रज्ञा से होता है इसी से यह उपायप्रत्यय कहा जाता है ॥ २० ॥

भ्या० मा०—उपायप्रत्योयोगिना मयसि भद्रा चेतसः
समप्रसादः । सा हि मननीय कस्याञ्चो योगिर्न पाति । तस्य
हि भद्रदधानस्य विवेकायिनो धीर्यमुपप्राप्यते । समुपप्राप्त
धीर्यस्य स्मृतिरूपविष्ठते स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं
समाधीयते । समाहितचित्तस्य प्रज्ञा विवेक उपावसते । तेन
यथावद्वस्तु जानाति तदस्यासात्तद्विषयान्च धैर्यात्प्रसम्प-
दात्तः समाधिमवति ॥ २० ॥ ते सन्तु नवयोगिनो मुदु
मध्याधिमात्रोपाया मयन्ति । तद्यथा मृदूपायो मध्योपायो-
ऽधिमात्रोपायरश्च ॥ २० ॥

पदार्थ—उपायप्रत्यय नामक योग योगियों को होता है यह
पूर्व कह चुके हैं परन्तु कैसे यागी को होता है ? चित्त की प्रसन्नता
का भद्रा कहते हैं, उससे मुक्त यागी ही उस योग का अधिकारी
है । यह प्रसन्नतायुक्त क्योंकि यह भद्रा माता के समान हित चाहने
वाली, यागी का रक्षा करती है उस भद्रामुक्त अस्यासत्य आनन्द की
इच्छा है जिसको उस यागी का अस्माह अल्प होना है जब उसका
अस्माह होता है फिर उसे स्मृति अर्थात् उत्तम २ स्मरण होता है
और स्मृति के स्थिर ज्ञान से चित्त आनन्दमय होकर (समाधीयते)
सावधान हो जाता है । सावधान चित्त वास को पुष्टि और अस्या-
सत्य का विचार अल्प हो जाता है जिससे ठीक अर्थात् वैसी जो है

वैसी ही वस्तु को जानता है । इस विवेक के अभ्यास से और इसही का निरन्तर चिन्तन रहने से वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि होती है निश्चय वे नये योगी तीन प्रकार के अर्थात् १—मृदूपाय २—मध्योपाय ३—अधिमात्रोपाय होते हैं उनके स्पष्टार्थ लिखते हैं मृदु अर्थात् अल्प है उपाय जिसका मध्यम है उपाय जिसका अधिमात्र अर्थात् उत्तम उपाय वाला ॥ २० ॥

भा० का भावार्थ—पूर्व सूत्र में कहा था कि उपायप्रत्यय योग योगियों को होता है परन्तु वह मुमुक्षु योगियों को होता है अर्थात् पहिले योग में श्रद्धा होती है उससे चित्त प्रसन्न होता है क्योंकि कल्याणकारिणी श्रद्धा योगी की माता के समान रक्षा करती है, पश्चात् उस विवेक की इच्छा करने वाले श्रद्धालु योगियों को उत्साह उत्पन्न होता है पश्चात् स्मृति उत्पन्न होती है स्मृति के स्थिर हो जाने से प्रसन्न चित्त सावधान हो जाता है सावधान चित्त होने से बुद्धि और विवेक अर्थात् सत्यासत्य का विचार प्राप्त होता है जिससे सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता और इस बुद्धि और विवेक के अभ्यास तथा वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है, यह नूतन योगी तीन प्रकार के होते हैं १—मृदूपाय २—मध्योपाय ३—अधिमात्रोपाय ॥ २० ॥

भा० वृ०—विदेहप्रकृतिलयव्यतिरिक्तानां योगिना श्रद्धादि-पूर्वकः श्रद्धादयः पूर्वे उपाया यस्यस श्रद्धादिपूर्वकः । ते च श्रद्धादयः क्रमादुपायोपेयभावेन प्रवर्तमानाः संप्रज्ञातसमाधेरुपायता प्रतिपद्यन्ते । तत्र श्रद्धायोगविषय चेतसः प्रसादः वीर्यमुत्साहः स्मृतिरनुभूतासम्प्रमोषः । समाधिरैकाग्रता । प्रज्ञातव्यविवेकः तत्र श्रद्धावतो वीर्यं जायते योगविषय उत्साहवान् भवति । सोत्साहस्य च पश्चात्यानुभूमिषु स्मृतिरुत्पद्यते तत्स्मरणाच्च चेतः समाधीयते । समाहितचित्तश्च भाव्यं सम्यग्विवेकेन जानाति । त

यस्य मन्त्रप्रदातस्य समाधिमुपायाः । तस्याभ्यासान् पराङ्मुखं वैद्यम्यान्
मन्त्रं च मन्त्रप्रदातः ॥ २० ॥

उपायाकर्ता यागिना उपायमन्त्राद् भेदानाद् ।

भा० पू० भा०—विद्वद् और प्रवृत्तित्व (जिसका पिछले सूत्र
में वर्णन हो चुका है) यागियों से भिन्न मुमुक्षुओं को भद्राचारि
के द्वारा समाधिसिद्धि होती है । भद्राचारि उपाय उपेयमात्र से संप्र
दात याग के साधक होता है याग के विषय में जो विचार की प्रस
न्नता होती है उस भद्राचारि है असाह पीयूष कदापि है, सुने हुए
विचार का न मूलना स्मृति चित्त के एकत्र रहन को समाधि, श्रव्य
वार्थ के चित्त का प्रकाश कहते हैं । जब मनुष्य को याग में भद्रा
होती है तब उसका करन में उसे असाह भी बढ़ता है, असाहयुक्त
मनुष्य का पिछले कर्मा की स्मृति होती है पूर्व अनुभव के ज्ञान
से चित्त की चञ्चलता जाती रहती है, जब चित्त एकत्र होता है
तब ध्यान करन योग्य विषयों में विवेक उत्पन्न होता है । इस
प्रकार से भद्राचारि सम्प्रदात योग के उपाय हैं इनके अभ्यास से
और पराङ्मुख से असम्प्रदात योग होता है ॥ २० ॥

ऊपर सिद्धे उपाययुक्त मुमुक्षुओं के उपाय मन्त्र से जो भेद
होते हैं उनका वर्णन आगे के सूत्र में करते हैं ।

तीमसंवेगानामासन्न. ॥ २१ ॥

पदार्थ—(तीमसंवेगानाम्) बिनके उपाय का तीम
रावेग है उनके (आसन्नः) समीप अर्थात् सुखम है ॥ २१ ॥

भाषार्थ—उपायप्रत्ययसमाधि तीमसंवेगवाले मुमुक्षु को शीघ्र
सिद्ध होती है ।

भाष्य—तत्र मृदूपायोपि त्रिविधो मृदुसंवेगो मध्य-

सौमस्तीव्रसवेग इति । तथा मध्योपायस्तथाधिमात्रोपाय
इति तत्राधिमात्रोपायात् समाधिलाभः समाधिफलं च
भवति ॥ २१ ॥

भा० का पदार्थ—उनमे से मृदूपाय भी तीन प्रकार के हैं मृदु
अर्थात् लघु शिथिल है क्रिया की गति वा जन्मान्तरीय संस्कार
जिसका, मध्य अर्थात् न मृदु न तीव्र है क्रिया और संस्कार जिसका
तीव्र अर्थात् बलवान् क्रिया और संस्कार वाला योग । ऐसे ही ३
भेद का मध्योपाय योग है ऐसे ही ३ प्रकार का अधिमात्रोपाय
योग है उनमे से अधिमात्रोपाय से योग की प्राप्ति और योग का

यत्ते सम्प्रज्ञातस्य समाधेरुपायाः । तस्माभ्यासात् पराङ्मन वैराम्यात्
मयति असम्प्रज्ञातः ॥ २० ॥

उक्तोपायतां योगिनां उपायभेदाद् भेदानाद् ।

भा० वृ० भा०—विदेह और प्रहृतिस्तय (चित्तका पिछले सूत्र में वर्णन हो चुका है) योगियों से भिन्न मुमुक्षुओं को भ्रष्टा आदि के द्वारा समाधिसिद्धि होती है । भ्रष्टाविक उपाय उपेयभाव से संप्रज्ञात योग के साधक होते हैं, योग के विषय में जो चित्त की प्रसन्नता होती है उसे भ्रष्टा कहते हैं, असाह बीर्ष्य कराता हैं, सुने हुए विचार को न भूलना स्मृति चित्त के एकाम रखन को समाधि श्रेय पदार्थ के विवेक को प्रज्ञा कहते हैं । जब मनुष्य का योग में भ्रष्टा होती है तब उसके करने में उसे असाह भी बढ़ता है असाहयुक्त मनुष्य को पिछले कर्मों की स्मृति होती है, पूर्व अनुभव के जाने से चित्त की चञ्चलता जाती रहती है, सब चित्त एकत्र होता है तब ध्यान करने योग्य विषयों में बिनाक उत्पन्न होता है । इस प्रकार से भ्रष्टादि सम्प्रज्ञात योग के उपाय हैं, इनके अभ्यास से और परम वैराम्य से असम्प्रज्ञात योग होता है ॥ २० ॥

ऊपर लिखे उपाययुक्त मुमुक्षुओं के उपाय भेद से का भेद होता है जिनका वर्णन अगले सूत्र में करते हैं ।

तीव्रसंवेगानामासन्न ॥ २१ ॥

पदा—(तीव्रसंवेगानाम्) चित्तके उपाय का तीव्र संवेग है उनको (आसन्नः) समीप अर्थात् सुखम है ॥ २१ ॥

भाषार्थ—उपायप्रत्ययसमाधि तीव्रसंवेगवाले मुमुक्षु को शीघ्र सिद्ध होती है ।

भाष्य—तत्र मृदूपायोपि त्रिविधो मृदुसंवेगो मध्य-

संवेगस्तीव्रसवेग इति । तथा मध्योपायस्तथाधिमात्रोपाय
इति तत्राधिमात्रोपायात् समाधिलाभः समाधिफलं च
भवति ॥ २१ ॥

भा० का पदार्थ—उनमे से मृदूपाय भी तीन प्रकार के हैं मृदु
अर्थात् लघु शिथिल है क्रिया की गति वा जन्मान्तरीय संस्कार
जिसका, मध्य अर्थात् न मृदु न तीव्र है क्रिया और संस्कार जिसका
तीव्र अर्थात् बलवान् क्रिया और संस्कार वाला योग । ऐसे ही ३
भेद का मध्योपाय योग है ऐसे ही ३ प्रकार का अधिमात्रोपाय
योग है उनमे से अधिमात्रोपाय से योग की प्राप्ति और योग का
फल होता है ॥ २१ ॥

भावार्थ—पूर्वलिखित मृदूपाय मध्योपाय और अधिमात्रोपाय
योगों मे से मृदूपाय भी तीन प्रकार का है एक मृदुसंवेग दूसरा
मध्यसंवेग और तीसरा तीव्रसवेग ऐसे ही मध्योपाय और अधि-
मात्रोपाय के भी तीन तीन भेद हैं इनमें से अधिमात्रोपाय से
समाधि की प्राप्ति और समाधि का फल होता है ॥ २१ ॥

भो० वृ०—समाधिलाभः इति शेषः । सवेगः क्रियाहेतुर्दृढतरः
संस्कारः स तीव्रो येषामधिमात्रोपायानां तेषामासन्नः समाधिलाभः
समाधिफलश्चासन्न भवति शीघ्रमेव सम्पद्यते इत्यर्थः ॥ २१ ॥ के,
ते तीव्रसंवेगाः ? इत्याह—

भो० वृ० भा०—तीव्र संवेग वालों को समाधिसिद्धि शीघ्र
मिलती है, सवेग अर्थात् क्रिया का हेतु जो दृढ संस्कार है वह है
तीव्र जिनका अर्थात् दृढ़ उपायवालों को समाधि और समाधि-
फल समीप होता है अर्थात् शीघ्र प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

अगले सूत्र में तीव्रसंवेग वालों के भेद वर्णन करेंगे ।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपिविशेषः ॥ २२ ॥

पदार्थ—(मूढमभ्याधिमात्रत्वात्) मूढ, मध्य और अधिमात्र (ततोऽपि) उनसे भी (विशेषः) विशेष भेद हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ—सूक्ष्माय मध्योपाय और अधिमात्रोपाय इनमें भी विशेष भेद हैं ॥ २२ ॥

भाष्य—मूढतीव्रो मध्यातीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति । ततोऽपि विशेषस्त्वद्विषेयान् मूढतीव्रसंवेगस्यासम्भः, ततो मध्य तीव्रसंवेगस्यासम्भरः, तस्मादधिमात्रतीव्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्यासम्भतमः समाधिनामः समाधिफलं वेति ॥२२॥ किमेतस्माद्देवासन्नतमस्तस्मादिर्मवति अथास्य क्षामे भवति अन्योपि कश्चिदुपायो न वेति ।

पदार्थ—मूढतीव्र मध्यतीव्र और अधिमात्रतीव्र उससे अधिकतम एक आसन्न समीप से अधिक होता है उसके अधिक समीप होने से मूढतीव्रसंवेग के समीप उससे मध्यतीव्रसंवेग के अति समीप उस से अधिमात्रतीव्रसंवेगयुक्त अधिमात्रोपाय के अत्यन्त ही समीप है असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति और समाधि का फल क्या इस ही से अत्यन्त समीप समाधि होती है अथवा इसके प्राप्त होने पर समीप होती है और भी कोई उपाय है वा नहीं ? २२ ॥

भावार्थ—पूर्व सूत्र में सूक्ष्माय मध्योपाय और अधिमात्रोपाय और इन्हीं तीनों के तीन भेद अर्थात् सूक्ष्माय मूढसंवेग सूक्ष्माय मध्यसंवेग सूक्ष्माय तीव्रसंवेग आदि कहें और यह भी कहा कि तीव्रसंवेग के आसन्न से समाधि सुलभ होती है परन्तु अब

मृदुमध्य और अधिमात्र के योग से तीव्रसवेग भी ३ प्रकार का हुआ तब उसको सुलभ कहना भी ठीक भान नहीं होता है इस-लिए मृदूपायतीव्रसंवेग से सुलभ मध्योपायतीव्रसवेग से अति सुलभ अधिमात्रोपायतीव्रसंवेग से अत्यन्तसुलभ सम्प्रज्ञात समाधि होती है अब यह प्रश्न होता है कि उपायप्रत्यय योगियो को समाधि लाभ करने का यही एक उपाय है वा कोई और भी उपाय है ? ॥ २२ ॥

भो० बृ०—तेभ्य उपायेभ्यो मृद्धादिभेदभिन्नेभ्य उपायवतां विशेषो भवति । मृदुर्मध्योऽधिमात्र इत्युपायभेदाः । ते प्रत्येकं मृदुसवेगमध्यसंवेगतीव्रसंवेगभेदात् त्रिधा । तद्भेदेन च नव योगिनो भवन्ति मृदूपायो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च । मध्योपाय मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च । अधिमात्रोपायो मृदुसवेगो मध्यसंवेगतीव्रसंवेगश्च अधिमात्रोपाये तीव्रसंवेगे च महान् यत्नः कर्त्तव्यो इति भेदोपदेशः ॥ २२ ॥ इदानीमेतदुपाय-विलक्षणं सुगममुपायान्तरं दर्शयितुमाह—

भो० बृ० भा०—मृदुमध्य और अधिमात्र यह उपायों के भेद हैं, यह तीनों उपाय मृदुसंवेग, मध्यसंवेग और तीव्रसंवेग के भेद से तीन प्रकार के हैं, इस रीति से योगी नौ ९ प्रकार के होते हैं, १—मृदूपायमृदुसंवेग, २—मृदूपाय मध्यसंवेग, ३—मृदूपाय तीव्रसंवेग, ४—मध्योपायमृदुसंवेग, ५—मध्योपायमध्यसंवेग, ६—मध्योपायतीव्रसंवेग ७—तीव्रोपायमृदुसवेग ८—तीव्रोपाय मध्य सवेग ९—तीव्रीपायतीव्रसंवेग, फलितार्थ यह हुआ कि मुमुक्षु को तीव्रोपायतीव्रसंवेग वाला होना चाहिये ।

इन उपायों से भिन्न समाधिसिद्धि का एक सुगम उपाय अगले सूत्र में लिखते हैं—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

पदार्थ—(ईश्वरप्रणिधानात्) ईश्वर की उपासना से
(वा) अथवा ॥ २३ ॥

माधार्थ—अथवा ईश्वर की भक्ति से असम्प्रदाय समाधि
सिद्ध होती है ।

भाष्य—प्रतिधानाद्वक्तविशेषादावतिष्ठ ईश्वरस्तमनु
गृह्यात्प्रतिध्यानमात्रस्य । तदभिध्यानदपि यागिन आस
न्नतमस्तमाधिलभः समाधिफलञ्चभवतीति ॥ २३ ॥ अथ
प्रधानपुरुषम्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरोनामेति ?

पदार्थ—चिन्तन से “ सही का अर्थ माध्यकार करत है”
(भक्तिविशेष) से भली प्रकार से जाना गया ईश्वर उस ध्यान
करनवाले यागी पर अनुग्रह करता है कवल ध्यान से ॥२३॥ अथ
प्रश्न होता है कि प्रधान पुरुष अर्थात् सर्वव्यापक से भिन्न ईश्वर
नामक यह कौन है ?

माधार्थ—ईश्वर भक्तिविशेष अध्यात् निरन्तर चिन्तन से
प्रकाशित होकर यागी पर कृपा करता है जिससे यागी का अस
म्प्रदाय समाधि का लाभ होता है ॥ २३ ॥ अथ प्रश्न यह होता है
कि प्रधान पुरुष से भिन्न यह ईश्वर कौन है ?

भा० पु०—इह परा परममाख्यलपणा तत्र प्रणिधानं भक्तिविशेषा
विशिष्टमुपासनम् संप्रक्रियाणां तत्रार्पणं विषयमुत्पत्तिकं कर्तृमनि
वत्तमं सत्त्वा क्रियान्तरस्मिन् परमगुरोर्पश्यति तन् प्रतिधामं समाधि
स्तमकननामस्य च प्रकृष्ट उपायः ॥ २३ ॥

इह परस्य प्रतिधानम् समाधिनाम इत्युच्यम् । तत्र ईश्वरस्य रूप

रूपं प्रमाणं प्रभावं वाचकम् उपासनोक्रमं तत् फलञ्च क्रमेण वक्तुमाह—

भो० वृ० भा०—आगे (२४ सूत्र में) जिसके लक्षण कहेंगे उसके प्रणिधान अर्थात् भक्तिविशेष से योग सिद्ध होता है, भक्ति-विशेष का अर्थ उपासना है अर्थात् विषयभोग की इच्छा को त्याग कर सब क्रियाओं को उसही परमगुरु में अर्पण कर देना उपासना कहाती है ईश्वर की उपासना से समाधि और समाधि का फल प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

ईश्वरप्रणिधान से समाधि की प्राप्ति कही परन्तु वह ईश्वर क्या है ? उसका प्रभाव कैसा है ? उसका वाचक कोई शब्द है वा नहीं ? उसकी उपासना की क्या रीति है ? क्रम से इसका उत्तर आगे लिखते हैं:—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः ॥ २४ ॥

पदार्थ—(क्लेशकर्मविपाकाशयैः) क्लेश कर्म तथा कर्मफल और संस्कार से (अपरामृष्टः) असम्बद्ध (पुरुषविशेषः) जीव से भिन्न (ईश्वर) ईश्वर कहाता है ॥ २४ ॥

भावार्थ—जिसमे क्लेश, कर्म, कर्म के फल तथा संस्कारों का सम्बन्ध नहीं है वह जीव से भिन्न ईश्वर है ॥ २४ ॥

भाष्य—अविद्यादयः क्लेशाः । कुशलाकुशलानि कर्माणि तत्फलम् विपाकः । तदनुगुणा वासना आशयाः । ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य

मोक्षेति । यथा स्वयः पराजयो वा योषुष्यु वचमानः स्वा-
 मिनि व्यपदिश्यते योऽनेन मोगेनापरासृष्टः स पुरुषविशेष
 ईश्वरः । कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः ।
 ते हि श्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यम्प्राप्ताः ईश्वरस्य च
 तत्सम्बन्धो न भूतो न भावो यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटि-
 प्रक्षायते नैवमीश्वरस्य यथा वा प्रकृतिस्तीनस्योचरा बन्ध
 कोटिस्सम्प्राप्यते नैवमीश्वरस्य । स तु सदैव मुक्तः सदैवे-
 श्वर इति । योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादनादीश्वरस्य शायतिक
 उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विमिनिमित्त इति । तस्य
 शास्त्र निमित्तम् शास्त्र पुनः किंनिमित्त ? प्रकृष्टसत्त्वनि-
 मित्तम् । एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिः
 सम्बन्धः एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति ।
 तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयमिनिर्मुक्तम् । न तावदैश्वर्या
 न्तरेण तदतिशय्यते यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात् तस्मात्
 यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वर इति । न च तत्समा-
 नमैश्वर्यमस्ति । कस्मात्, द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् पुण्यत्का-
 मिसेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्विति एकस्य सिद्धान्ति-
 तरस्य प्राकाम्यविधातात्वनस्वम्प्रसक्तम् द्वयोर्भूतुल्ययोर्पुण्य-
 त्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति । अर्थस्य विरुद्धत्वात् तस्माद्यस्य
 साम्यातिशयमिनिर्मुक्तमैश्वर्यं स ईश्वरः स च पुरुषविशेष
 इति ॥ २४ ॥

पदार्थ — क्लेश अविद्यादिक अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश को कहते हैं शुभ और अशुभ कर्म उन शुभाशुभ कर्मों के फल को विपाक कहते हैं उन कर्मफलों के अनुसार जो वासना होती है उसे आशय कहते हैं और वे मनमें रहते हैं परन्तु जीवात्मा में लगाये जाते हैं क्योंकि वह जीवात्मा उन कर्मों के फल तथा वासना के फल का भोक्ता है । जैसे जीतना या हारना योद्धाओं में रहता है स्वामी अर्थात् राजा में लगाया जाता है इस प्रकार से जो उन कर्मफल तथा आशय से सम्बन्धरहित है जीव से विशेष ईश्वर है । तो अनेक केवली मोक्ष को प्राप्त हुये कर्मबन्धन से मुक्त हैं क्योंकि वे लोग तीनों कर्मबन्धन अर्थात् शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक अथवा प्रारब्ध सञ्चित और क्रियमाण आदि कर्मों के बन्धन को काट कर मोक्ष को प्राप्त हुये हैं । ईश्वर का कर्मफलादि सम्बन्ध न था और न होगा । जैसे मुक्ति को प्राप्त हुये मनुष्य की प्रथम बन्धयुक्त अवस्था जानी जाती है परन्तु ईश्वर में बन्धकोटि नहीं मालूम होती है जैसे प्रकृतिलीन योगी को योगावस्था के पश्चात् बन्धकोटि निश्चय की जाती है ईश्वर को ऐसी नहीं । वह तो सब काल में बन्धनरहित है किसी काल में उसका ऐश्वर्य नष्ट नहीं होता । जो यह सर्वोत्तम बलादि युक्त नित्य ऐश्वर्य है वह क्या कारणसहित है या बिना कारण के है ? उस उत्कर्ष अर्थात् ऐश्वर्य का वेद ही निमित्त है ? फिर शास्त्र का निमित्त क्या है ? सर्वोत्तम ऐश्वर्य उसका निमित्त है इन दोनों शास्त्र और उत्कर्ष का ईश्वर की सत्ता में विद्यमान रहनेवालों का नित्य सम्बन्ध है । इससे यह सिद्ध होता है पुरुष-विशेष सदा ऐश्वर्ययुक्त सदा बन्धनरहित है और उसका ऐश्वर्य समानता और अधिकता से रहित है अर्थात् उसके समान वा अधिक किसी का ऐश्वर्य नहीं है वैसा दूसरे ऐश्वर्य से (अतिश-

भोक्तेति । यथा जया पराजयो वा योद्धृष्टु वर्त्तमानः स्वा-
 मिनि व्यपदिश्यते योऽस्मिन्नेन भोगेनापरासृष्टः स पुरुषविशेष
 ईश्वरः । कैवल्यं प्राप्तास्तद्धि सन्ति च बहवः केवर्त्तिनः ।
 ते हि ग्रीष्मि बन्धनानि क्षित्वा कैवल्यम्प्राप्ताः ईश्वरस्य च
 तत्सम्बन्धो न मृतो न भावी यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः
 प्रजायते नैवमीश्वरस्य यथा वा प्रकृतिसीतस्योत्तरा बन्ध
 कोटिस्सम्भाष्यते नैवमीश्वरस्य । स तु सदैव मुक्तः सदैवे
 श्वर इति । योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादनादीश्वरस्य शाश्वतिक
 उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्मिन्निमित्त इति । तस्य
 शास्त्र निमित्तम् शास्त्र पुनः किंनिमित्त ? प्रकृष्टसत्त्वनि
 मित्तम् । एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिः
 सम्बन्धः एतस्मादेतन्नवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति ।
 तच्च तस्यैश्वर्य्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तम् । न तावदैश्वर्य्य
 न्तरेण तदतिशय्यते यदेवातिशयि स्याच्चदेव तत्स्यात् तस्माद्
 यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्य्यस्य स ईश्वर इति । न च तत्समा
 नमैश्वर्य्यमस्ति । कस्मात्, द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत्का-
 मितेऽर्थे नरमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्विति एकस्य सिद्धादि
 तरस्य प्राकाम्यविषातादनन्तम्प्रसक्तम् द्वयोस्तुल्ययोर्युगप-
 त्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति । अर्थस्य विरुद्धत्वात् तस्माद्यस्य
 साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्य्यं स ईश्वरः स च पुरुषविशेष
 इति ॥ २४ ॥

पदार्थ — क्लेश अविद्यादिक अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश को कहते हैं शुभ और अशुभ कर्म उन शुभाशुभ कर्मों के फल को विपाक कहते हैं उन कर्मफलों के अनुसार जो वासना होती है उसे आशय कहते हैं और वे मनमें रहते हैं परन्तु जीवात्मा में लगाये जाते हैं क्योंकि वह जीवात्मा उन कर्मों के फल तथा वासना के फल का भोक्ता है । जैसे जीतना या हारना योद्धाओं में रहता है स्वामी अर्थात् राजा में लगाया जाता है इस प्रकार से जो उन कर्मफल तथा आशय से सम्बन्धरहित है जीव से विशेष ईश्वर है । तो अनेक केवली मोक्ष को प्राप्त हुये कर्मबन्धन से मुक्त हैं क्योंकि वे लोग तीनों कर्मबन्धन अर्थात् शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक अथवा प्रारब्ध सञ्चित और क्रियमाण आदि कर्मों के बन्धन को काट कर मोक्ष को प्राप्त हुये हैं । ईश्वर का कर्मफलादि सम्बन्ध न था और न होगा । जैसे मुक्ति को प्राप्त हुये मनुष्य की प्रथम बन्धयुक्त अवस्था जानी जाती है परन्तु ईश्वर में बन्धकोटि नहीं मालूम होती है जैसे प्रकृतिलीन योगी को योगावस्था के पश्चात् बन्धकोटि निश्चय की जाती है ईश्वर को ऐसी नहीं । वह तो सब काल में बन्धनरहित है किसी काल में उसका ऐश्वर्य नष्ट नहीं होता । जो यह सर्वोत्तम बलादि युक्त नित्य ऐश्वर्य है वह क्या कारणसहित है या बिना कारण के है ? उस उत्कर्ष अर्थात् ऐश्वर्य का वेद ही निमित्त है ? फिर शास्त्र का निमित्त क्या है ? सर्वोत्तम ऐश्वर्य उसका निमित्त है इन दोनों शास्त्र और उत्कर्ष का ईश्वर की सत्ता में विद्यमान रहनेवालों का नित्य सम्बन्ध है । इससे यह सिद्ध होता है पुरुष-विशेष सदा ऐश्वर्ययुक्त सदा बन्धनरहित है और उसका ऐश्वर्य समानता और अधिकता से रहित है अर्थात् उसके समान वा अधिक किसी का ऐश्वर्य नहीं है वैसा दूसरे ऐश्वर्य से (अतिश-

प्यत) ईश्वर हो सकता है । जो ही अक्षय ऐश्वर्यवान् हा बही ईश्वर होगा । इसलिये जिसमें ऐश्वर्य की सीमा न हो वह ईश्वर है क्योंकि समान गुणवाले वो का एक ही काल में विचार करने से यह नया है यह पुराना है एक की सिद्धि होन से दूसरे की प्रकामता अर्थात् वह ऐश्वर्य कि जिससे किसी प्रकार की इच्छापूर्ति न भंग न हो उसके नष्ट होने ही से न्यूनता सिद्ध हुई समान गुण वाले वा पदार्थों की इच्छारूप एकता सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि दोनों पदार्थों के गुण में अक्षय कुछ भेद होगा इसलिये जिसका समानता व न्यूनता से रहित ऐश्वर्य है वह ईश्वर है और वह जीव स मित्र है ॥ २४ ॥

माध्य का भाष०—अविद्यादि को क्लेश और पाप पुण्य को कर्म करते हैं एवं कर्म के फल विपाक और फलानुसार वासना आशय करवाती है वे आशय यद्यपि मनमें होते हैं तथापि जीव में आरोपित किये जाते हैं क्योंकि जीव ही उनके फल का मोक्ष है जैसे संग्राम में जीव और हार थोड़ाओं की होती है परन्तु राजा में आरोपित की जाती है आ इन क्लेशादिकों से सम्बन्धरहित है वह जीव से मित्र व्यापक परमेश्वर है (प्र० बहुत से केवली लोग मोक्ष को प्राप्त हुये हैं वे लोग तीनों बन्धनों को काट कर कैवल्यपद को प्राप्त हुये हैं उनसे मित्र एक ईश्वर क्यों मानना ? (उत्तर) जैसे केवली लोगों का प्रथम बन्धन वा पद्मात् बन्धन से मुक्त हुये तब ईश्वर बने परन्तु ईश्वर में बन्धन न कभी था न है न होगा, वह सर्वत्र मुक्त और सर्वत्र ईश्वर रहता है (प्र०) अच्छा तो प्रकृतिसत्त्व योगी तो ईश्वर हो सकते हैं क्योंकि उनमें पूर्ण बन्धकोटि मात्र नहीं होती (३०) नहीं वा भी ईश्वर नहीं हो सकते

केवली जैन मतवालों के तीर्थंकरों को करते हैं ।

क्योंकि उनको उत्तर काल में अवश्य बंधन होगा (प्र०) ईश्वर को जो नित्य अविनाशी ऐश्वर्य है वह सनिमित्त है वा निर्निमित्त है (उ०) सनिमित्त (प्र०) उसका कौन निमित्त है ? (उ०) उसका निमित्त वेद है (प्र०) वेद का निमित्त क्या है ? (उ०) ईश्वरीय ज्ञान, ऐश्वर्य और वेद का ईश्वर से अनादि सम्बन्ध है क्योंकि गुण और गुणी का नित्य सम्बन्ध होता है इससे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर सदा मुक्त और सदैव ऐश्वर्ययुक्त है परन्तु ऐश्वर्य उसका तुलना से रहित है क्योंकि दूसरे ऐश्वर्य से उसकी समानता नहीं हो सकती क्योंकि जिसमें अधिक ऐश्वर्य होगा वही ईश्वर होगा । इसलिये जिसमें ऐश्वर्यकी सीमा न हो वही ईश्वर है क्योंकि उसके समान ऐश्वर्य दूसरे में नहीं है वे जैसे दो वस्तुओं का उत्पत्तिकाल विचारने को एक ही समय में प्रवृत्त हों तो अवश्य यह सिद्ध हो जायगा कि यह वस्तु नई और वह पुरानी है जब एक का नूतनत्व सिद्ध हुआ तब न्यूनता भी सिद्ध हो गई इसलिये जिसमें ऐश्वर्य की पराकाष्ठा हो और जिसका ऐश्वर्य समानतारहित हो वही ईश्वर है ॥ २४ ॥

भो० वृ०—क्लिहन्नतीति क्लेशा अविद्यादयो वक्ष्यमाणा । विहितप्रतिथिषिद्धव्यामिश्ररूपाणि कर्माणि । विपच्यन्त इति विपाकाः कर्मफलानि । जात्यायुर्भोगाः । आफलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशया वासनाख्याः सस्काराः तैरपरामृष्टः केवपि कालेषु न संस्पृष्टः । पुरुषविशेषः अन्येभ्यः पुरुषेभ्यो विशिष्यत इति विशेषः । ईश्वर ईशानशील इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमः । यद्यपि सर्वेषामात्मना क्लेशादिस्पर्शो नास्ति तथापि चित्तागतस्तेषामुपदिश्यते । यथा योद्धृगतौ जयपराजयौ स्वामिनः । अस्य तु त्रिष्वपि कालेषु तथाविधोऽपि क्लेशादिपरामर्शो नास्ति । अतः न त्रिलक्षण एव भगवानीश्वरः । तस्य च तथाविधमैश्वर्यमनादे-

सर्वोत्कर्षात् । सत्त्वोत्कर्षेण प्रकृष्टात् ज्ञानादेव न च अनयोर्ज्ञा-
नैरवय्वयोरितरेतराध्ययत्वं, परस्परानपेक्षत्वात् । ते द्वे ज्ञानैरवय्व-
ईश्वरसत्त्वे वर्तमाने अनाविभूत तन च तथाविधेन स्वयमेव तस्या-
नादिरेव सम्बन्धः प्रकृतिपुरुषसंयोगवियोगयोरीश्वरेच्छाभ्यतिरे-
केणानुपपत्तः । यद्येतरेषां प्राणिनां सुखदुःखमोहात्मकतया परि-
यत चित्तं निर्मलं सारिपके धर्माभिरुपास्ये प्रतिसम्बन्धं चिच्छाया
सम्बन्धे संवर्धं भवति नैवमीश्वरस्य । तस्य केवल एव सत्त्विक-
परिणाम उत्कर्षेणाम् अनाविसम्बन्धेन भोग्यतया व्यवस्थित ।
अतः पुरुषान्तरविलक्षणतया स एव ईश्वरः । मुच्यस्मनाभ्यु पुनः पुनः
क्लेशादियोगस्त्वैतैः शास्त्रोक्तैरुपायैर्निवर्तितः । अस्य पुनः सर्वदेव
तथाविधत्वात् न मुच्यस्मत्तुल्यत्वम् । न चेष्टव्यतामनेकत्वम्, तेषां
तुल्यत्वे मित्राभिप्रायत्वात् कार्यस्वैवानुपपत्तेः उत्कर्षापकर्षयुक्तत्वं
च पक्षोत्कृष्टः स एवेष्टव्यः अत्रैव कदापि प्राप्तवादेष्टव्यस्य ॥ २४ ॥

एवमीश्वरसद्वत्त्वमभिधाय प्रमाणमाह—

मो १० क्य भा —जीव जिनके द्वारा मुख्य पार्श्व के क्लेश
कहात हैं, व अवस्थादि वा क्लेश आगे कहे जायेंगे । कर्म वेद
में लिखे वा वेद में निषेध किय हुए अवस्था व मो मिले हुए जो
पक्ष हैं यह विषाक अर्थात् कर्मफल कहे जाते हैं वे कर्मफल
कर्म, आयु और भोग हैं । फल भोगने तक जो चित्त में रहें उसे
आशय कहते हैं सो वासना नामक संस्कार है इन सबसे तीन क्लेश
में स्पर्श न रहता हो वह पुरुष अर्थात् जीवों से विक्षेप अर्थात्
विलक्षण अर्थात् इच्छामात्र से जो सम्पूर्ण जगत् का उद्धार करने
में समर्थ है । यद्यपि सब जीवों का क्लेश से स्पर्श नहीं है तो भी
मनुष्यों के चित्त में वा क्लेश होता है वह जीव में आरोपित किये
जाते हैं जैसे जीव और द्वार सिपाहियों में रहती है तो भी राणा
में आरोपित की जाती है ऐसे ही चित्त के क्लेश जीवों में आरो-

पित होते हैं परन्तु ३ काल में भी किसी प्रकार से क्लेश ईश्वर को स्पर्श नहीं कर सकते हैं, इस कारण से भगवान् ईश्वर जीवों से विलक्षण हैं । ईश्वर का ऐश्वर्य्य अनादि होने के कारण से सबसे उत्तम है क्योंकि ज्ञानयुक्त है । यदि कोई शंका करे कि ज्ञान और ऐश्वर्य्य क्या परस्पर आश्रित है, अर्थात् जहाँ ऐश्वर्य्य होगा वहाँ ज्ञान अवश्य होगा ? फलितार्थ यह हुआ कि ज्ञान के बिना ऐश्वर्य्य नहीं होता और ज्ञान के बिना ऐश्वर्य्य असम्भव है अतएव दोनों में अन्योन्याश्रय दोष आता है ? इसका उत्तर यह है कि इन दोनों में अन्योन्याश्रयदोष नहीं आता है क्योंकि यह दोनों साक्षेप नहीं है, ज्ञान और ऐश्वर्य्य ईश्वर में अनादिकाल से है अर्थात् जैसे ईश्वर अनादि है ऐसे ही उसका ऐश्वर्य्य ज्ञान भी अनादि है, इससे ज्ञान और ऐश्वर्य्य का ईश्वर से अनादि सम्बन्ध है क्योंकि प्रकृति और पुरुष का संयोग विभाग ईश्वरेच्छा के बिना नहीं हो सकता + । जैसे और जीवों का चित्त सुख और दुःख तथा मोह से पूर्ण रहता है और सत्त्व गुण युक्त होकर धर्मात्म भाव में परिणत होता (बदलता) है ऐसे ईश्वर का नहीं होता क्योंकि उसमें सदा सत्त्वगुण रहता है इस हेतु से जीवों से विलक्षण ईश्वर है ।

मुक्त जीवों को बारम्बार क्लेशों का सम्बन्ध शास्त्रोक्त उपायों से दूर करना पड़ता है परन्तु ईश्वर में क्लेशों का सम्बन्ध न था और न होगा इससे मुक्त जीवों से भी ईश्वर विलक्षण है, अनेक ईश्वर होने का सन्देह भी नहीं करना चाहिये क्योंकि अनेक ईश्वर होने से उनके ऐश्वर्य्य की तुलना की जायगी उनमें जो अधिक ऐश्वर्य्यवान् होगा वही ईश्वर रहेगा क्योंकि ईश्वर में ऐश्वर्य्य का अन्त होता है ॥ २४ ॥

ईश्वर का स्वरूप कहके अब उसमें प्रमाण दिखाते हैं ।

करके बीज को बेवोपदेश किया ॥ २५ ॥

भो० ६०—तस्मिन् भगवति सर्वज्ञस्य पटीप्रमतीतानागता विप्रदयस्यास्यैव महत्त्वं च मूलस्वाङ्गीकृतिषु बीजं तत्तत्र निरतिशयं कष्टं प्राप्तम् । दृष्टादस्परमदृष्टादीनां धर्माणां साक्षिराया नं काष्ठा प्राप्तिः । यथा परमाणाप्यस्य परमाकांक्षे महत्त्वस्य । एवं ज्ञानादपि चित्तधर्मास्तारतम्येन परिदृश्यमानाः कश्चिन्निरतिशयतामासादयन्ति । यत्र चैते निरतिशयाः स ईश्वरः । यद्यपि सामान्यमात्रेऽनुमानस्य पर्यवसायित्वात् विशेषावगतिः सम्भवति तथापि शास्त्रादस्य सर्वैश्वर्याया विशेषा अभगम्यव्याः । तस्य स्वप्रयोजनाभावे कर्म प्रकृतिपुरुषयोः संयोगवियोगा वा पादपतीति नाशङ्कीयं, तस्य कर्तृणि कर्त्तव्यमूढानुमद एव प्रयोजनम् कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु मिश्रेषाम् संसारिणं कुर्यादिति तस्याध्यवसायः । यद्यस्येष्ट तत्तस्य प्रयोजनमिति ॥ २५ ॥

एवमीश्वरस्य प्रमाणाभिधाय प्रभाक्माह ।

भो० ६० का भाष्य—इस परमेश्वर में सर्वज्ञता का जो बीज है भूत और अधिष्णु ज्ञान की अधिकता और न्यूनता जो बीज के समान है यह परमेश्वर में सीमा को प्राप्त हो गई है । जैसे सूरमठा की सीमा (हद) परमाणु में और स्थूलता की सीमा आकाश में है वैसे ही ज्ञानादि चित्त के धर्मों की न्यूनता और अधिकता सीमों में देखी जाती है जिसमें ज्ञान की अधिकता सीमा को प्राप्त हो आय बही ईश्वर है । यद्यपि सामान्य को देखकर विशेष का अनुमान किया जाता है तो ईश्वर के ज्ञान को देखकर उससे अधिक ज्ञान का अनुमान हो सकता है परन्तु शास्त्रों में उससे अधिक ज्ञान का अभ्यवसिक्ता है इससे ईश्वरनिष्ठ ज्ञान से अधिक ज्ञान का अनुमान करना कबल बुद्धि को भ्रम में डालना है । यहाँ पर ऐसी शंका भी न करनी चाहिये कि ईश्वर का तो कुछ प्रयोजन

है ही नहीं तब वह क्यों सृष्टि को रचता है ? क्योंकि परमेश्वर दयालु है जीवों पर दया करना ही उसको अभीष्ट रहता है जो जिसका अभीष्ट होता है वही उसका प्रयोजन होता है ॥२५॥ इस रीति से ईश्वर में प्रमाण दिखा के अगले सूत्र में प्रभाव कहते हैं ।

स पूर्वेषामपि गुरुःकालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

पदार्थ—(सः) यह पूर्वोक्त ईश्वर (पूर्वेषामपि) पहिले ऋषियों का भी (गुरुः) उपदेशक है (कालेन) काल से (अनवच्छेदात्) खण्डन न होने के कारण ॥२६॥

भावार्थ—पूर्वोक्त गुणयुक्त परमेश्वर पूर्व महर्षियों का भी उपदेष्टा है क्योंकि उसमें कालकृत सीमा नहीं है ॥ २६ ॥

भाष्य—पूर्वेहि गुरुः कालेनावच्छिद्यन्ते । यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः । यथास्य सगस्यादौ प्रकर्षगत्यासिद्धः तथातिक्रांतसर्गादिष्वपि अत्येतव्यः ॥ २६ ॥

भा० का पदार्थ—पहिले गुरु अर्थात् शास्त्रप्रणेता ऋषि लोग समय से खंडित अर्थात् सीमावद्ध हो जाते हैं जिसमे सीमावद्ध करने के अभिप्राय से समय नहीं पहुँचता है वह परमेश्वर पूर्व ऋषियों का भी उपदेष्टा है जैसे सृष्टि के आदि में ज्ञानयुक्त था तैसे ही सृष्टि के अन्त में भी निश्चय करना चाहिये ॥ २६ ॥

भा० का भावार्थ—प्रथम के गुरु लोग भी समयकृत सीमा में बद्ध हो जाते हैं अर्थात् उनकी उत्पत्ति का समय नियत है परन्तु उनसे प्रथम कौन गुरु था यह शंका बनी रहती है, किन्तु ईश्वर में कालकृत सीमा नहीं है अर्थात् जैसा वह अब है वैसा ही आदि

तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

पदार्थ—(तत्र) उस ईश्वर में (निरतिशयम्)
अस्य स अर्थात् सीमाप्राप्त (सर्वज्ञबीजम्) सम्पूर्ण ज्ञान
का कारण ॥ २५ ॥

भाषार्थ—उस ईश्वर में ज्ञान की अपरिधि भी बिल्कुल है ॥२५॥

साध्य—यदिदमतीतानागतम् प्रत्युत्पन्न प्रत्येकसम
व्यातीन्द्रियग्रहणमवप बह्विदि सर्वज्ञबीजमेतद्विषयमानं यत्र
निरतिशय स सर्वज्ञः अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य
सातिशयत्वात् परिमाणबह्विदि यत्र काष्ठाप्राप्तिज्ञानस्य स
सर्वज्ञः स च पुरुषविशेष इति सामान्यमात्रोपसंहारे कृतो-
पस्यमनुमान न विशेषप्रतिपक्षौ समर्थमिति, तस्य सत्त्वादि
विशेषप्रतिपक्षिरागमतः पर्यन्वेष्ट्या । तस्यात्मनुग्रहामावेपि
भूतानुग्रहः प्रयाजनम् ज्ञानधर्मोपश्लेन कल्पप्रसूयमहाप्रसूय
येषु ससारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति । तथाचोक्तं आदिषु
दाभिर्माणचिदमधिष्ठाय काश्यपाद् भगवान् परमपिरासुरये
निष्ठासमानाय तन्त्र प्रोषाचेति ॥ २५ ॥ स एव—

भा० का पदार्थ—जो यह भूत अभिष्यत् वर्तमान रूप
वा इन्द्रियो से ग्रहण नहीं हो सकता किन्तु मन और च
जिस ज्ञान का सम्बन्ध है बोधा वा अधिक सर्वज्ञता का
ज्ञान बढ़ा हुआ जिसमें अतिशय से रहित अर्थात्
हो जाय वह सर्वज्ञ है ज्ञान की सीमा अपरि-
तोष का संख्या के समान जिसमें ज्ञान

और वह सर्वज्ञ पुरुषविशेष है वह सामान्य ज्ञान में सामान्यदृष्ट अनुमान किया है विशेष निश्चय में नहीं । उस सर्वज्ञ परमेश्वर (संज्ञादिप्रतिपत्तिः) अभिधान अर्थात् गुणानुसार व्यापक विष्णु आदि नामों का निर्णय वेद से विचारना चाहिये । उस पुरुषविशेष के अपना हितसाधन नहीं करते भी प्राणियों का हितसाधन ही प्रयोजन है । ज्ञान के उपदेश और धर्म के उपदेश से नित्यप्रलय अर्थात् जब प्राण और शरीर का वियोग होता है और महाप्रलय अर्थात् समस्त कार्य पदार्थों का जब कारण में लय होगा जीवों का उद्धार करूँगा ऐसा ब्राह्मणग्रंथों में भी लिखा है । प्रथम विद्या-वित् परमेश्वर ने वेदविद्या के प्रकाश करने की रुचि को स्थिर करके अनुग्रह से ईश्वर ने (परमर्षि) परम ऋषि अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानमय ने (आसुरये) जीव को (तन्त्र) वेद उपदेश किया ॥२५॥

भावार्थ—भूत भविष्यत् वर्तमान काल का जो ज्ञान है यद्यपि वह अतीन्द्रिय है तथापि मन से ग्रहण होता है, वह ज्ञान प्राणी-मात्र को होता है चाहे स्वल्प हो वा अधिक हो परन्तु होता सबको है, वही ज्ञान बढ़ते २ जिसमें अवधि को प्राप्त हो जाय वही सर्वज्ञ है । ज्ञान की भी अवधि होती है क्योंकि जो वस्तु घटती बढ़ती है उसकी अवधि भी अवश्य होती है जैसे परिमाण में न्यूनाधिक्य होता है तो उसमें अवधि भी होती है । वस जिसमें ज्ञान की अवधि होती है वही सर्वज्ञ ईश्वर है यह सामान्य से सर्वज्ञता का अनुमान है विशेष निश्चय वेदादि सत्यग्रन्थों से करना योग्य है । यद्यपि परमेश्वर को ज्ञानोपदेश वा धर्मोपदेश से स्वार्थ कुछ नहीं है क्योंकि वह पूर्णकाम है परन्तु ज्ञानोपदेश और धर्मोपदेश से प्राणियों पर कृपा करना ही प्रयोजन है अर्थात् उसकी यही अभिलाषा होती है कि मैं नित्य प्रलयादि में जीवों का उद्धार करूँ—ऐसा ही लिखा भी है—आदि विद्वान् परमेश्वर ने प्राणियों पर कृपा

तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

पदार्थ—(तत्र) उस ईश्वर में (निरतिशयम्) अत्यन्त अर्थात् सोमाप्राप्त (सर्वज्ञबीजम्) सम्पूर्ण ज्ञान का कारण ॥ २५ ॥

भाषार्थ—उस ईश्वर में ज्ञान की अवधि भी बेशुद्ध है ॥२॥

भाष्य—यदिदमतीतानागतम् प्रत्युत्पन्न प्रत्येकसप्त व्याप्तीन्द्रियग्रहसमस्य बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्विषयमानं यत्र निरतिशय स सर्वज्ञः अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमादबह्विति यत्र काष्ठाप्राप्तिज्ञानस्य स सर्वज्ञः स च पुरुषविशेष इति सामान्यमात्रोपसंहारे कृतोपक्षयमनुमान न विशेषप्रतिपक्षौ समर्थमिति, तस्य सद्भावि-विशेषप्रतिपक्षिराममतः पर्यन्धेय्या । तस्यास्मत्तुग्रहामावेपि मृत्तानुग्रहः प्रयोजनम् ज्ञानधर्मोपश्लेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु ससारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति । तथाचोक्तं आदिष्विदमभिर्मात्रविषयमधिष्ठाप्य कारुण्याद् ममैकान् परमपिरासुरमे विज्ञासमानाय तन्त्र प्रोवाचेति ॥ २५ ॥ स एषः—

सा का पदार्थ—जो यह भूत भविष्यत् वर्तमान रूप समुदाय का इन्द्रियो से ग्रहण नहीं हो सकता किन्तु मन और बुद्धि से जिस ज्ञान का सम्बन्ध है थोड़ा या अधिक सर्वज्ञता मूल है यही ज्ञान बड़ा हुआ जिसमें अतिशय से रहित अर्थात् ज्ञान की सीमा हो जाय वह सर्वज्ञ है ज्ञान की सीमा अधिक होने के कारण से ताल या संख्या के समान जिसमें ज्ञान की सीमा हो वह सर्वज्ञ है

और वह सर्वज्ञ पुरुषविशेष है वह सामान्य ज्ञान में सामान्यदृष्ट अनुमान किया है विशेष निश्चय में नहीं । उस सर्वज्ञ परमेश्वर (संज्ञादिप्रतिपत्तिः) अभिधान अर्थात् गुणानुसार व्यापक विष्णु आदि नामों का निर्णय वेद से विचारना चाहिये । उस पुरुषविशेष के अपना हितसाधन नहीं करते भी प्राणियों का हितसाधन ही प्रयोजन है । ज्ञान के उपदेश और धर्म के उपदेश से नित्यप्रलय अर्थात् जब प्राण और शरीर का वियोग होता है और महाप्रलय अर्थात् समस्त कार्य पदार्थों का जब कारण में लय होगा जीवों का उद्धार करूँगा ऐसा ब्राह्मणग्रंथों में भी लिखा है । प्रथम विद्या-वित् परमेश्वर ने वेदविद्या के प्रकाश करने की रुचि को स्थिर करके अनुग्रह से ईश्वर ने (परमर्षि) परम ऋषि अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानमय ने (आसुरये) जीव को (तन्त्र) वेद उपदेश किया ॥२५॥

भावार्थ—भूत भविष्यत् वर्तमान काल का जो ज्ञान है यद्यपि वह अतीन्द्रिय है तथापि मन से ग्रहण होता है, वह ज्ञान प्राणी-मात्र को होता है चाहे स्वल्प हो वा अधिक हो परन्तु होता सबको है, वही ज्ञान बढ़ते २ जिसमें अवधि को प्राप्त हो जाय वही सर्वज्ञ है । ज्ञान की भी अवधि होती है क्योंकि जो वस्तु घटती बढ़ती है उसकी अवधि भी अवश्य होती है जैसे परिमाण में न्यूनाधिक्य होता है तो उसमें अवधि भी होती है । वस जिसमें ज्ञान की अवधि होती है वही सर्वज्ञ ईश्वर है यह सामान्य से सर्वज्ञता का अनुमान है विशेष निश्चय वेदादि सत्यग्रन्थों से करना योग्य है । यद्यपि परमेश्वर को ज्ञानोपदेश वा धर्मोपदेश से स्वार्थ कुछ नहीं है क्योंकि वह पूर्णकाम है परन्तु ज्ञानोपदेश और धर्मोपदेश से प्राणियों पर कृपा करना ही प्रयोजन है अर्थात् उसकी यही अभि-लाषा होती है कि मैं नित्य प्रलयादि में जीवों का उद्धार करूँ—ऐसा ही लिखा भी है—आदि विद्वान् परमेश्वर ने प्राणियों पर कृपा

करके बीज को बेबोपदेश किया ॥ २५ ॥

भो० बृ०—तस्मिन् मगवति सव्यवस्थस्य यद्वीजमतीतानागता विमर्शस्यास्त्यै महत्त्वं च मूलरवादीन्मिष बीजं सत्तत्र निरतिशय काष्ठा प्राप्तम् । इष्टास्त्यमहत्वादीनां धर्माणां सातिशया नां काष्ठा प्राप्तिः । यथा परमाणुबलस्य परमाकाशे महत्त्वस्य । एवं ज्ञानादयोपि चित्तधर्माश्चैतान्येन परिदृश्यमाना क्वचि निरतिशयतामासादयन्ति । यत्र चैते निरतिशयाः स ईश्वरः । यद्यपि सामान्यमात्रेऽनुमानस्य पर्यवसायिरिति विशेषावगतिः सम्भवति तथापि शास्त्रादस्य सर्वज्ञत्वादयो विशेषा अवगन्तव्याः । तस्य स्वप्रयोजनाभावे क्वचि प्रकृतिपुरुषयोः संयोगवियोगा वा पादपमीति नाशं कनीयं, तस्य कस्मिन्कस्माद्भूतानुमद् एव प्रयो ज्यमानम् कल्पप्रज्ञमहापक्षयेषु निक्षेपान् ससारिण व्यरिष्यामीति तस्याभ्यवसायः । यद्यस्येष्ट तत्तस्य प्रबोधनमिति ॥ २५ ॥

एवमीश्वरस्य प्रमाणमभिधाय प्रभावमाह ।

भो० पू० का माध्य—तस परमेश्वर में सर्वज्ञता का जो बीज है भूत और भविष्यत् ज्ञान की अधिकता और न्यूनता जो बीज के समान है यह परमेश्वर में सीमा को प्राप्त हो गई है । वैसे सूक्ष्मता की सीमा (इष्ट) परमाणु में और सूक्ष्मता की सीमा आकाश में है ऐसे ही ज्ञानादि चित्त के धर्मों की न्यूनता और अधिकता बीजों में देखी जाती है जिसमें ज्ञान की अधिकता सीमा को प्राप्त हो जाय वही ईश्वर है । यद्यपि सामान्य को देखकर विशेष का अनुमान किया जाता है तो ईश्वर के ज्ञान को देखकर उससे अधिक ज्ञान का अनुमान हो सकता है परन्तु शास्त्रों में उससे अधिक ज्ञान का अभाव दिखा है इससे ईश्वरनिष्ठ ज्ञान से अधिक ज्ञान का अनुमान करना केवल पुष्टि को भ्रम में डालना है । यहाँ पर ऐसी शंका भी न करनी चाहिये कि ईश्वर का तो कुछ प्रयोजन

है ही नहीं तब वह क्यों सृष्टि को रचता है ? क्योंकि परमेश्वर दयालु है जीवों पर दया करना ही उसको अभीष्ट रहता है जो जिसका अभीष्ट होता है वही उसका प्रयोजन होता है ॥२५॥ इस रीति से ईश्वर में प्रमाण दिखा के अगले सूत्र में प्रभाव कहते हैं ।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

पदार्थ—(सः) यह पूर्वोक्त ईश्वर (पूर्वेषामपि) पहिले ऋषियों का भी (गुरुः) उपदेशक है (कालेन) काल से (अनवच्छेदात्) खण्डन न होने के कारण ॥२६॥

भावार्थ—पूर्वोक्त गुणयुक्त परमेश्वर पूर्व ऋषियों का भी उपदेष्टा है क्योंकि उसमें कालकृत सीमा नहीं है ॥ २६ ॥

भाष्य—पूर्वेहि गुरुः कालेनावच्छिद्यंते । यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः । यथास्य सगस्यादौ प्रकर्षगत्यासिद्धः तथातिक्रांतसर्गादिष्वपि अत्येतव्यः ॥ २६ ॥

भा० का पदार्थ—पहिले गुरु अर्थात् शास्त्रप्रणेता ऋषि लोग समय से खंडित अर्थात् सीमाबद्ध हो जाते हैं जिसमें सीमाबद्ध करने के अभिप्राय से समय नहीं पहुँचता है वह परमेश्वर पूर्व ऋषियों का भी उपदेष्टा है जैसे सृष्टि के आदि में ज्ञानयुक्त था तैसे ही सृष्टि के अन्त में भी निश्चय करना चाहिये ॥ २६ ॥

भा० का भावार्थ—प्रथम के गुरु लोग भी समयकृत सीमा में बद्ध हो जाते हैं अर्थात् उनकी उत्पत्ति का समय नियत है परन्तु उनसे प्रथम कौन गुरु था यह शंका बनी रहती है, किन्तु ईश्वर में कालकृत सीमा नहीं है अर्थात् जैसा वह अब है वैसा ही आदि

सृष्टि में और उससे भी प्रथम ज्ञानयुक्त आ और सृष्टि के अन्त में भी वैसा ही रहेगा एवम् सदृशों सृष्टि व्यतीत हो गई और होगी परन्तु उसका अपरिणामी ज्ञान तथा स्थिति इसलिये अक्षरकृत सीमाबद्ध परमेश्वर नहीं है और इसही कारण से परमेश्वर पूर्वज श्रुतिगो का भी गुरु है ॥ २६ ॥

मो० पु०—आचार्याणां शब्दयुक्तां ब्रह्महीनामपि स गुरुः अपेक्ष्य । यतः स कास्तेन नावच्छिद्यते अनाविस्थात् । तेषां ब्रह्महीनां पुनरा विमत्स्यावस्ति कालेनावच्छेदः ॥ २६ ॥

एवंप्रमाणमुक्त्वा उपासनोपयोगाय वाचकमाह ।

मो० पु० का भा —श्री अनक विद्याओं को यमानेवाले सबसे प्रथम उत्पन्न हुए ब्रह्मचिक हैं उनका भी वह परमेश्वर गुरु अर्थात् उपदेश करनेवाला है क्योंकि वह अनावि होम के कारण कास से नहीं बँधता है ब्रह्मचि पुराने हैं ऐसा कहने से उनके उत्पन्न होम के समय की सीमा पाई जाती है ॥ २६ ॥ ईश्वर का प्रमाण कहकर अगले सूत्र में उसके वाचक का वर्णन करते हैं ।

तस्य वाचक प्रणव ॥ २७ ॥

पदार्थ—(तस्य) उस परमेश्वर का (वाचक) बोध करानेवाला (प्रणव) आकार है ॥ २७ ॥

भाषार्थ—परमेश्वर का वाचक आश्रम है ॥ २७ ॥

भाष्य—वाच्य ईश्वरः प्रसूयस्य किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रतीपप्रकाशवदस्थितमिति । स्थितोस्य वाच्यः वाचकश्च सद सम्बन्धः । संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थित मेवायमभिनयति । यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः

संकेतेनावद्योत्यते, अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति ।
सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते ।
सम्प्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दाथेसम्बन्ध इत्याग-
मिनः प्रतिजानते ॥ २७ ॥ विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य
योगिनः ।

भा० का पदार्थ—जिसके द्वारा जाना जाता है वह वाचक और जो
जाना जाता है वह वाच्य कहाता है । इस स्थल पर वाचक प्रणव
और वाच्य ईश्वर है प्रणव का क्या । इसका संकेत अर्थात् मनुष्यों
ने अपने बोध के लिए कल्पनामात्र वाच्यवाचकत्व नियत किया
है । अथवा दीपक और प्रकाश के समान समवाय सम्बन्ध है ?
इस स्थल में वाच्य और वाचक का अनादि संबन्ध है । संकेत तो
केवल ईश्वर के स्थिर किये सम्बन्ध को प्रकाश करता है । जैसे
ईश्वर का नियत किया है पिता और पुत्र में सम्बन्ध संकेत से
प्रकाशित किया जाता है यह इसका पिता है यह इसका पुत्र है,
अन्य सृष्टियों में भी वाच्य और वाचक में परस्पर सम्बन्ध शब्द
शक्ति ही से प्रकाशित होता है । इसके अनुसार ही संकेत किया
जाता है । क्योंकि शब्द और अर्थ नित्य हैं । नित्य अनादि है, शब्द
और अर्थ नित्य हैं नित्य अनादि है शब्द और अर्थों का परस्पर
सम्बन्ध यह शाब्दिक मानते हैं । वाच्य और वाचक का सम्बन्ध
योगी लोग जानते हैं ॥ २७ ॥

भाष्य का भावार्थ—प्रणव वाचक और ईश्वर वाच्य है । प्र०)
ईश्वर और प्रणव का वाच्यवाचकभाव केवल संकेतमात्र है या
दीपक और प्रकाश के समान सम्बन्ध है ? (३०) ईश्वर और
प्रणव का वाच्यवाचक सम्बन्ध साकेतिक है परन्तु कल्पित नहीं
अनादि है क्योंकि संकेत भी ईश्वर में जो वाच्यभाव है उस सम्ब-

ग्य को ही प्रकार करता है, जैसे पिता और पुत्र का सम्बन्ध नियत है परन्तु संकेत बिना प्रकाशित नहीं होता सा केवल इतना ही संकेत करना पड़ता है कि यह पुत्र और यह इसका पिता है । यह संकेत अवश्य ईश्वर के नित्य सम्बन्ध में लागू पड़ेगा । एवम् शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध शाब्दिक मानते हैं इस लिए यागी साग भी प्रयुक्त और ईश्वर में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध नित्य मानते हैं ॥ २७ ॥

मो० ५०—इत्यमुच्छ्वरूपेणैव स्यात् पात्रकोऽभिधायक प्रक-
र्षेण नृपदेस्तुयतेऽनमति नोति स्तौतीति वा प्रणव आकारस्तयोश्च
वाच्यवाचकसङ्गः सम्बन्धो नित्यः संकेतेन प्रकाश्यते ननु कन-
चित् स्थितं, यथा पितापुत्रयोः विद्यमान एव सम्बन्धोऽस्त्यर्थं
पिताऽस्त्यर्थं पुत्र इति केनचित् प्रकाश्यत ॥ २७ ॥ व्यासनामाह—

मो० ५० का मा०—जिसका पिछले सूत्रों में वर्णन कर चुके
हैं उसका वाचक अर्थात् कहने वाला प्रणव का अर्थ यह है कि उत्तम
रीति के साथ स्तुति की जाय जिसके द्वारा अवस्था उत्तम रीति से
ओ स्तुति करे उसे प्रणव कहते हैं प्रणव नाम ओ३म् का है ।
ओ३म् और ईश्वर का वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध (नित्य)
अनादि है किन्तु वर्णरूप संकेत से उसे प्रकाशित किया जाता है
किन्तु बनाया नहीं जाता है जैसे पिता और पुत्र सम्बन्ध को कोई
रूपता नहीं है किन्तु उसे प्रकाशित कर देते हैं ॥ २७ ॥ अथ व्या-
सना कहते हैं ।

तज्जपस्तदर्थमावतम् ॥ २८ ॥

पदार्थ—(तज्जप) उस प्रणव का अप अर्थात्
उच्चारण करना (तदर्थमावतम्) उसके अर्थ का
विचारना है ॥ २८ ॥

भावार्थः—प्रणव के जप करने और अर्थ विचारने से समाधि लाभ होता है ॥ २८ ॥

भाष्य-प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्यचेष्टवरस्य भावनम् तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते । तथाचोक्तम् स्वाध्यायाद्योगमासीत् योगात् स्वाध्यायमामनेत् ॥ २८ ॥ भवति इति किंचास्य स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते” ।

भा० का पदार्थ—ओ३म् का प्रणव वाच्य ईश्वर की भावना अर्थात् विचार वा चिन्तन करना है । प्रणव का जप करने से और प्रणव का जो अर्थ ईश्वर है उसके चिन्तन से योगी का चित्त चंचलतारहित हो जाता है । ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है स्वाध्याय अर्थात् वेद वा प्रणव के जप से “स्वाध्यायो जपत्युक्तो वेदाध्ययनकर्मणि” योग्याभ्यास करे योग अर्थात् समाधि होकर जप करे (स्वाध्याययोगसम्पत्त्या) स्वाध्याय और योग के बल से परमात्मा (प्रकाशते) ईश्वर का पूर्ण ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

भाष्य का भावार्थ—प्रणव के जप और प्रणव के अर्थ विचारने तथा प्रणव वाच्य ईश्वर के चिन्तन से योगी का चित्त एकाग्र होता है, प्रमाण, उपनिषत् ग्रन्थों में लिखा है कि जप से योग और योग से जप को सिद्ध करै तथा दोनों के बल से परमात्मा का पूर्ण ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

भो० वृ०—तस्य सार्द्धं त्रिमात्रिकस्य प्रणवस्य जपो यथावदुच्चारणं तद्वाच्यस्य ईश्वरस्य भावनं पुनः पुनश्चेतसि निवेशनमेकाग्रताया उपायः । अतः समाधिसिद्धये योगिना प्रणवो जप्यस्तदर्थ ईश्वरश्च भावनीय इत्युक्तं भवति ॥ २८ ॥

उपासनायाः फलमाह—

मो० वृ० का भा०—उस साधे तीन मात्रा वाले प्रणव का जब अर्थात् उसका ठीक रीति से स्मरण करना और उसका वाक्य परमेश्वर का चिन्तन अर्थात् उसका बारम्बार हृदय में ध्यान करना एकप्रता का उपाय है, इसलिये समाधि सिद्ध के वास्तव योगी का प्रणव का अप करना बाह्य और उसका अर्थ अर्थात् ईश्वर का ध्यान करना बाह्ये ॥ २८ ॥ न्यासना का फल कहते हैं ।

तत प्रत्यक्चेतनाधिगमोप्यन्तरायाभावश्च । २९ ।

[ततः] तब (प्रत्यक्चेतनाधिगमः) परमेश्वर का ज्ञान होता है [अन्तरायाभावश्च] और विघ्नों का अभाव भी हो जाता है ॥ २९ ॥

भावार्थ—तब योगी के विघ्न नष्ट हो जाते हैं और ईश्वर का पूर्ण ज्ञान हो जाता है ॥ २९ ॥

भाष्य—ये तावदन्तराया व्याधिप्रसृतयस्ते तावदीश्वर प्राविधानान्नमवन्ति । स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति यथैव-
स्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलसौमनस्यसर्गस्वभावमपि
शुद्धेः प्रतिसवेदनीयं पुरुषस्तवमधिगच्छति ॥ २९ ॥

अथ केन्तराया ये विघ्नस्य विघ्नेषाः के पुनस्ते क्रियन्ता वेति ।

भा० का पदार्थ—जितने विघ्न हैं शरीर के राग आदि व ईश्वर की भक्ति से नहीं होते ईश्वर के स्वरूप का दर्शन भी योगी को होता है । अर्थात् ईश्वर सर्वव्यापक है अर्थात् कर्मफल से रहित अपिपादि कलशों से रहित अद्वितीय अमृतसुखरहित ऐसे ही यह योगी भी बुद्धि से जानने योग्य आ ईश्वर है उसको जान लेता है अथ विघ्न कौन हैं आ विघ्न के विनाशने वाले हैं

उनके नाम क्या हैं और वे कितने हैं ? यह अगले सूत्र में कहते हैं २६

भावार्थ—जितने योग में विघ्नकारक रोगादि हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं और योगी को ईश्वर के स्वरूप का दर्शन भी होता है अर्थात् जैसा ईश्वर सर्वव्यापक आनन्दमय और अद्वितीय है वैसा ही यथार्थ ज्ञान योगी को हो जाता है । अब यह भी विचारना चाहिये कि योग में विघ्न कौन और कितने हैं सो अगले सूत्र में इसका वर्णन करते हैं ॥ २६ ॥

भो० बृ०—तस्माज्जपात्तदर्थ भावनाच्च योगिनः प्रत्यक्चेतना धिगमो भवति विषयप्रातिकूल्येन स्वान्तः करणाभिमुखमञ्चति या चेतना दृक्शक्तिः सा प्रत्यक्चेतना तस्याऽधिगमो ज्ञानं भवति । अन्तरायावक्ष्यमाणास्तेषामभावः शक्तिप्रतिबन्धोऽपि भवति ॥२६॥ अथ केऽन्तराया ? इत्याशङ्क्यामाह ।

भो० बृ० का भा०—चिन्तन अर्थात् उसका बारम्बार हृदय में ध्यान करना एकाग्रता का उपाय है, इसलिये समाधिसिद्धि के वास्ते योगी को प्रणव का जप करना चाहिये, और उसके अर्थ अर्थात् ईश्वर का ध्यान करना चाहिये ॥ २६ ॥ अब विघ्नों को कहते हैं—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्ति
दर्शनलब्धभूमिकत्वानवस्थितित्वानि चित्तविक्षे
पास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

सूत्र का पदार्थ—[व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्य विपरीतभ्रान्तिदर्शनलब्धभूमिकत्वानवस्थितित्वानि] रोगा-
दिशारीरिक विघ्न, स्त्यान सुस्ती संशय, प्रमाद आलस्य,

[अविरति] व्यापार रहित हो जाना [भ्रान्तिदर्शन] मिथ्याज्ञान, अलम्बभूमि, अथात् योगार्म्पास की विशेष भूमि का प्राप्त न होना [अनवस्थितत्व] ध्येय ईश्वर में चित्त का स्थिर न होना [चित्तविषेपाः] चित्त के विषय हैं [ते] वही [अन्तरायाः] योग के विघ्न हैं ॥ ३० ॥

सु का भा०—व्याधि, स्त्यान संशय, प्रमाद, आकस्य अविरति भ्रान्तिदर्शन आलम्बभूमिकस्थ अनवस्थितत्व चित्त के विषय योग में विघ्न हैं ॥ ३ ॥

भाष्य—नवान्तरायाचित्तस्य विषेपाः । सदैवे चित्तवृत्ति र्भवन्त्येतेषामभावेन भवन्ति पूर्वोक्ताचित्तवृत्तयः व्याधिर्घातुरसकरणवैयम्यस्यानमकर्मण्यता चित्तस्य । संशय उभय कोटिस्पृक् विज्ञान स्याद्विदमेव नैवस्यादिति प्रमादः समाधिषाधनानामभावनम् । आलस्यं कायस्य चित्तस्य गुरुत्वादप्रवृत्ति अविरतिचित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मागच्छः । भ्रान्तिदर्शन विषययज्ञानम् । अलम्बभूमिकस्थं समाधिभूमे रक्षाम् । अनवस्थितत्वं यस्तम्बायांभूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा समाधिरतिलम्मे हि सदित्तदवस्थित स्यादिति । एते चित्त विषेपा नव योगमक्षा यागप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते ॥ ३ ॥

भाष्य का पदार्थ—नौ विघ्न चित्त के विषय होते हैं इनके न जान से नहीं होते । व्याधि उसे कहते हैं जो शरीरस्थ धातु और रस के बिगाड़ने से शरीर में विकसता होती है स्त्यान उस विघ्न

को कहते हैं जिससे चित्त कर्मरहित होने की इच्छा करता है संशय उस ज्ञान को कहते हैं जो दोनों पक्षों को स्पर्श करे अर्थात् कभी कहे यह ठीक है कभी कहे दूसरा ठीक है । योग के साधन अर्थात् उपायों को चिन्तन न करने को प्रमाद कहते हैं, आलस्य उसे कहते हैं जो शरीर वा चित्त के भारीपन से चेष्टारहित हो जाना है अविरति उस वृत्ति को कहते हैं जिसमें चित्त विषय के संसर्ग से आत्मा को मोहित वा प्रलोभित कर देता है । विपरीत अर्थात् उल्टे ज्ञान को भ्रान्तिदर्शन कहते हैं अलब्धभूमिकत्व उसे कहते हैं कि जिससे समाधि की भूमि की प्राप्ति नहीं होती । अनवस्थितत्व उसे कहते हैं जिससे प्राप्त हुई भूमि में चित्त की स्थिति नहीं होती । समाधि के प्राप्त होने पर चित्त स्थिर हो जाता है संख्या मे ६ चित्तविक्षेप योग के निवारण हैं अर्थात् योग के शत्रु यही योगान्तराय अर्थात् योग के विघ्न कहलाते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ — चित्त के विक्षेप स्वयम् योग के विघ्न नहीं हैं किन्तु चित्तवृत्तियों के साथ मिलकर विघ्नकारक होते हैं और वृत्तियों के अभाव में बाधक नहीं हो सकते । विक्षेप ये हैं, व्याधि वह है जो शरीर के धातु और रसादि के बिगड़ने से शरीर में अस्वस्थता होती है, स्त्यान वह है जिसमें चित्त चेष्टारहित हो जाता है, संशय उसे कहते हैं जिसमें दो विषयों में भ्रम होता है कि यह करना उचित है वा वह करना उचित है, समाधि के साधनों के चिन्तन न करने को प्रमाद कहते हैं, आलस्य वह कहाता है कि जिसमें चित्त और शरीर भारीपन से चेष्टारहित होने की इच्छा करता है, अविरति वह है जिसमें चित्त विषयसंसर्ग से आत्मा को मोहित कर देता है, भ्रान्तिदर्शन विपर्ययज्ञान को कहते हैं, समाधिभूमि की अप्राप्ति को अलब्धभूमिकत्व कहते हैं और अनवस्थितत्व उसे कहते हैं जिससे योगभूमि प्राप्त होने पर भी चित्त उसमें

स्थिरता को प्राप्त नहीं होता । इन्हीं चिराचिन्तेषु को यागप्रतिपक्ष योगान्तराय भी कहते हैं ॥ ३० ॥

भा० पू०—नवैते रजस्तमायसात् प्रवशमानाश्चित्तस्य विषेपा मयन्ति । वैरेकामताविरोधिभिर्मिथिस्तं विचिप्यत इत्यर्थाः । तत्र व्याधि धातुवैषम्यनिमित्ता ज्वरादिः । स्त्यानमकमप्यता चित्तस्य । पश्य-काञ्चालम्वमज्ञान संशयो योगः साध्या न वति । प्रमादोऽनवधानता समाधिसाधनेष्वौदासीन्यम् । आसक्त्य क्लयचित्तयोर्गुरुत्वं योग विषये प्रवृत्त्यभावेऽस्तुः । अपिरतिचित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मागदः । भ्रान्तिदर्शनं शुचिकायां रजतवद्विषमयज्ञानम् । असम्भूमिकस्य कुतश्चिन्निमित्तात् समाधिभूमेरज्ञानोऽसंप्राप्तिः । अनवस्थितत्वं सन्ध्यायामपि भूमौ चित्तस्य तत्राप्रतिष्ठा । तस्य समाधेरेकामताया पथायोगं प्रतिपक्षत्वादन्तराया इत्युच्यन्ते ॥ ३० ॥ चित्त विषेप कारकानामप्यन्तराम् प्रतिपादयितुमाह—

भो० पू० का भाष्य—रजोगुण और तमोगुण के संसर्ग से उत्पन्न हुए ६ चित्त विषेप हैं इन एकामता के विरोधियों में चित्त विचिप्य हो जाता है, इसमें से व्याधि हो जाता है जो वास्तुओं की विषमता अर्थात् म्यूनता या अधिकता से उत्पन्न होती है जैसे ज्वर आदि से चित्त का ऐसा हो जाना जो किसी काम के करने योग्य न रहे । योग मुझे सिद्ध होगा या नहीं ? ऐसे दो प्रकार के ज्ञानों का धारण करना संशय कहा जाता है । साधनान न रहने के प्रभाव कहते हैं जैसे योग करने में ज्यादा विज्ञान । शरीर और चित्त के मारी रहने के ज्ञानस्य कहते हैं । विषयों की प्राप्ति में जो लोभ होता है उसे अपिरति कहते हैं । भ्रान्तिदर्शन यह है जिससे सीप में चाँदी का ज्ञान होता है । किसी कारण से योग की भूमि को न पाना असम्भूमिकस्य कहा जाता है, योग भूमि के प्राप्त होने पर भी चित्त के उसमें स्थिर न रहने का अनवस्थितस्य

कहते हैं ये सब समाधि के विरोधी हैं अतएव इन्हें विघ्न कहते हैं ॥३०॥ चित्त को बिकाढनेवाले और विघ्नों का भी वर्णन करते हैं ।

**दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेप
सहभुवः ॥ ३१ ॥**

सू० का पदार्थ—(दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वास प्रश्वासाः) तीनों प्रकार के दुःख, दौर्मनस्य मनकाक्षोभित होना, अंगमेजयत्व जो अंगों को कंपित करे श्वास वायु का इन्द्रियों के द्वारा खींचना, प्रश्वास वायु का निकलना (विक्षेपसहभुवः) विक्षेप के संग यह उत्पन्न होते हैं । ३१

भावार्थ—दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास विक्षिप्त चित्तवालों को होते हैं ॥ ३१ ॥

दुःखमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकश्च । येना-
भिहताः प्राणिनस्तदुपधाताय प्रयतन्तेतद्दुःखम् । दौर्मन-
स्यमिच्छाभिधाताच्चेतसः क्षोभः यदगान्येजयति कम्पय-
यतितदंगमेजयत्वम् प्राणो यद्वाह्यं वायुमाचामति स श्वासः
यत्कौष्ठ्यं वायु निःसारयति स प्रश्वासः एते विक्षेपसह-
भुवो विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति ।
अथैतेविक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्या
भ्यान्निरोद्धव्याः तत्राभ्यासस्य विषयमुपसहरन्निदमाह । ३१

भा० का प०—इन्द्रियाँ जिसमें पीडित हों जो मन और शरी-
रादि में रोग होते हैं जो दूसरे प्राणी अर्थात् व्याघ्र वा चोर आदि

से होश हैं या वैकल्य दुःख है जिससे, पीड़ित हुए प्राणीसमुदाय उसके नाश करने को प्रयत्न करता है उस दुःख को ही (दौर्मनस्य कहते हैं, जो इच्छार्थग होनेसे मनमें काम अभ्यास अप्रसन्नता उत्पन्न होती है जो शरीर के अंगों को कंपाता है वह अंगमेजयस्व कहाता है प्राणवायु आ बाहरकी वायुको खींचता है वह एवास कहा जाता है आ अर के वायु को बाहर निकालता है वह प्रहवास कहाता है । (एते) ये विक्षेप विक्षेप के साथ उत्पन्न होते हैं । विक्षिप्तचित्त वाले को यह होते हैं सावधानचित्त वाले को यह नहीं होते ॥ ३१ ॥

अथ विचारना चाहिये ये विक्षेप योग के शत्रु हैं इनका अभ्यास और वैराग्य से रोकना या निवृत्त करना चाहिये उनमें से अभ्यास के विषय को वर्णन करते हुए अगला सूत्र कहते हैं ।

भाषा० — दुःख तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक । दुःख का सामान्य अर्थ यह है कि जिससे पीड़ित होकर प्राणी उसके नाश करने का प्रयत्न करता है उसे दुःख कहते हैं दौर्मनस्य उसे कहते हैं कि जो इच्छार्थग हानि से मन में काम उत्पन्न होता है । तीसरा विक्षेप अंगमेजयस्व है इसका अर्थ यह है कि जो अंगों को कंपावे उसको अंगमेजयस्व कहते हैं । चौथा एवास जिससे बाहर की वायु को खींचा जाता है उसे एवास कहते हैं पाचवाँ प्रहवास जिससे अरस्व वायु को बाहर निकाला जाता है यह विक्षेप विक्षिप्त अर्थात् पञ्चविध चित्त बालों को होते हैं और सावधान चित्त बालों को नहीं हाव ये विक्षेप योग के शत्रु हैं इसलिये इन्हें अभ्यास और वैराग्य से निवृत्त करना उचित है, अभ्यास का अर्थ अगले सूत्र में कहते हैं ॥ ३२ ॥

सू० ३२ — क्लृप्ताभिधिमित्तादुत्पन्नपु विक्षेपेषु यते दुःखादयः प्रवर्तन्ते । तत्र तु ये चित्तस्य राजसः परिणामी बाधनासक्षयः

यद्वाधात् प्राणिनस्तदुपघाताय प्रवर्तन्ते । दौर्मनस्य बाह्याभ्यान्तरैः
कारणैर्मनसो दौर्धयम् अगमेजयत्वं सर्वाङ्गीणो वेपथुरासनमनः-
स्थैर्यस्य बाधकः । प्राणो यद्वाह्यं वायुमाचामति स श्वासः यत्
कौष्ठ्यं वायुं निःश्वसिति स प्रश्वासः एत एतेविक्षेपैः सह प्रवर्त-
माना यथोदिताभ्यासवैराग्याभ्यां निरोधव्या इत्येषामुपदेशः ॥ ६१ ॥

सोपद्रवविक्षेपप्रतिषेधार्थमुपायान्तरमाह—

भो० वृ० का भाष्य—किसी कारण से यदि विघ्न उत्पन्न हो
जाते हैं दुःखादि योगी को आ घेरते हैं, इनमे से दुःख वह कहाता
है जो रजोगुण से उत्पन्न होता है और प्राणियों को सताता है
जिसके सताये हुए प्राणी उसके नाश का उद्योग करते हैं उसे
दुःख कहते हैं । दौर्मनस्य उसे कहते हैं जिसमे बाह्य वा आभ्या-
न्तर कारणों से मन चञ्चल हो जाय । अङ्गमेजयत्व वह है जिसमें
सब अङ्ग कापने लगे ऐसे आसन से भी मन स्थिर नहीं होता है
वायु को जो बाहर निकाला जाता है उसे श्वास कहते हैं ।
प्रश्वास वायु के भीतर खींचने को कहते हैं । ये सब विघ्नों के
साथ उत्पन्न होने वाली भूमिका हैं, प्रथम कहे हुए अभ्यास और
वैराग्य से इनका निरोध करना चाहिये इस ही उपदेश के वास्ते
सूत्रकार ने इन्हें लिखा है ॥ ३१ ॥

उपद्रव सहित विघ्नों के निवारण का दूसरा उपाय लिखते हैं ।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

पदार्थ—(तत्प्रतिषेधार्थम्) उसके दूर करने को तत्वा-
भ्यास एकतत्त्व का अभ्यास करे ॥ ३२ ॥

भावार्थ—उक्त विक्षेपभूमियों की निवृत्ति के लिये एक तत्त्व
अर्थात् एकामचित्तता वा एक ईश्वर स्मरण का अभ्यास करे ॥ ३२ ॥

भाष्य—विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्वावलम्बनं चित्तम-

म्यसेत् यस्य तु प्रत्यर्थनियत प्रत्ययमात्र चरितं च चित्त
 तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्र नारत्येष विहितम् । यदि पुन
 रिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा मयस्वै-
 काग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम् । योऽपि सृष्ट्यप्रत्ययप्रवा-
 हेण चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य
 धमस्तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तस्य चरितत्वात् । अथ प्रवा
 हांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः, स सप्तः सृष्ट्यप्रत्ययप्रवाहो वा
 विसृष्ट्यप्रत्यय प्रवाहो वा प्रत्ययनियत्वादेकाग्रएवेति वि
 चित्तचित्तानुचिः तस्मादेकमनेकाग्रमवस्थितं चित्तमिति
 पयदिष चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावमिन्नाः प्रत्यया आये-
 रन्त कथमन्यप्रत्ययस्येत्यान्यः स्मर्ता मवेत् अन्यप्रत्ययो-
 पचित्तस्य कर्माशयस्यान्य प्रत्यय उपमोक्ता मवेत् कथ
 चित्तं समाधीयमानमप्येतद्गोमयपायसीयन्यायमादिपति ।
 किञ्च स्वात्मानुभवापन्द्बः स्थितस्यान्यत्वे प्राप्नोति कथं,
 यदहमब्राह्म तस्मै शान्ति यच्चास्माच्च तत्परयामीत्यहमिति
 प्रत्यन्तयः सर्वस्य प्रत्ययस्य मेदे सति प्रत्ययिन्यमेदेनो
 पस्थितः । एक प्रत्ययविषयोऽयममेदात्माऽहमिति प्रत्ययः
 कथमत्यन्तमिन्नेषु चित्तेषु वर्तमानः सामान्यमेक प्रत्ययि
 नमाभवेत् । स्वात्तुभवप्राप्त्यायममेदात्माहमिति प्रत्ययः
 नच प्रत्ययस्य माहात्म्य प्रमाखान्तरेणामिभूयते । प्रमा
 खान्तरं च प्रत्ययवस्तुनैव व्यवहारं क्षमते तस्मादेकमने

कार्यमवस्थितं च चित्तम् ॥ ३२ ॥ यस्य चित्तस्यावस्थित-
स्येदम् शास्त्रेण परिक्रमे निर्दिश्यते तत्कथम् ।

भाष्य का पदार्थ—चित्तविक्षेप के निवृत्त करने को एक ही पर-
मेश्वर के तत्त्व अर्थात् ज्ञान के आश्रय के धारण और विचार में
मग्नता को चित्त से अभ्यास करे । और जिसका चित्त एक एक
विषय में नियुक्त रहता है, केवल ज्ञानमात्र क्षणिक चित्त है उसका
सम्पूर्ण ही चित्त एकाग्र नहीं है । विक्षिप्त चाहे हो परन्तु जब इस
चित्त को सब विषयों से हटाकर एक ध्येय में स्थिर किया जाता
है तब एकाग्र हो जाता है । इस कारण से एक एक विषय के
लिए चित्त नियत नहीं है । जो समान ज्ञान के प्रवाह द्वारा चित्त
को एकाग्र मानता है उसके चित्त की एकाग्रता यदि प्रवाह चित्त
का गुण है तो चित्त एक नहीं हो सकता प्रवाह रूप चित्त क्षणिक
होता है यदि प्रवाहाश ज्ञान ही का गुण है तो वह सम्पूर्ण प्रवाह
समान ज्ञानके प्रवाह वाला है या असमान ज्ञान प्रवाह वाला है ?
प्रत्यर्थ नियत होने के कारण यदि एकाग्र है तो विक्षिप्त चित्त सिद्ध
नहीं हो सकता । इसलिए एक ही अनेक विषयों में जो स्थित है
वह चित्त है और जो एक ही चित्त से सम्बन्धरहित अर्थात्
भिन्न स्वभाव के ज्ञात होते हों तो किस प्रकार से और के देखे
हुए पदार्थ का दूसरा स्मरण करने वाला हो सकता है दूसरे के
द्वारा जो समझ किये गये कर्म उनके फलो का दूसरा भोग करने
वाला हो जायगा तो किसी प्रकार से एकाग्र चित्त होने पर भी
गोमयपायसी । यन्याय अर्थात् खीर और गोबर की जनश्रुति के
अनुसार हो जायगा । जैसे किसी ने सुना कि गाय से खीर बनती
है और दुग्ध से बनी खीर खाई भी परन्तु पुनर्वार उसने गाय के
गोबर को चावलों में मिलाकर अग्नि में सिद्ध करके खाना आरम्भ

कर दिया । और अपने आत्मा के अनुमय में मिथ्यात्व चित्त की भिन्नता में प्राप्त होती है यदि कहते हैं कि भिन्न है तो जो मैंने देखा या उसे देखा है और जिसे हुआ या उसे देखा है इन स्थलों में जो 'मैं' का ज्ञान है यह कैसे असंख्य भिन्न चित्तों में वर्तमान सामान्य रीति से एक ज्ञानी को आश्रय कर सकता है । अपने अनुमय से प्रवृत्त करने योग्य यह एकही आत्मा 'अहम्' ज्ञान से जाना जाता है और न प्रत्यक्ष प्रमाण का माहात्म्य अर्थात् प्रबलता दूसरे प्रमाण से संबन्धित होती है और दूसरे अनुमानादि प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण के आश्रय ही से सिद्ध होते हैं इस कारण से जो एक अनन्त विषयों में अवस्थित अर्थात् प्रस्त हो (चित्तम्) उसे चित्त कहते हैं ।

भा० का भाष्य—पूर्वसूत्र में कहे जो बुद्ध्यादि विषेप हैं उनके निवृत्त करने को एक अतिरिक्त ईश्वर का चिन्तन करे परन्तु चित्तन म चित्त एकत्र होना चाहिये यदि कोई कहे कि अनन्त विषयों में भ्रमण करना चित्त का स्वाभाविक गुण है उसका एक छाप या अछाप विषय में स्थिर होना असम्भव है तो उसे पूछना चाहिये कि यदि भ्रमण चित्त का स्वाभाविक गुण है तो जब सब विषयों से स्तब्ध कर चित्त का एक विषय में लगातार है तब एकत्र क्यों हो जाता है ? एकत्र हो जाने से सिद्ध होता है कि चित्त प्रत्यक्ष नियत नहीं है और ऐसा मानते हैं कि विषयप्रवाह में चित्त एकत्र होता है अर्थात् एक ही विषय के अन्तर्गत भेदों में चित्त की गति का एकप्रता कहते हैं तो उनसे यह प्रश्न है कि चित्त क्या प्रवाह है ? यदि कहे कि चिन्तन का चित्त कहते हैं तो विषय प्रवाह सृष्टिक क्षम से भी सृष्टिक हुआ और या एकप्रता प्रवाहों का धर्म माने तो चित्त वह सम्पूर्ण महारा प्रत्यय प्रवाह है ? या विसहस्र प्रत्यय प्रवाह ? यदि इन सब प्रश्नों के उत्तर में यह कहे कि एक

प्रता ही चित्त का गुण है तो विक्षिप्त चित्त सिद्ध हो सकता इस कारण से चित्त वह पदार्थ है कि जिस एक में क्षिप्त एकाग्रतादि अनेक गुण रहते हैं यदि कहे कि चित्त कोई पदार्थ नहीं है किन्तु स्वभाव से भिन्न २ अनेक ज्ञान उत्पन्न हुआ करते हैं, तो हम कहते हैं कि अन्य पुरुष के देखे हुए पदार्थों का अन्य पुरुष भोक्ता हो जायँ, परन्तु ऐसा जगत् में होना सृष्टिक्रम के विरुद्ध है और यदि चित्त कोई पदार्थ न होता तो किसी प्रकार से सावधान होने पर भी गोमयपायसीय न्याय की कहावत हो जायगी । इसके अतिरिक्त आत्मा के होने में भी सन्देह होने लगेगा क्योंकि जो मैंने देखा था उसे छूता हूँ । जिसे छुआ था उसको देखता हूँ स्मरण का आधार कोई नहीं है अर्थात् जिस ज्ञान से भिन्न एक पदार्थ अवश्य है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता है और प्रत्यक्ष प्रमाण को अन्य प्रमाणों से कोई खण्डन नहीं कर सकता किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण के आश्रय से अन्य प्रमाण भी सिद्ध होते हैं । इस हेतु से चित्त वह पदार्थ है जिससे अनेक विषयोंका चिन्तन होता है, बस उसही को अनेक विषयों से हटाकर एक ईश्वरीय विषय में लगाने के लिये शास्त्र का उपदेश है उसको विषयों से हटाने का उपाय क्या है ? इसका उत्तर अगले सूत्र में लिखते हैं ॥ ३२ ॥

भो० बृ०—तेषा विक्षेपाणा प्रतिषेधार्थमेकस्मिन् कस्मिंश्चिद-
भिमतं तत्त्वेऽभ्यासश्चेतसः पुनः पुनर्निवेशनं कार्यः । यद्वलात्
प्रत्युदितायामेकाग्रताया विक्षेपाः प्रणाशमुपयान्ति ॥ ३२ ॥

इदानीं चित्तसंस्कारापादकपरिकर्मकथनमुपायान्तरमाह—

भोजवृत्ति का भाष्य—उक्त विघ्नों को निवारण करने के वास्ते किसी अपने प्यारे तत्व में अभ्यास करे अर्थात् चित्त बारम्बार एक ही तत्व में लगाये रहे इस अभ्यास के बल से एकाग्रता के विघ्न नाश हो जाते हैं ॥ ३१ ॥ अब चित्त के संस्कारों को उत्पन्न

करने वाला व्यापक रहता है ।

**मैत्रीकरुणासुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यव
विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥**

सू० का पदार्थ—(मैत्रीकरुणासुदितोपेक्षाणाम्) प्रीति,
दया, प्रसन्नता और उपेक्षा की (सुखदुःखपुण्यविषया
णाम्) सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों में (भावना
तः) धारणा से (चित्तप्रसादनम्) चित्त प्रसन्न होता है । ३३

स० का भा०—सुखी से प्रीति दुःखी पर दया, पुण्यात्मा पर
प्रसन्नता और पापी का त्याग करनेसे चित्त सावधान होता है । ३३

भाष्य—तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्मोहापन्नेषु मैत्री भाव
येत् । दुःखितेषु करुणां पुण्यात्मकेषु मुदिताम् । अपुण्य
शीलेषूपेक्षाम् । एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते ।
तस्य चित्तं प्रसीदति । प्रसन्नमेकार्थं स्थितिपदं क्षमत् ॥ ३३ ॥

भाष्य का पदार्थ—जन्मों से वे सब प्राणी जो सुख और संपत्ति
से मुक्त हैं उनसे मित्रता दुःखियों पर दया पुण्य अर्थात् सुकर्म
करनेवालोंसे प्रसन्नता, दुष्ट कर्म करनेवालों से त्याग अर्थात् उनसे
दूर रहने की भावना करे इस प्रकार से मनुष्य के भावना करने से
चित्त प्रसन्न हुआ एक क्षण में स्थिति को प्राप्त करता है ॥ ३३ ॥

भावार्थ—सुख सम्भागमुक्त प्राणियों में मैत्री, दुःखियों पर दया
पुण्यात्माओं में मुदितता और पापियों में उपेक्षा करने से शुद्ध धर्म
की प्राप्ति होती है उससे चित्त प्रसन्न होकर विशिष्ट एकान्त तथा
स्थिर हो जाता है ॥ ३३ ॥

भो० बृ०—मैत्री सौहार्दम् । करुणा कृपा । मुदिता हर्षः । उपे-
क्षीदासीन्यम् । एतां यथाक्रमं सुखितेषु दुःखितेषु पुण्यवत्सु अपुण्य-
वत्सु च विभावयेत् । तथाहि सुखितेषु साधुषु एव सुखित्वमिति
मैत्री कुर्व्यान्नतु ईर्ष्याम् । दुःखितेषु कथं न नामैषां दुःखनिवृत्तिः
स्येदिति कृपामेव कुर्व्यान्न ताटस्थ्यम् । पुण्यवत्सु पुण्यानुमोदनेन
हर्षमेव कुर्व्यान्नतु किमेते पुण्यवन्त इति विद्वेषम् । अपुण्यवत्सु
क्षीदासीन्यमेव भावयेत् नानुमोदनं नवा द्वेषम् । सूत्रे सुख दुःखा-
दिशब्दैस्तद्वन्तः प्रतिपादिताः । तदेवं मैत्र्यादि परिकर्मणा चित्तं
प्रसीदति सुखेन समाधेराविर्भावो भवति । परिकर्म चैतत् बाह्य
कर्म । यथा गणिते मिश्रकादि व्यवहारो गणितनिष्पत्तये सङ्कलि-
लिताविकर्मोपकारकत्वेन प्रधानकर्मनिष्पत्तये भवति । एवं द्वेष-
रागादिप्रतिपक्षभूतमैत्र्यादिभावनया समुत्पादितप्रसादं चित्तं संप्र-
ज्ञातादिसमाधियोग्यं सम्पद्यते । रागद्वेषावेव मुख्यतया विक्षेपमुत्पाद-
यन्तः । तौ चेत् समूलमुन्मूलितौ स्याता तदा प्रसन्नत्वान्मनसो
भवत्येकाग्रता ॥ ३३ ॥ उपायान्तरमाह ।

भो० बृ० का भाष्य—मैत्री=बन्धुभाव, करुणा=पराया दुःख
दूर करने की इच्छा, मुदिता=प्रसन्नता, उपेक्षा=उदासीनता वा त्याग
इनको क्रम से सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापी में व्यवहार
करै, अर्थात् सुखयुक्त साधुओं से प्रीति करै किन्तु ईर्ष्या न करे,
दुःखियों के दुःख को देखकर हँसी न करे वरन् उनके दुःख दूर
करने के उपाय सोचे, पुण्यात्माओं के पुण्य को देखकर प्रसन्न हो
किन्तु दम्भ वश होके उनसे विरोध न करै, पापियों से उदासीन
रहै अर्थात् उनके कर्मों का अनुमोदन भी न करै और न उनसे
विरोध ही करे । सूत्र में जो सुख और दुःख आदि शब्द लिखे
हैं उनसे तद्विशिष्ट जीवों को समझना चाहिये । फलितार्थ यह
हुआ कि मैत्री आदि कर्मों से चित्त में प्रसन्नता होती है और

करन बान्न स्थाय कश्चिद् है ।

**मैत्रीकरुणासुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्य-
विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥**

सू० का पदार्थ—(मैत्रीकरुणासुदितोपेक्षाणाम्) प्रीति,
दया, प्रसन्नता और उपेक्षा की (सुखदुःखपुण्यविषया
णाम्) सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों में (भावा
नतां धारणां से (चित्तप्रसादनम्) चित्त प्रसन्न होता है । ३३

स० का भा०—सुखी से प्रीति दुःखी पर दया, पुण्यात्मा पर
प्रसन्नता और पापी का त्याग करनेसे चित्त सावधान होता है । ३३

भाष्य—तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्मोगापन्नेषु मैत्री भाव
येत् । दुःखितेषु करुणा पुण्यात्मकेषु सुदिताम् । अपुण्य
शीलेषूपेक्षाम् । एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते ।
तच्च चित्तं प्रसीदति । प्रसन्नमेकार्गं स्थितिपदं लभते ॥ ३३ ॥

भाष्य का पदार्थ—जन्मों से वे सब प्राणी जो सुख और संपत्ति
से युक्त हैं उनसे मित्रता दुःखियों पर दया, पुण्य अर्थात् सुकर्म
करनेवालोंसे प्रसन्नता दुष्ट कर्म करनेवालों से त्याग अर्थात् उनसे
दूर रहने की भावना करे इस प्रकार से मनुष्य के भावना करने से
चित्त प्रसन्न हुआ एक ईश्वर में स्थिति को प्राप्त करता है ॥ ३३ ॥

भाष्य—सुख सम्भागयुक्त प्राणियों में मैत्री, दुःखितों पर दया
पुण्यात्माओं में सुदित और पापियों में उपेक्षा करने से शुद्ध धर्म
की प्राप्ति होती है उससे चित्त प्रसन्न होकर चित्त एकत्र तथा
स्थिर हो जाता है ॥ ३३ ॥

भो० वृ०—मैत्री सौहार्दम् । करुणा कृपा । मुदिता हर्षः । उपे-
क्षा उदासीन्यम् । एतां यथाक्रमं सुखितेषु दुःखितेषु पुण्यवत्सु अपुण्य-
वत्सु च विभावयेत् । तथाहि सुखितेषु साधुषु एव सुखित्वमिति
मैत्री कुर्यान्नतु ईर्ष्याम् । दुःखितेषु कथं न नामैषां दुःखनिवृत्तिः
स्यादिति कृपामैव कुर्यान्न तादृश्यम् । पुण्यवत्सु पुण्यानुमोदनेन
हर्षमैव कुर्यान्नतु किमेते पुण्यवन्त इति विद्वेषम् । अपुण्यवत्सु
उदासीन्यमेव भावयेत् नानुमोदनं नवा द्वेषम् । सूत्रे सुख दुःखा-
दिशब्दैस्तद्वन्तः प्रतिपादिताः । तदेवं मैत्र्यादि परिकर्मणा चित्तं
प्रसीदति सुखेन समाधेराविर्भावो भवति । परिकर्म चैतत् बाह्यं
कर्म । यथा गणिते मिश्रकादि व्यवहारो गणितनिष्पत्तये सङ्कलि-
लिताविकर्मोपकारकत्वेन प्रधानकर्मनिष्पत्तये भवति । एवं द्वेष-
रागादिप्रतिपक्षभूतमैत्र्यादिभावनया समुत्पादितप्रसादं चित्तं संप्र-
ज्ञादिस्मृतिधियोऽप्यसम्पद्यते । रागद्वेषावेव मुख्यतया विक्षेपमुत्पाद-
यन्तः । तौ चेत् समूलमुन्मूलितौ स्यातां तदा प्रसन्नत्वात्मनसो
भवत्येकाग्रता ॥ ३३ ॥ उपायान्तरमाह ।

भो० वृ० का भाष्य—मैत्री=बन्धुभाव, करुणा=पराया दुःख
दूर करने की इच्छा, मुदिता=प्रसन्नता, उपेक्षा=उदासीनता वा त्याग
इनको क्रम से सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापी में व्यवहार
करै, अर्थात् सुखयुक्त साधुओं से प्रीति करै किन्तु ईर्ष्या न करे,
दुःखियों के दुःख को देखकर हँसी न करे वरन् उनके दुःख दूर
करने के उपाय सोचे, पुण्यात्माओं के पुण्य को देखकर प्रसन्न हो
किन्तु दम्भ वश होके उनसे विरोध न करै, पापियों से उदासीन
रहै अर्थात् उनके कर्मों का अनुमोदन भी न करे और न उनसे
विरोध ही करे । सूत्र में जो सुख और दुःख आदि शब्द लिखे
हैं उनसे तद्विशिष्ट जीवों को समझना चाहिये । फलितार्थ यह
हुआ कि मैत्री आदि कर्मों से चित्त में प्रसन्नता होती है और

चित्त के प्रसन्न रहने से सुख प्राप्त होता है और सुख से समाधि प्राप्त होता है, यह कर्म यद्यपि ऊररी कर्म है जैसे गणित में मिश्र और अमिश्र वा सामान्य व्यवहार (Compound) गणित के नियंत्रण करने के वास्ते हैं और वह जोड़ (Addition) अग्नि गणित की प्रधानता क्रियाओं के उपकारक होते हैं ऐसे ही राग द्वेषादि को शान्त करने वाले मैत्री आदि कर्मों से चित्त शुद्ध प्रसन्नता का प्राप्ति होता है और उससे संप्रज्ञात समाधि के योग्य बन जाता है। राग और द्वेष ही बिम्बों के मुख्य उत्पन्न करनेवाले हैं यदि यही सब सहित नष्ट हो जाय तो चित्त प्रसन्न होने से परम हो जाता है ॥ ३६ ॥ अब दूसरा उपाय करते हैं—

प्रच्छेदनविधारणाम्या वा प्राणस्य ॥ ३७ ॥

सू० का पदार्थ—(वा) या (प्राणस्य) प्राण वायु के (प्रच्छेदन विधारणाम्याम्) वस्तुपूर्वक बाहर निकालने तथा पुनः खींचने से ॥ ३७ ॥

भा०—अथवा प्राणवायु को वस्तुपूर्वक बाहर निकालने और पुनः खींचने से अर्थात् प्राणायाम करने से चित्त एकाम् होता है ॥ ३७ ॥

**माध्य-कोष्ठस्य वायोर्नासिकापुटाम्यां प्रयत्नविशेष-
विमर्शं प्रच्छेदनम्, विधारणं प्राणायामः ताम्यां वा मनसः
स्थितिं सम्पादयेत् ॥ ३८ ॥**

माध्य का पदार्थ—ऊपर में स्थित वायु को नाक के नयनों से अधिक प्रयत्न से बाहर निकालने को प्रच्छेदन करते हैं विशेष धारणा प्राण वायु को खींचकर निरोध करने का करते हैं इन दोनों से मन की एकपक्वता प्राप्त करै ॥ ३८ ॥

भावार्थ—उदरस्थ प्राण वायु को नासिका के नथनों से प्रयत्न पूर्वक बाहर निकालने को प्रच्छर्दन और खींचने को विधारण कहते हैं इन दोनों से मन को स्थिर करना चाहिये ॥ ३४ ॥

भा० वृ०—प्रच्छर्दनं कौष्ठ्यस्य वायोः प्रयत्नविशेषान्मात्रा-
प्रमाणेन वहिर्निःसारणम् । विधारणं मात्राप्रमाणेनैव प्राणस्य
वायोर्वहिर्गति विच्छेदः । स च द्वभ्या प्रकाराभ्यां बाह्यस्याभ्यन्त-
रापूरणेन पूरितस्य वा तत्रैव निरोधेन । तदेवं रेचकपूरककुम्भक
भेदेनत्रिविधः प्राणायामश्चित्तस्य स्थितिमेकाग्रताया निबध्नाति ।
सर्वासामिन्द्रियवृत्तीनां प्राणवृत्तिपूर्वकत्वात् । मनः प्राणयोश्च स्व-
व्यापारे परस्परमेकयोगक्षेमत्वास्तीयमाणः प्राण समस्तेन्द्रिय वृत्ति-
निरोधद्वारेण चित्तस्यैकाग्रतायां प्रभवति । समस्तदोषक्षयकारित्व
श्चास्याऽऽगमे श्रयये । दोषकृताश्च सर्वा विक्षेपवृत्तयः । अतो दोष-
निर्हरणद्वारेणद्वारेणाप्यस्यैकाग्रताया सामर्थ्यम् ॥ ३४ ॥ इदानीं
मुपायान्तरप्रदर्शनोपक्षेपेण संप्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वाङ्गं कथयति ।

भो० वृ० का भाष्य—प्रच्छर्दन का अर्थ है उदर स्थित वायु
का विशेष यत्न से मात्राके अनुसार बाहिर निकाल देना । मात्रा के
अनुसार ही अर्थात् गुरु जितनी वायु को पेट से बाहर निकालने
को बतावे उससे अधिक वायु को न निकालना, मात्रा के अनुसार
ही प्राण वायु के बाहर रोकने को विधारण कहते हैं । यहाँ इन
दोनों अर्थात् प्रच्छर्दन और विधारण' में बाहर की वायु को भीतर
भरने से, भीतर खींची हुई वायु को भीतर ही रोकने से पूरक,
रेचक और कुम्भक तीन प्रकार के प्राणायाम होते हैं इन ही को
करने से चित्त एकाग्र होता है । इन्द्रियों की जितनी वृत्ति है
वह सब प्राण की गति के आधीन रहती है । मन और प्राण,
मन की गति और व्यवहार परस्पर ऐसे घनिष्ठ सम्बन्ध
रखते हैं कि एक दूसरे के आश्रित हैं । वस प्राणायाम द्वारा या

अथ प्राण्य की गति रुक जाती है तब मम की गति औरें इन्द्रियों की सब वृत्तियों रुक जाती है तब चित्त एकत्र हो जाता है वेशों में प्राणायाम को समस्त दोषों का नाशक सिद्धा है और विकल्प अर्थात् योग में धिन्न करने वाली सब वृत्तियों दोष से उत्पन्न होती हैं, इस कारण दोषों का नाश करने के द्वारा भी प्राणायाम चित्त को एकत्र करने में समर्थ है ॥ ३४ ॥ अब चित्त को एकत्र करने के और उपायों को बर्णन करना अर्थ समस्त के संप्रज्ञात समाधि के पूर्व अंग का बर्णन करते हैं ।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति-
निबन्धिनी ॥ ३५ ॥

पदा०—(विषयवती) दिव्य विषयवासी (प्रवृत्ति) प्रवृत्ति (उत्पन्ना) उत्पन्न होकर (मनसः) मन की (स्थितिनिबन्धिनी) स्थिरता को स्थिर करती है ॥ ३५ ॥

भाषा०—अब वा अब दिव्य विषय में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है तब मम स्थिर होता है ॥ ३५ ॥

भाष्य—नासिक्प्रेषारयतोस्य या दिव्यगन्धसवित्सा गन्धप्रवृत्तिः चिह्वाप्रे रससंघित् तासुनिरूपसंघित् विह्वा मद्दे स्पर्शसंघित् विह्वामूले शब्दसंघित् दित्यता वृत्त्य उत्पन्नाधिशं स्थितौ निबन्धन्ति, सशयं विधमन्ति' समाधिप्रज्ञायाश्च इद्रीमवन्तीति । एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणि प्रदोष्यादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येष वेदितव्या । यद्यपि हि तेषामस्मानुमानाचार्योपदेशैरवगतवर्षतत्त्वं सद्वृत्तमेव

भवती एतेषां यथा भूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात् तथाऽपि
यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणमवेद्यो भवति तावत्
सर्वं परोक्षमितापवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां दुर्द्विमुत्पा-
दयति । तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशोपोद्वलनार्थमेवा-
वश्यत्तश्चिदर्थविशेषः प्रत्यक्षीकर्तव्यः तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेश-
प्रत्यक्षत्वे सति सर्वसूक्ष्मविषयमपि आपवर्गात् च्छद्ध्यते ।
एतदर्थमेवेदं चित्तपरिकर्म निदिश्यते । अनियतासु
वृत्तिषु तद्विषयायां वशीकार संज्ञायामुपजातायां समर्थस्या
तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणायेति । तथाच सति श्रद्धावीर्य-
स्मृतिसमाधयोऽस्या प्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति ॥ ३५ ॥

भा० का पदा०—नासिका के अग्रभाग में धारण करने वाले
मनुष्य को जो दिव्य गन्ध का ज्ञान होता है वह गन्ध की प्रवृत्ति
है जिह्वा के अग्रभाग में रस का ज्ञान, तालु में रूप का ज्ञान अर्थात्
दिव्य दृष्टि, जिह्वा के मध्यभाग में स्पर्श ज्ञान अर्थात् दिव्यत्वक्
जिह्वा के मूलभाग अर्थात् जड़ में शब्द ज्ञान अर्थात् दिव्य श्रवण
शक्ति यह सब प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त को स्थिति में युक्त
करती हैं संशय को दूर करती हैं और योगोपयोगिनी बुद्धिके द्वार
होती हैं इससे चन्द्रमा सूर्य तारागण दीपक और रत्न आदिकों में
प्रवृत्ति उत्पन्न होकर अपने २ विषय को स्थिर करती हैं इस प्रकार
से प्रवृत्ति जाननी चाहिये यद्यपि प्रत्येक शास्त्र, अनुमान और
आचार्य के उपदेश से निश्चयपूर्वक जाना गया अर्थों का तत्त्व सत्य
ही होता है । इन सबका अर्थ रूप से प्रतिपादन योगशक्ति से
होता है, तो भी जबतक किसी विषय का एक अंश भी अपने

मेवादि इन्द्रियों में प्रत्यक्ष नहीं होता तब तक सम्पूर्ण परोक्ष के समान है। मोक्षदिकों में दिव्य पदार्थों में निष्प्रयत्न बुद्धि का उत्पन्न करता है। इसलिये शास्त्र, अनुमान आचार्यों के उपदेश के निष्प्रय करने को बहर काई विशेष उपाय प्रत्यक्ष करना आदिपे सूक्ष्म विषयों में से शास्त्र अनुमान और आचार्य के उपदेश किये विषय के एक देश के प्रत्यक्ष ज्ञान से सम्पूर्ण दिव्य विषयों (मोक्ष पर्यन्त) पर विश्वास हो जाता है। इसी प्रयोजन से चित्त का प्रयत्न करना उपदेश किया जाता है। यदि चित्तवृत्ति नियत न रहेगी अर्थात् विविध वृत्ति रहेगी तो कुछ प्रत्यक्ष न होगा जब कि विषयाकार वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब सूक्ष्म विषयों के प्रत्यक्ष करने की शक्ति हो जाती है और जब दिव्य विषय प्रत्यक्ष होते हैं भ्रष्टा असाह स्मृति और समाधि होती है चित्त के निष्प्र न होने से भ्रष्टादि नहीं होती हैं ॥ १५ ॥

भाषा का भाषार्थ—नासिका के अग्रभाग में जो ध्यान करने से मनुष्य को दिव्य गन्ध का ज्ञान होता है वह गन्ध की प्रवृत्ति है, जिह्वा के अग्रभाग में रस का ज्ञान, तालु में रूप का ज्ञान अर्थात् दिव्य दृष्टि, जिह्वा के मध्य में स्पर्श अर्थात् दिव्य स्पर्श जिह्वा की मध्य में शब्द ज्ञान अर्थात् दिव्य मन्त्र शक्ति, जब सब प्रवृत्ति उत्पन्न होकर चित्त को स्थिति में पुच्छ करती हैं संशयों का दूर करती है योगोपयोगिनी बुद्धि का द्वार होता है इससे चन्द्रमा सूर्यमण्ड-मण्डि आदि में प्रवृत्ति उत्पन्न होकर अपने अपने विषयों को स्थिर करती है। यद्यपि शास्त्र अनुमान और गुरुपदेश से इन सबका धर्माथ ज्ञान होता है क्योंकि मन्त्रादिकों में धर्माथ बाध की शक्ति है तथापि जिसका अब तक एक देश भी प्रत्यक्ष नहीं होता तब तक अत्यन्त सूक्ष्म भाषादि विषयों में वह बुद्धि नहीं उत्पन्न होती इसलिये शास्त्र, अनुमान और गुरु के उपदेश को सत्य

करने तथा उसमें दृढ़ निश्चय उत्पन्न करने के लिये कोई विशेष प्रयत्न करना चाहिये । जब आचार्य के उपदेशादि में निश्चय हो जाता है तब अन्य मोक्षादि विषयोंमें भी श्रद्धा होती है इसही लिये यह चित्त निरोध के उपाय कहे जाते हैं जब किसी विपर्यय ज्ञान का होना दुःसाध्य है ॥ ३५ ॥

भो० वृ०—मनस इति वाक्यशेषः । विषयाः गन्धरसरूपस्पर्श शब्दास्ते विद्यन्ते फलत्वेन यस्याः सा विषयवती प्रवृत्तिर्मनसः स्थैर्यं करोति । तथा हि नासाग्रे चित्ताधारयतो दिव्यगन्धसंविदुपजायते । तादृश्यैव जिह्वाग्रे रससवित् । ताल्वग्रे । रूपसंवित् । जिह्वामध्ये स्पर्श सवित् । जिह्वामूले शब्दसंवित् तदेवं तत्तदिन्द्रियद्वारेण तस्मिन् तस्मिन् दिव्ये विषये जायमाना सविचित्तस्यैकाग्रताया हेतुर्भवति अस्ति योगस्य फलमिति योगिनः समाश्वासोपादनात् ॥ ३५ ॥

एवंविधमेवोपायान्तरमाह ।

भोज वृ० का भाष्य—सूत्र में मनसः (मन की) शब्द लगा देने से वाक्य पूरा हो जाता है । पंचभूतों के विषय अर्थात् गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द यह पाँचों जिसमें फल रूप से रहते हों (अर्थात् जिन वृत्तियों के यही फल हों) उसे विषयवती कहते हैं, यह विषयवती प्रवृत्ति भी मन को स्थिर करती है उसे नोक के अगले भाग में चित्त को स्थिर करने से दिव्य गन्ध का ज्ञान होता है । वैसा ही जिह्वा के अग्रभाग में मन को लगाने से दिव्य रसका ज्ञान होता है, तालु के अग्रभाग में रूप का ज्ञान । जिह्वा के मध्यभाग में स्पर्श ज्ञान और जिह्वा के मूल अर्थात् जड़ में चित्त को स्थिर करने से शब्द का ज्ञान होता है इस ही प्रकार से जिस तत्व का ग्रहण करने वाली जो इन्द्रिय है उसमें चित्त को स्थिर करने से उसही विषय का दिव्य ज्ञान उत्पन्न होता है । और वही ज्ञान चित्त की एकाग्रता का कारण हो जाता है उक्त दिव्य ज्ञानों के होने से योगी को यह

निश्चय हो जाता है कि योग से प्राप्त हुए कुछ प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥
ऐसा ही और कहा है ।

विशोकं वा ज्योतिष्मतो । ३६ ॥

सू० का पदार्थ—(वा), या (विशोक) शोक
रहित ज्योतिष्मती प्रकाश पुच्छ अथवा ज्ञानयुक्त ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—समस्त सब शोक रहित प्रवृत्ति अस्पष्ट होती है
तब मन स्थिर होता है ॥ ३६ ॥

भाष्य—प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसुः स्थितिनिबन्धनोतिस्य
नुवर्धते । इदं पुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसत्त्वंतु बुद्धिः
स्वहि भास्वरमाकाशकस्य तत्रस्थितिवैशारद्यात् प्रवृत्तिः
सूर्य्यन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते । तथास्मितायां
समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमपोदधि कस्य सान्तमन्नन्त
मस्मितामात्रं भवति यत्रदमुक्तम् । 'तमुष्णमात्रमावमानं
मनविद्यास्मोति प्रथं तावत् सप्रवानीते' इति येषदयोर्हि
शोका विषयवती अस्मितामात्रात् बुद्धिर्ज्योतिष्मतीसम्प्लुते
यया योमिनश्चिच्छेदं स्थितिपदसमते इति ॥ ३६ ॥

भा० का पदार्थ—उत्पन्न हुई प्रवृत्ति मन का स्थिर करने वाली
होती है यह वाक्य पूर्व सूत्र से इस सूत्र में आता है । इदं कर्म
में धारण अर्थात् ध्यान करने वाला जो निश्चयात्मक ज्ञान
अथवा सुख दुःखादि का ज्ञान होता है उसमें बुद्धि की सत्ता
प्रकारा युक्त प्रकाश के समान विस्तृत होती है उस इदं कर्म
में अस्मात् पुच्छ सूक्ष्म प्रवृत्ति सूर्य्य चन्द्रमा यह और मणि के

प्रकाश, रूप आकार में बदल जाती है । जब अस्मिता में चित्त स्थिर हो जाता है तरंग रहित समुद्र के समान उपाधि रहित अनन्त ज्ञानयुक्त स्वच्छ अपने रूप में विचारशील होता ॐ है जिस अवस्था में यह कहा है कि उस परमाणु के समान आत्मा को मैं जानता हूँ अर्थात् परमेश्वर के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त हुआ हूँ । इस प्रकार से तब ऐसा ईश्वर को जानता हूँ यह दो प्रकार की विशोका शोक रहित और विषयवती लक्ष्य में परिनिष्ठ अस्मिता-मात्र अर्थात् जिसमें जीव अपने वास्तविक रूप को जाने और ईश्वर के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त हो जाय वह प्रवृत्ति ज्योतिष्मती कही जाती है जिससे योगी का चित्त स्थिर भाव को प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

भा० भावार्थ—हृदयकमल अर्थात् हृदयाकाश में जब प्राणधारणा की जाती है तब योगी को निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति होती है । बुद्धि अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान प्रकाशयुक्त और आकाश के समान विस्तृत होता है । उसमें स्थिर होने से सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और मणियों के प्रकाश के समान जाज्वल्यमान ज्ञान प्राप्त होता है, तब चित्त अस्मिता में अर्थात् अपने रूप ज्ञान में स्थिर होता है और उसकी दशा इस दशा में तरंग रहित महासागर के समान शान्त और निश्चल होती है, तब जीव यह समझता है कि मैंने उस सूक्ष्मतर परमात्मा को अब जाना है और अपने स्वरूप को भी समझा है, इस प्रवृत्ति को ज्योतिष्मती कहते हैं, ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के उत्पन्न होने से योगी का चित्त स्थिर होता है ॥ ३६ ॥

भो० वृत्—प्रवृत्तिरुत्पन्ना चित्तस्य स्थितिनिबन्धिनीति वाक्य शेष । ज्योतिः शब्देन सात्त्विकः प्रकाश उच्यते । स प्रशस्तो भूयान

ॐ इस योग को अस्मितानुग कहते हैं ।

तिरायवाह्य विद्यते यस्या सा ज्योतिष्मती प्रवृत्तिः विरोका
विगतः सुखमयसुखाम्यासवशाच्छोको रक्तपरिणामो यस्य सा
विरोका चेत्तस्य स्थितिनिश्चिनी । अयमर्थः हृदयकम्पसम्पुटमध्य
प्रशान्त कस्तूर बीरोदयिप्रस्यं विरासत्वं भावयतः प्रज्ञासोक्तत्
सर्ववृत्तिपरिहृत्य चेत्तस्यैवमुत्पद्यते ॥ ३६ ॥ अथापान्तरप्रदर्शन
द्वारेण सम्प्रज्ञातसमाधेर्विषयं दर्शयति ।

मो० बु० का भाष्य—सूत्र में प्रवृत्ति अल्पम हुई विरा को
स्थिर करती है इतने शब्द और जगने से वाक्य पूरा होता है ।
ज्योति शब्द से सात्त्विक प्रकाश कहा है वह सात्त्विक प्रकाश
जिसमें अत्यन्त अधिक हो उसे ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहत हैं ।
विरोका का अर्थ यह है कि सुख मय योगाम्यास से दूर हो गया
है शोक जिससे ऐसी प्रवृत्ति जब उत्पन्न होती है तब चित्त को
स्थिर कर देती है । अभिप्राय यह है कि हृदयकम्प के बीच में
प्रशान्त महासागर के समान चित्त विचार युक्त वह प्रकाशमय
जब होता है तब सब वृत्तियाँ बंद हो जाती हैं और उससे चित्त
स्थिर हो जाता है ॥ ३६ ॥ चित्त की स्थिरता का दूसरा अर्थ
विज्ञाने के बढ़ने से सम्प्रज्ञात समाधि का विषय विज्ञात है ।

वीतराग विषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

पदार्थ—(वीतराग विषयम्) रागादि विषय से
शून्य (वा) या (स्वयम्) चित्त ।

भाष्य—अथवा जब चित्त राग से मुक्त हो जाता है, तब वह
मन की स्थिरता का हतु होता है ।

भाष्य—वीतरागचित्तसुम्बनोपरकृद्वायोमिनश्चिध
स्थिति पदक्षम इति ॥ ३७ ॥

भा० का पदार्थ—वीतराग योगी का आलम्बन से उपरक्तचित्त स्थिरता को प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

भा० का भावार्थ—वीतराग योगि का आलम्बन से उपरक्त चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

भो०, वृ०—मनसः स्थिति निबन्धन भवतीतिशेषः । वीतरागः परित्यक्त विषयाभिलाषस्तस्ययच्चित्त परिहृतक्लेशं तदालम्बनी-कृतं चेतसः स्थिति हेतुर्भवति ॥ ३७ ॥ एवं विधमुपायान्तरमहि ।

भोज वृ० भावार्थ—विषयों का अभिलाष जिसने त्याग दिया है ऐसे वीतराग का क्लेशरहित जो चित्त उसका आलम्बन करने से भी चित्त स्थिर होता है ॥ ३७ ॥ इसी प्रकार का अन्य उपाय कहते हैं—

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

पदा०—[वा] या (स्वप्न निद्रा ज्ञानालम्बनम्) स्वप्न के समान अथवा निद्रा के समान ज्ञान के आश्रय से ॥ ३८ ॥

भावा०—अथवा जैसे स्वप्नावस्था और सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) में जागृत अवस्था विषय का ज्ञान और इन्द्रिय चाञ्चल्य नष्ट हो जाता है ऐसे ही ज्ञान के आश्रय से जब योगी की बाह्यवृत्ति नष्ट हो जाती है तब चित्त स्थिर होता है ॥ ३८ ॥

भाष्य०—स्वप्नज्ञानालम्बनं निद्राज्ञानालम्बनम्* वा-तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३८ ॥

भा० का पदा०—स्वप्न के समान ज्ञान के आश्रय से अथवा

* द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते ।

अथस्या के ज्ञान के समान ज्ञानों से योगी का चित्त स्थिरता प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥

भाषा०—स्वप्नावस्था के ज्ञान के समान ज्ञानों में मग्न होने और सुषुप्ति अवस्था के ज्ञान के समान ज्ञानों में मग्न होने से योगियों का चित्त स्थिर होता है ॥ ३८ ॥

मो० सू०—अस्मिन्मिदवाप्यभिरुचिर्मेनासात्रेयैव । यत्र मोक्षस्वप्नावस्थाः स स्वप्नः । निद्रा पूर्वोक्तप्रवृत्त्या । तदाहम्भूतम् स्वप्नावस्थाननिद्रासम्बन्धं वा ज्ञानमाहम्भूतमानचेतसः स्थितिं कुरुति ॥ ३८ ॥
मानासुचित्वात् प्राणिनां अस्मिन् कस्मिन्मिदस्तुनि योगिनः अथाभयति तस्य ध्यानापीप्सुस्थिरिरिति प्रतिपादयितुमाह ॥ ३८ ॥

भा० सू० का भा०—जिसमें इन्द्रियों की प्रवृत्तियाँ अस्त हो जायँ और केवल मन से ही आत्मा जिसमें विषयों का भोग करे उसे स्वप्न कहते हैं, निद्रा का लक्षण पहिले कह चुके हैं इन दोनों से आलम्बन में जो ज्ञान होता है उस ज्ञान से भी मग्न की स्थिरता होती है ॥ ३८ ॥ प्राणियों की रुचि असंख्य प्रकार की होती है इस से जिस किसी वस्तु में योगी की मग्न हो सकती है उसके ध्यान से भी स्थिर होती है इसका वर्णन अगले सूत्र में किया है ॥ ३९ ॥

यथाभिमतध्यानात् ॥ ३९ ॥

सू० का पदा०—(वा) अथवा (यथाभिमतध्यानात्) इच्छा के अनुरूप किसी सुखप्रद विषय के ध्यान से ॥ ३९ ॥

भाषा०—अथवा किसी ऐसी वस्तु के ध्यान से जो योगी की इच्छा के अनुरूप हो चित्त स्थिर होता है ॥ ३९ ॥

भाष्य०—यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत् । एव सम्भ-

स्थितिं कमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति ॥ ३६ ॥

भा० का पदा०—(जो इच्छा के अनुकूल हो उसही का ध्यान करे उसमें स्थिर होने से दूसरे स्थल में भी स्थिरभाव को प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

भा० का भा०—अपनी इच्छानुसार चुने हुये किसी एक विषय के ध्यान से मन स्थिर होता है ॥ ३६ ॥

भोज वृत्ति—यथाभिमत वस्तुनि बाह्ये चन्द्रादावाभ्यन्तरे नाडी चक्रादौ वा भाव्यमाने चेतः स्थिरीभवति ॥ ३६ ॥

एवमुपायान्प्रदर्श्य फलदर्शनयाह—

भो० भा०—किसी इच्छित वस्तु के जैसे बाह्य चन्द्रादिक और आभ्यन्तरिक नाडीचक्रादि के ध्यान करने से चित्त स्थिर होता है ॥ ३६ ॥

चित्त के स्थिर करने के उपायो का वर्णन करते हैं—

परमाणुपरममहत्वान्तऽस्य वशीकारः ॥४०॥

सू० का पदा०—(परमाणुपरममहत्वान्तः) परमाणु से लेकर महा स्थूल पदार्थों तक (अस्य) मनके (वशीकारः) वश करने का स्थान है ॥ ४० ॥

सू० का भा०—मन वश करने के लिये परमाणु से महास्थूल पदार्थ तक जो प्रिय हों उसी के द्वारा मन को स्थिर करे ॥ ३६ ॥

भाष्य०—सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाण्वन्तं स्थितिपदं लभत इति । स्थूले निविशमानस्य परममहत्वान्तं स्थितिपदं चित्तस्य । एवन्तामुभयींकोटिमनुधावतोयोऽस्याप्रतीधातः सपरोवशीकारः तद्वशीकारात् परिपूर्णं योगिनश्चितं न पुन-

रम्यासकृतपरि कर्मापेक्षत इति ॥ ४० ॥ अथ सूक्ष्मस्थि-
तिरस्य चेतसः किंस्वरूपा किंविपया वा समापशिरिति
तदुच्यते ।

भा० का पदा०—सूक्ष्म पदार्थ में चिन्तन करने से प्रसृष्ट रूप
का अनुसूय परमाणु तक स्थिरीभूत होता है । सूक्ष्म विषय के
चिन्तन में प्रसृष्ट हुये चित्त का परम सूक्ष्म महात्म पर्यन्त स्थि-
रता का पद है । चित्त का इस प्रकार से ठक दोनों कोटि अर्थात्
सूक्ष्म और सूक्ष्म कोटि को अनुसरण करनेवाले दोनों पक्ष पर
चक्षुष्य से जो रोक्ता है वह परम बरीकरण है उस बरीकरण
योगी का चित्त फिर बारम्बार अनुसूय कृत कर्म की अपेक्षा नहीं
रक्ता है । अथ प्रश्न यह होता है कि स्थिर हुये चित्त की किस
प्रकार की एवं किस विषय की स्थिति वा धारणा होती है । यह
अगले सूत्र में कहते हैं ॥ ४० ॥

भा० का भा०—अगत् में जो प्रकार के पदार्थ हैं एक सूक्ष्म
दूसरे सूक्ष्म । योगी का उचित है कि दोनों में से किसी कोटि को
धारण करे अर्थात् जब सूक्ष्म कोटि में चित्तको लगावेगा तब सबसे
सूक्ष्म परमाणु का चिन्तन करने से उससे भी सूक्ष्मतर ईश्वर में
चित्त स्थिरता को प्राप्त होगा और ऐसे ही सूक्ष्म पदार्थ के चिन्तन
से आकाश आदि महासूक्ष्म पदार्थों के चिन्तन के अनन्तर उनसे
भी सूक्ष्म परमेश्वर में स्थिति को प्राप्त हो जायगा उपनिषद् में
भी लिखा है अणोरणीयान् महतो महीयान् चित्त को दोनों
कोटियों की भार दौड़ता है उसको एक कोटि में जगत् को बस
करना कहते हैं, अब योगी का चित्त एक कोटि में स्थिर हो जाता
है तब उसे दूसरे उपायों की अपेक्षा नहीं रहती ॥ ४० ॥

भोज० ५०—यभिरुमायैचित्तस्य स्वैर्यं भावयतो योगिनः सूक्ष्म

विषय भावना द्वारेण परमाणवन्तो वशीकारोऽप्रतिघातरूपो जायते
न क्वचित्परमापर्यन्ते सूक्ष्मे विषयेऽस्य मनः प्रतिहन्यत इत्यर्थः ।
एवं स्थूलमाकाशादि परम महत्पर्यन्त भावयतो न क्वचिच्चेतसः
प्रतिघात उत्पद्यते । सर्वत्र स्वातन्त्र्यं भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

एवमेभि रूपायैः सस्कृतस्य चेतसः की दृग्रूप भवतीत्याह—
भो० वृ०—उक्त उपायों से चित्त की स्थिरता का यत्न करते
हुए योगी को सूक्ष्म विषय की भावना से परमाणु पर्यन्त वश में
हो जाते हैं । कहीं भी योगी के मन की गति नहीं रुकती । ऐसे ही
आकाश आदि स्थूल विषयों में भी मन की गति अव्याहत हो
जाती है, अर्थात् सर्वत्र इसको स्वातन्त्र्य प्राप्त हो जाता है ॥४०॥

इन उपायों से चित्त के स्थिर हो जाने पर उसका कैसा रूप
होता है ? इसका वर्णन अगले सूत्र में किया है—

**क्षीणवृत्तेरभिजातस्यैव मणेर^१हीतृग्रहणग्राह्येषु
तत्स्थितदंजनतासमापत्तिः ॥ ४१ ॥**

सू० का पदार्थ—(क्षीणवृत्तेः) क्षीण हो गई हैं वृत्ति-
याँ जिसकी (अभिजातस्य) स्फटिक (मणेरिव) मणि
के समान (हीतृग्रहणग्राह्येषु) ग्रहण करने वाले ग्रहण
करने के साधन और ग्रहण करने योग्य पदार्थ में (तत्स्थि-
तदंजनतासमापत्तिः) स्थिर होने से उसकी समानता
प्रतीत होने लगती है ॥ ४१ ॥

सू० का भावार्थ—जिसकी वृत्ति क्षीण हो जाती है उसके चित्त
की प्रतीति ऐसी रहती है जैसी स्फटिकमणि की अर्थात् स्फटिक-
मणि जैसे स्वयं स्वच्छ है परन्तु वह समीपस्थ पदार्थ के रङ्ग का

मतीत' होने लगाती है ऐसे ही योगी का चित्त स्वयं स्वच्छ होता है परन्तु धृतिसेयोग से यह तत्कार प्रतीत होने लगाती है ॥ ४१ ॥

भाष्य-धीमद्वृत्तिरिति प्रत्यस्तमितप्रत्ययस्यैस्यर्थः । अमि-
षातस्येव ममेरिति दृष्टान्तोपादानम् यथा स्फटिक उपाध
यमेदात् तद्यद्रूपोरक्त उपाधयक्पाकारेण निर्मासते । तथा
ग्रासोत्तिम्बनोपरक्तं चित्तं ग्रास्य समापन्न ग्रासरूपस्कारेण
निर्मासते । भूतसूक्ष्मोपरक्तं भूतसूक्ष्मसमापन्न भूतसूक्ष्मस्यै-
रूपामास भवति तथा स्थूलात्तिम्बनोपरक्तं स्थूलरूपसमापन्नं
विरवरूपामासभवति तथा विष्वमेदोपरक्तं विष्वमेद समा-
पन्न विष्वरूपामासभवति । तथा गूह्येष्वमीन्द्रियेष्वपि
द्रष्टव्येऽहं । गूह्योत्तिम्बनोपरक्तं गूह्यसमापन्नं गूह्यस्वरू-
पाकारेण निर्मासते तथा गूहीवपुरुषा लम्बनोपरक्तं गूही-
वपुरुष स्वरूपकारेण निर्मासते तथासूक्ष्मपुरुषालम्बनोपरक्तं
सूक्ष्मपुरुषसमापन्नं सूक्ष्मपुरुषस्वरूपाकारेण निर्मासते इति ।
तदेवमभिजातमधिकत्पस्य चेतसो गूहीवगूह्यगूह्येषु पुरुषे
न्द्रियभूतेषु यातस्यतद्व्यनवातेषु स्थितस्य तदाकारापत्तिः
सा समापत्तिरित्युच्यते ॥ ४१ ॥

भा० का पदार्थ-धीमद्वृत्ति बाल की अर्थात् जिसके बिकस्पादि-
मिध्यादान अस्त हो गये हैं सुत्र में भा अमित्रतस्यैव ममे' यह
सिद्धा है सा दृष्टान्त का प्रमाण किया है । जैसे स्फटिक पत्थर
समीप में रखी हुई वस्तु के रंग याता समीपस्थ आग्नेय के रूप के
समान ही मान होता है ऐसे ही चित्त जिस विषयको प्रमाण करता

है ब्राह्म विषय के रूप वाला भान होता है । जिसका चित्त सूक्ष्म भूतों में लग्न होता है, सूक्ष्म भूतों में लय हो जाने से सूक्ष्म भूतों के स्वरूप के समान ही हो जाता है । ऐसे ही जिस योगी का चित्त स्थूल वस्तुओं में लग्न होता है, वह स्थूल में मग्न होने के कारण स्थूल स्वरूप का ही ध्याता होता है । ऐसे ही विश्वरूप के चिन्तन में लगा हुआ मन विश्वरूपाकर हो जाता है । ग्रहण करने में जो सहायक इन्द्रियाँ हैं उनमें भी संलग्न होने से उनके स्वरूप में भान होता है । ऐसे ही ग्रहण करने वाले पुरुष में उपरक्त होने से ग्रहीता पुरुष के आकार का भान होता है, तैसे ही मुक्त पुरुष में चित्त के लगाने से मुक्त पुरुषाकार ही चित्त हो जाता है इस रीतिसे स्फटिक मणि के समान चित्त की ग्रहीता, ग्रहण और ब्राह्म स्थिति और समीपता है, वही तदाकारापत्ति का कारण है, विषयों में उसे समापत्ति कहते हैं ॥ ४१ ॥

भा० का भा०—जिसके चित्त की वृत्ति अस्त हो गई है उसका चित्त स्फटिक मणि के समान ब्राह्म ग्रहण ग्रहीतृभाव को धारण करता है उसे समापत्ति कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जैसे स्फटिक मणि जिस वस्तु के समीप रक्खा जाता है उस ही के रूप को धारण कर लेता है ऐसे ही चित्त भी जिस विषय में संलग्न होता है वैसा ही प्रतीत होने लगता है एवम् तदाकारापत्ति को समापत्ति कहते हैं ॥ ४१ ॥

भो० वृ०—क्षीणा वृत्तयो यस्यस क्षीणवृत्ति तस्य ग्रहीतृग्रहण-ब्राह्मेण आत्मेन्द्रियविषयेषु तत्स्थितदब्जनता समापत्तिर्भवति । तत्स्थित्व तत्रैकाग्रता । तदब्जनता तन्मयत्वं, न्यभूते चित्ते विषयस्य भाव्यमानस्यैवोत्कर्षः तथाविधा समापत्तिः, तद्रूपः परिणामो भवतीत्यर्थः । दृष्टान्तमाह—अभिजातस्ये मणेर्यथाऽभिजातस्य निर्मलस्फटी

कर्मणोस्तत्तत्तत्पापिबाशाचचहूपापचिरेष्व निर्मलस्य चित्तस्य
 तत्तद् भावनीयवस्तु परागातहूपापचिः । यद्यपिप्रहीतमद्वयगू
 षोपु इत्युक्त तत्रापि भूमिकर्मवशात् ग्राह्य गूह्यगूहीतुपु इति
 बाध्यम् । यतःप्रथमं ग्राह्यनिष्ठ पदं समाधिः ततो प्रहयनिष्ठ ततो
 अस्मितामात्ररूपो गूहीतुनिष्ठ, केवलस्य पुरुषस्य गूहीतुर्माभ्यस्मास-
 र्मवात् । ततश्च स्फूर्ज सुखमग्राह्योपरच्छ चित्तं तत्र समापन्नं
 भवति । पदं गूह्येगूहीतरि च समापन्नं बाध्यम् ॥ ४१ ॥ इदानी-
 मुक्त्या पदं समापत्तं वास्तुर्बिभ्यमाह ।

मो० ६० का मा०—जिसकी वृत्ति सीध हो गई है उसे धीयवृत्ति
 कहते हैं । उस धीयवृत्ति का प्रहीता (प्रहय करने वाला) प्रहय
 (प्रहय करने का सामन) और प्राह्य (गूहय करने योग्य) आत्मा,
 इन्द्रिय और विषयों में तत्स्य तद्व्यनता समापत्ति अर्थात् समाधि
 होती है तत्स्य का अर्थ है उस ही में चित्त का एकत्र हो जाना,
 तद्व्यनता का अर्थ तन्मय होता है धीय वृत्ति वाले चित्त में
 विचारणीय विषय की ही अस्तित्व रहती है और वैसे ही समा-
 पत्ति अर्थात् उस ही प्रकार का परिणाम वा परिपक्व होना है
 दृष्टान्त भी कहते हैं जैसे दृढ़ निर्मल स्फटिक मयिक्य समीपवर्ती
 वस्तु के समान ही रूप हो जाता है ऐसे ही निर्मल चित्त का विचा-
 रणीय वस्तु के अनुसार रूप बन जाता है । यद्यपि प्रहीता, प्रहय
 और प्राह्य इस क्रम से सूत्र में लिखा है ठो भी प्राह्य, प्रहय और
 प्रहीता ऐसा लिखना उचित है क्योंकि प्रथम प्राह्य विषय में समाधि
 होती है फिर प्रहय में और पश्चात् अस्मिता रूप प्रहीता में
 समाधि होती है क्योंकि केवल प्रहीता आत्मा में विचार वा
 समाधि नहीं होती है तब स्फूर्ज सुख प्राह्य के संसर्ग से चित्ततत्प
 ऐसे प्रहय और प्रहीता के संसर्ग में भी समझना चाहिये ॥ ४१ ॥
 आगे ५६ समाधि के ४ भेदों का वर्णन करते हैं ।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का
समापत्तिः ॥ ४२ ॥

सू० का पदार्थ—(तत्र) उसमें (शब्दार्थज्ञानविकल्पैः)
शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प से (संकीर्णा) अर्थात्
सीमाबद्ध (सवितर्का समापत्तिः) वितर्क सहित समापत्ति
होती है ॥ ४२ ॥

सूत्र का भावार्थ—शब्द अर्थ और ज्ञान के विकल्प द्वारा समा-
पत्ति संकीर्ण और सवितर्क होती है ॥ ४२ ॥

भाष्य—तद्यथा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति
ज्ञानमित्य विभागेन विभक्ता नामपि गूह्यं दृष्टम् विभज्य-
मानाश्चान्ये शब्दधर्मा अन्ये अन्यऽर्थधर्मा विज्ञानधर्मा इत्ये-
तेषां विभक्तः पन्थाः तत्र समापन्नस्य योगिनो यो गवाद्यर्थः
समाधिप्रज्ञायां समारूढः सचेच्छब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्ध
उपावर्तते सा संकीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते । यदा
पुनः शब्दसंकेतस्मृतिपरिशुद्धो श्रुतानुमानविकल्प शून्यायां
समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणावस्थितार्थस्तत्स्वरूपाकारमात्र-
तयैवावच्छिद्यते । साच निर्वितर्का समापत्तिः । तत्परम्
प्रत्यक्षम् । तच्च श्रुतानुमानयोर्वीजम् । ततःश्रुतानुमाने
प्रभवतः । न च श्रुतानुमानज्ञानसहभूतं तद्दर्शनम् । तस्मा-
दसंकीर्णं प्रमाणन्तरेण योगिनो निर्वितर्कसमाधिजम् दश-

तमिति ॥४२॥ निर्वितर्क्याः समापत्तरस्याः सूत्रेण सुखं
योस्यते ।

भा० का पदा०—यह समापत्ति जैसे गौ यह राज्य गौ यह अर्थ और गौ यह ज्ञान इन तीनों की एकता रहती है प्रत्यक्ष र भी प्रत्यक्ष देखा गया है । विभाग किये राज्यके गुण भिन्न होते हैं, अर्थ के गुण भिन्न होते हैं विज्ञान के धर्म प्रत्यक्ष होते हैं यह इनका प्रत्यक्ष किया गया मार्ग है । उसमें प्रविष्ट हुए योगी का या गौ भावि राज्यों का अर्थ स्थिर बुद्धि अर्थात् समाधिस्थ बुद्धि में बैठा हुआ है यदि वह राज्यज्ञान विकस्यमुक्त रहता है वह सीमावद्ध समापत्ति सवितर्क कहलाती है । अब फिर राज्य के संकेत अर्थात् कल्पित अर्थों की स्मृति शुद्ध होने से सुने हुए अनुमान किये हुए ज्ञान और विकस्य से रहित अवस्था अथ और अनुभूत पदार्थ ज्ञान के विकस्य से शून्य समाधिस्थ बुद्धि में केवल अपने स्वरूप से अर्थात् अम्य से संग रहित होकर अर्थ रहता है अपने स्वरूप के ही आकार से अवच्छिन्न वा जुड़ा रहता है यह निर्वितर्क समापत्ति वा समाधि कहलाता है यह परम प्रत्यक्ष और यह प्रत्यक्ष और अनुमान किये हुए का कारण है उससे प्रत्यक्ष और अनुमान स्वयं हाथ हैं न कि प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान के साथ उसका दर्शन होता है इस कारण से सीमा रहित दूसरे प्रमाण से यागी का निर्वितर्क समाधि में प्राप्त हुआ दर्शन होता है ॥ ४२ ॥

भा० का भावार्थ—जैसे गौ राज्य गौ राज्य का अर्थ और गौ राज्य का ज्ञान यह तीनों कहीं एक रूप से रहते हैं और कहीं प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष रहते हैं अब यागी इनकी भिन्नता के मार्ग का अनुसरण करता है अर्थात् यागी की समाधिस्थ बुद्धि में अब यह तीनों भिन्न भिन्न हाथ हैं तबतक उसकी समाधि का नाम सवितर्क

समापत्ति रहता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस समापत्ति में वितर्क बनी रहती है वह सवितर्क समापत्ति कहलाती है और जब समाधिस्थ बुद्धि में अर्थ मात्र का भान रह जाता है तब निवितर्क समापत्ति होती है यह निर्वितर्क समापत्ति परम प्रत्यक्ष है अर्थात् श्रुत और अनुमति सर्व अर्थ इस ही में प्रत्यक्ष होते हैं, यही श्रवण और अनुमान का हेतु है । इसलिए निर्वितर्क समापत्ति में दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती है सवितर्क समापत्ति का लक्षण कह कर अगले सूत्र में निर्वितर्क समापत्ति का लक्षण कहते हैं ॥ ४२ ॥

भो० वृ०—श्रोतेन्द्रियग्राह्यः स्फोटरूढो वा शब्दः । अर्थो जात्यादिः ज्ञानं सत्त्वप्रधाना बुद्धिः । विकल्प उक्तलक्षणः । तैः संकीर्णं यस्यामेते शब्दादयस्त्रयः परस्पराध्यासेन विकल्परूपेण प्रतिभासन्ते गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरितिज्ञानमित्यनेनाकारेण सा सवितर्का समापत्तिरुच्यते ॥ ४२ ॥ उक्त लक्षणविपरीतां निवितर्कामाह ।

भा० व० का भा०—कान इन्द्रिय गृहण करने योग्य स्फोट (अक्षरों की विशेष योजना) रूप शब्द है जैसे गौ गौ अर्थ जाति को कहते हैं जैसे गौ शब्द का अर्थ गोत्वा धर्मावच्छिन्न जाति है, ज्ञान सत्त्वप्रधान बुद्धि की वृत्ति जैसे गौ शब्द का ज्ञान सास्त्रालांगून वाली व्यक्ति । विकल्प का लक्षण पहिले कह चुके हैं यह सब संकीर्ण अर्थात् परस्पर मिले रहें जिस समाधि से उसे सवितर्क समाधि कहते हैं ॥ ४२ ॥ सवितर्क समाधि के लक्षण से विरुद्ध निवितर्क समाधि का लक्षण अगले सूत्र में कहा है ।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा
निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

सू० का पदार्थ—(स्मृतिपरिच्छिन्नौ) स्वच्छ स्मृति होने पर (स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्मासा) स्वरूपशून्य के समान भान हान वासी समापत्ति (निर्विचर्का) निर्विचर कहलाती है ॥ ४३ ॥

सू० का भाषा०—स्मृति के शुद्ध हो जाने पर जिसमें भव स्वरूप रहित के समान भाव होता है वह निर्विचर समापत्ति है ॥ ४३ ॥

भाष्य—या शब्दसंकेतभूतानुमानज्ञानविकल्पस्मृतिपरिच्छिन्नौ गूढस्वरूपापरक्ता प्रज्ञास्वमिष प्रज्ञारूपं गूढात्मकं त्यक्त्वा पदार्थं मात्रस्वरूपा गूढस्वरूपापन्नेव भवति सा तदा निर्विचर्का समापत्तिः । तथाच व्याख्यातम् तस्य एकं बुद्ध्युपक्रमार्थास्माज्जुप्रचयविशेषारम्भा गवादिर्षटादिषा लोकः । स च सस्यानविशेषो मृत सूक्ष्मासा साधारणो घर्म आत्ममृतः कस्तेनप्यक्तेनानुमितः स्वम्यज्जकाञ्जनं प्रादुर्भवति । घर्मान्तरस्य क्पाक्षादेरुदये च तिरोभवति स एव घर्मोऽप्यतीत्युच्यते योऽभिसावेकर च महारचासीर्वाश्च स्पर्शश्च क्रियाघमकमानित्यश्च तेनावयविना व्यवहारः क्रियते यस्य पुनरवस्तुकाः स प्रचयविशेषः । सूक्ष्मश्च कार यमनुपसृत्यन्तस्यावयवस्य भाशादवग्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानमिति प्रायेण सर्वमेव प्राप्तं मिथ्याज्ञानमिति तदा च सम्पद्यमानमपि किं स्मात् विषयाभावात् यद्यनुपसृत्यते

तत्तदवयवित्वेना अम्नातम् तस्मादस्त्यवयवी या महत्वा-
दिव्यव्यवहारपन्नः समापत्तेर्निर्वितर्काया विषयी भवति । ४३ ।

भा० का भावार्थ— जो शब्द सकेत=नियत किया अर्थ सुना हुआ अनुमान, विकल्प और स्मृति की शुद्धता होने पर ग्राह्य पदार्थ के रूप में प्रतीत होने वाली बुद्धि अपने आप विज्ञान स्वरूप के साधन रूप को त्याग कर पदार्थ के रूप को प्राप्त हुई ग्राह्य “गृहण करने योग्य” पदार्थ के स्वरूप में परिणत हुई के समान होती है वह निवितर्क समापत्ति है ऐसे ही कही है उसके निमित्त स्थिर बुद्धि का उपक्रम अर्थात् ज्ञानपूर्वक आरम्भ पूर्वक अथवा उपाय अर्थ परमाणु समूह गौ आदि वा घट आदि संसार है और वह आकार विशेष है सूक्ष्म तत्वों का सामान्य गुण अभिन्न है फल के प्रत्यक्ष होने से अपना अनुमित अर्थ प्रगट होता है तद्विन्न धर्म छिप जाता है यह गुणअवयवी कहलाता है यह धर्म एकता ही बहुत बड़ा अणु से भी सूक्ष्म और स्पर्शवाला क्रियायुक्त और अनित्य कहलाता है उस अवयवी से व्यवहार किया जाता है । जिसका कारण सूक्ष्म है वह समूह विशेष सूक्ष्म है और उसका कारण प्राप्त होना भी दुस्साध्य है क्योंकि वह निरवयव होता है इसलिये उसकी स्वरूप स्थिति नहीं स्वरूप स्थिति के अभाव से मिथ्याज्ञान हुआ इस प्रकार से सांसारान्तर्गत प्रायः सब पदार्थ मिथ्या हुए तब यथार्थज्ञान का कौन विषय होगा अथवा विषय के अभाव से यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञेय पदार्थ के अभाव से जो जो मिलता है वह सब रूपवत्ता से वणित अवयवी है अर्थात् पदार्थ मात्र अवयवी है इस हेतु से रूपवान महत्वादि व्यवहार करने योग्य निर्विकल्प समापत्ति का विषय होता है ॥ ४३ ॥

मा० का भाषार्थ—आ समापत्ति शब्दसंकेत अतद्वान् और अनुमान ज्ञान विकल्प ग्राह्य के स्वरूप में मान होनेवाली अर्थात् अपने ग्राह्यात्मक रूप को त्याग करके निर्वितर्क समापत्ति में ग्राह्याकार मान होने लगती है यह सब बुद्धि का विकार है परन्तु आत्मा शब्दादि को त्याग कर केवल अर्थ में आरुढ़ हो जाता है जैसे गवादि अथवा घट आदि कबल रूपान्तर है सूक्ष्म तत्त्वों के धर्म सबमें एक समान हैं कभी किसी मूत का और किसी मूत के धर्म का प्रादुर्भाव और विरोभाव होता रहता है। यदि कहे कि यह धर्म अवश्यही है उसमें स्थिर होने से निर्वितर्क समापत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यह एक ही धर्म अप्रु से सूक्ष्म और महास्पृक्ष स्पर्शान् क्रियावान् और अनित्य है उस अवश्यही से व्यवहार किया जाता है तो हम कह सकते हैं कि जो अवस्तु अर्थात् अभाव है वह अतद्रूप प्रतिष्ठ है और मिथ्या है अब उसका विचार भी मिथ्या हुआ क्योंकि उस ज्ञान का कोई विषय नहीं है और जो ध्येय परार्थ दृश्य है व सब अवश्यही है इसलिये स्पृक्ष पदार्थ भी निर्वितर्क समापत्ति के विषय हैं ॥ ४३ ॥

भो० पु० —शब्दार्थस्मृतिप्रवृत्तये सति प्रत्युचितस्वरूपग्राह्याकार प्रतिभासितया न्यम्भूतज्ञानाशयन स्वरूपशून्यव निर्वितर्क समापत्ति ॥ ४३ ॥ भेदान्तरं प्रतिपादयितुमाह ।

मा० पु० का भा —शब्द अर्थ और स्मृति के लय हो मानपर ग्राह्याकार अब वृत्ति हो जाती है त्रिपुटिका प्रत्यक्ष ज्ञान नष्ट हो ज्ञान में स्वरूप शून्य के समान आ समाधि होती है उसे निर्वितर्क समाधि कहते ॥ ४३ ॥ अगले सूत्र में दूसरा उपाय कहा गया है ।

ॐ यह सब तर्क पदार्थों पर दृश्य है ।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया
व्याख्याता ॥ ४४ ॥

सू० का पदार्थ—(एतया) इससे (एव) ही (सवि-
चारा) विचारासहित (निर्विचार) विचाररहित (सूक्ष्म-
विषया) सूक्ष्म विषय वाली समापत्ति (व्याख्याता)
वर्णित की गई ॥ ४४ ॥

स० का भावार्थ—सवितर्क और निवितर्क समापत्ति के वर्णन
करने से ही सविचार, निविचार स्थूलविषय, और सूक्ष्मविषय
समापत्तियों का विषय भी समझना उचित है ॥ ४४ ॥

भाष्य—तत्र भूतसूक्ष्मकेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकाल-
निमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्यु-
च्यते । तत्राप्येकबुद्धिनिग्राह्यमेवोदितधर्मविशिष्टं भूतसूक्ष्म-
मालंबनीभूतं समाधिप्रज्ञायामुपतिष्ठते । या पुनः सर्वथा
सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेह्यधर्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्मानुपा-
तिषु सर्वधर्मात्मकेषु समापत्तिः निर्विचारेत्युच्यते । एवं
स्वरूपं हि तद्भूतसूक्ष्मे तेनैव स्वरूपेणाऽऽलंबनीभूतमेव
समाधिप्रज्ञा स्वरूपमुपरंजयति प्रज्ञा च स्वरूपशून्येवार्थमात्रा
यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते । तत्रग्रहद्वस्तु विषया
सवितर्का निवितर्का च, सूक्ष्मविषया सविचारा च एवमुभ-
योरेतयैव निवितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्यातेति ॥ ४४ ॥
भा० का प०—प्रकट हैं धर्म जिनके उन सूक्ष्मभूतों में जो देश-

काज्ञ, निमित्त और अनुमय से संयुक्त है कर्मों अथवा जिनका देशकाल निमित्त से अनुमय किया जाता है कर्म का समाधि होती है वह सविचार कहाती है उस सविचार समाधि में भी निश्चय बुद्धि के द्वारा गृह्य करने योग्य प्रत्यक्ष धर्मयुक्त सूक्ष्म भूत बुद्धि का आत्मय सविचार समाधिस्य बुद्धि में प्राप्त होता है और जो (सर्वथा) सब प्रकार के सब ओर से प्रत्यक्ष अपदेश्य अर्थात् मुख्य धर्मों वाले पदार्थों में सर्व धर्म अर्थात् गुणों से रहित और सब गुण युक्त जो पदार्थ हैं कर्मों का समाधि है वह निश्चयार कहाती है (पञ्चम्) इस प्रकार के ही ब्रह्म सत्यता वाले भूत सूक्ष्म हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि जो स्वरूप के आत्मय से समाधि होती है वह सचित्तके समाधि प्रज्ञा के स्वरूप पर अपना प्रभाव डालती है । जो समाधि बुद्धिस्वरूपानुस्य अर्थमात्र जब होती है वह निश्चयार कहाती है अथवा दूसरा सत्यता इसका यह है स्थूला-सूक्ष्मा-समाधि सचित्तके पद निश्चितके भी तथा सूक्ष्माधार वाली सविचार एवं निश्चयार भी कहाती है । इन दोनों में इस ही निश्चितके समाधि से विकल्प की हानि करी गई है ॥ ४४ ॥

मा० का मा०—सूक्ष्म भूतों के आत्मय देश काल और निमित्त से संयुक्त जो समाधि होती है उसे सविचार और सर्व प्रकार से शास्त्र गुण वाले ईश्वर के आत्मय से समाधि की जाती है वह निश्चयार कहाती है अथवा जो किसी आत्मय से समाधि होती है वह सविचार और जो आत्मय को त्याग कर अर्थमात्र के चिन्तन से समाधि होती है वह निश्चयार कहाती है अथवा स्थूल विषय वाली सविचार और सूक्ष्म विषय वाली निश्चयार करी जाती है इस प्रकार से जिसमें संकल्प का नाश हो जाए वह निश्चितक समाधि कहाती है ॥ ४४ ॥

श्री गुरु—पक्षयैव सचित्तकेयानिर्बित्तकेया च समापत्त्या सवि

चारा निर्विचारा च व्याख्याता कीदृशी सूक्ष्मविषया सूक्ष्मस्तन्मात्रेन्द्रियादिविषयो यस्याः सा तथोक्ता एतेन पूर्वस्याः स्थूलविषयत्वं । प्रतिपादितं भवति । सा हि महाभूत लम्बनाशब्दार्थं विषयत्वेन शब्दार्थविकल्पसहित्वेन देशकालधर्माद्यवच्छिन्नः सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभातियस्या सा सविचारा । देशकालधर्मादिरहितो धर्मिमात्रतयः सूक्ष्मर्थस्तन्मात्रेन्द्रियरूपः प्रतिभातियस्या सा निर्विचारा ॥ ४४ ॥ अस्या एव सूक्ष्मविषयायाः किं पर्यन्तः सूक्ष्मविषय इत्याह ।

भो० वृ० का भा०—इस ही सवितर्क और निवितर्क समाधि के वर्णन से सविचार और निर्विचार समाधि का वर्णन भी हो गया अर्थात् सूक्ष्मतन्मात्रा (पंचतत्त्वों के सूक्ष्म गुण) विचारणीय विषय हों जिसके वह निर्विचार और स्थूल पंचभूत विचारणीय विषय हों जिसके वह सविचार समाधि है, सविचार समाधि महाभूत, और बाह्येन्द्रियों के आश्रय से शब्द अर्थ और ज्ञान की पृथक्ता में अर्थ और विकल्प के सहित देशकाल और काल के धर्म सहित सूक्ष्म अर्थों का ज्ञान हो जिसमें वह सविचार समाधि है और देश काल के गुणों से रहित तत्त्वों के सूक्ष्म गुण और सूक्ष्मतन्मात्रा ही जिसमें भान हों उसको निर्विचार समापत्ति कहते हैं ॥ ४४ ॥ इस निर्विचार समापत्ति के विषय की अवधि कहाँ तक सूक्ष्म है इसका वर्णन अगले सूत्र में किया गया है ।

सूक्ष्मविषयत्वञ्चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

सू० का प०—(सूक्ष्मविषयत्वम्) सूक्ष्म विषयता (च) और (अलिङ्गपर्यवसानम्) चिन्ह रहित पर्यन्त है ॥ ४५ ॥

सू० का पदार्थ—सूक्ष्म विषय की अवधि अलिङ्ग पर्यन्त है ॥ ४४ ॥

अप्य० भाष—पार्थिवस्यायार्गं चतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः
 आप्स्य रसतन्मात्रम् । तैषस्य रूपतन्मात्रम् । वायवी
 यस्य स्पर्शतन्मात्रम् । आकाशस्य शब्दतन्मात्रमिति । तेषां
 महकारः अस्यापि सिंगमात्रं सूक्ष्मो विषयः सिंगमात्रस्या
 प्यसिंग सूक्ष्मो विषयः न चासिंगात्पर सूक्ष्ममस्ति नन्वस्ति
 पुरुषःसूक्ष्म इति सत्यम् यथा सिंगात्परमसिंगस्य सौक्ष्म्य
 पुरुषस्य किन्तु सिंगस्यान्वयिकारस्य पुरुषो न भवति हेतुस्तु
 भवतीति अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम् । ४५

साध्य का पदार्थ—पृथिवी के अणु का गंध सूक्ष्म विषय है अन्न
 के परमाणु का रस अग्नि के परमाणु का रूप वायु के परमाणु
 का स्पर्श आकाश का शब्द है इन्हीं को भूतों की तन्मात्रा कहते
 हैं । इन तन्मात्राओं का किञ्च महकार है इसका भी चिन्ह मात्र
 सूक्ष्म विषय है चिन्ह मात्र का सूक्ष्म विषय असिंग कहाता है
 असिंग से अधिक कोई सूक्ष्म नहीं है यदि कहा कि पुरुष उससे
 सूक्ष्म है तो सत्य है जैसे सिंग से परे असिंग का सूक्ष्म भाव है
 ऐसे पुरुष का नहीं है किन्तु सिंग का समशीर्ष कारण पुरुष नहीं
 है हेतु है । प्रधान में (सौक्ष्म्य) सूक्ष्मता अतिशय से रहित नहीं
 है अर्थात् उससे सूक्ष्म कोई नहीं है ॥ ४५ ॥

सा० का सा —पृथिवी आदि पंच भूत से उनके अणुसूक्ष्म हैं
 हैं और अणु से भी गन्धादि तन्मात्रा पञ्चम् उनसे भी उनका मह
 और महकार से भी चिन्ह मात्र से भी असिंग सूक्ष्म है और
 असिंग से सूक्ष्म कोई पदार्थ नहीं । यदि कहा कि पुरुष है तो पुरुष
 है जैसे चिन्ह मात्र से असिंग सूक्ष्म है ऐसा नहीं है पुरुष सिंग
 का समशीर्ष कारण नहीं है किन्तु हेतु है अतएव पुरुष से अतिशय

सूक्ष्म कोई और है ऐसा नहीं कहा जाता है ॥ ४५ ॥

भो० वृ०—सविचारनिविचारयोः समापत्तयोर्यत्सूक्ष्मविषयत्वमुक्तम् तदलिंगपर्यवसानं न क्वचित्स्लीयते न वा किञ्चित् लिंगतिगमयतित्यलिंग प्रधाने तत्पर्यन्तंसूक्ष्मविषयत्वम् । तथाहि गुणानां परिणामे चत्वारि पक्षाणि विशिष्टलिंगमणिशिष्टलिंगं लिंगमात्रमलिंगं चेति । विशिष्ट लिंगं भूतानि, अविशिष्टलिंगं तन्मात्रेन्द्रियाणि लिंगमात्रं बुद्धिः, अलिंगं प्रधानमिति । नातः परं सूक्ष्मस्तीत्युक्तं भवति ॥ ४५ ॥ एतेषां समापत्तीनां प्रकृते प्रयोजनमाह ।

भाज० वृ० का भा०—सविचार निविचार समापत्तियों के जो विषय वर्णन किये उन विषयों की जो सूक्ष्मता कही है वह अलिंग तक सूक्ष्मता है अर्थात् सूक्ष्मता की अवधि वहाँ तक है कि जिसे अलिंग या प्रधान कहते हैं । लिंग न किसी में लय होता है और न किसी में जाकर मिलता है । गुणों के हेर फेर में ४ भेद है, एक विशिष्टलिंग, दूसरा अविष्टलिंग, तीसरा लिंगमात्र और चौथा अलिंग । विशिष्ट स्थूलभूत और इन्द्रियाँ हैं अविशिष्टलिंग तन्मात्रा और अन्तःकरण है, लिंगमात्र बुद्धि है । अलिंग प्रधान है, इस अलिंग से सूक्ष्मतम कोई वस्तु नहीं है ॥४५॥ इन सब समापत्तियों का योग साधन में जो प्रयोजन है उसे अगले सूत्र में कहा है ।

ता एव सवीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

सू० का पदार्थ—(ताएव) वोही (सवीजस्समाधि) बीज सहित समाधि ॥ ४६ ॥

सूत्र का भावार्थ—वो ही ४ प्रकार की समाधि सवीज समाधि कहाती है ॥ ४३ ॥

व्या० भाष्य—ताश्चतस्रः समापत्तयो वहिर्वस्तु बीजा-

इति समाधिरपि सुधीः तत्र स्थितेर्धे सवितर्कं निर्बितर्कः
सूत्रमेऽर्थे सविचारो निर्बिचार इति चतुर्विधोपसंख्यातः समा-
धिरिति ॥ ४६ ॥

भा० का पदार्थ—वे चारो समाधियां बहिर्वस्तुवीज समाधि
कहाती हैं उनमें स्थूल अर्थ में सवितर्क और निर्बितर्क सूक्ष्म
अर्थ में सविचार और निर्बिचार ये ४ प्रकार की समाधि कही गई
हैं ॥ ४६ ॥

भा० का भाषा०—आगे कही ४ प्रकार की समाधि बीज
सहित कहाती है उनमें स्थूल अर्थ में सवितर्क और सूक्ष्म अर्थ में
सविचार निर्बिचार ये ही समाधि सबीज कहाती हैं ॥ ४६ ॥

भो० वृ०—सा एवोक्तमवस्थाः समापत्तयः सह वीजेमासऽऽम्बे
नेन वचत इति सबीजः सम्प्रज्ञातः समाधिरित्युच्यते, सर्वासां
सात्त्विकवत्त्वात् ॥ ४६ ॥ अमेतरासां समापत्तीनां निर्बिचारफल-
त्वात् निर्बिचारयाः फलमाह—

भा० वृ० का भा०—वही सवितर्क निर्बितर्क सविचार और
निर्बिचार समापत्ति ही सबीज समाधि कहाती हैं क्योंकि यह सब
समापत्ति बिना अलम्ब के नहीं होती हैं ॥ ४६ ॥ अब समापत्तियों
का फल निर्बिचार समापत्ति के अधीन होने से निर्बिचार समापत्ति
का फल अगस्त सूत्र में कहस है ।

निर्विचार वैशारद्येऽप्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

सू० का पदार्थ—(निर्विचारवैशारद्ये) निर्विचार
समाधि के विशारद भाव में (अप्यात्मप्रसादः) अप्या-
त्मिक प्रसाद होता है ॥ ४७ ॥

सूत्र का भा०—योगी जब निर्विचार समाधिस्थ होता है तब उसे आगे कहा हुआ अध्यात्मप्रसाद होता है ॥ ४७ ॥

व्या० भाष्य—अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतःस्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम् यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवित्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थ विषयः क्रमाननुरोधि स्फुटप्रज्ञालोकः । तथा चोक्तम्प्रज्ञा प्रसादमारुह्य अशोक्यः शोचतो जनान । भूमिष्ठानिवे शैलस्थः सर्वान प्राज्ञोऽनु-
पश्यति ॥ ४७ ॥

भा० का पदार्थ—अशुद्धतारूप आवरण के मल से छूटे हुए प्रकाशरूप बुद्धि सत्त्व को रज और तमोगुण से जो जीता न गया हो स्वच्छ स्थित का प्रवाह वैशारद्य कहाता है । जब निर्विचार समाधि का ये पूर्वोक्त वैशारद्य वा निपुणता होती है तब योगी को भूतार्थ विषय का अनवरोधी साक्षात् बुद्धि के प्रकाश से युक्त अध्यात्म प्रसाद होता है । ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है—बुद्धि की अटार पर बैठ कर शोक रहित शोक युक्त जीवों को पहाड़ पर चढ़े जैसे भूमि में स्थित पुरुषों को सब को बुद्धिमान देखता है ॥ ४७ ॥

भा० का भावार्थ—अशुद्धिरूप ढकने के मल से रहित प्रकाश रूप, रजोगुण और तमोगुण के ज्ञान से शून्य, स्वच्छ स्थिति-प्रवाह को वैशारद्य कहते हैं । जब निर्विचार समाधि से उक्त वैशा-रद्य होता है तब योगी को आत्मिक आनन्द प्राप्त होता है अर्थात् तब सब भूतों को क्रम के अनुकूल जानने की बुद्धि का प्रकाश होता है ऐसा अन्यत्र भी लिखा है प्रज्ञाप्रसाद को प्राप्त शोक

रहित होकर जैसे पहाड़ पर बड़ा हुआ मनुष्य सब मृत्ति में स्थित पुरुषों का देखता है वैसे सोचते हुए जीवों को योगी देखता है ॥ ४७ ॥

मा० ६०—निर्विचारत्वं व्याख्यातम् वैशारद्यं निर्मलम् सवि-
तर्कं सूक्ष्मविषयामपेक्ष्य निर्वितर्कम् प्रधानम् । ततोऽपि सूक्ष्म-
विषयायाः सविचारायाः । ततोऽपि निर्विकल्परूपाया निर्विचारायाः
तस्यास्तु निर्विचारयोः एकप्राम्यासावशारद्वैशारद्ये निर्मलस्य सत्य
व्यात्मप्रसादः समुपजायते । चित्तं क्लेशवासनारहितं स्थितं प्रबोद्ध-
योग्यं भवति पतदेव चित्तस्य वैशारद्यं यत् स्थितौ दार्ढ्यम् ॥४८॥
तस्मिन् सति किं भवतीत्याह ।

मो० ६० का मा०—निर्विचार का वर्णन हो चुका विचाररतता
वा वैशारद्य का अर्थ निर्मलता है सूक्ष्म विषयवासी सवितर्क समा-
पत्ति की अपेक्षा निर्वितर्क समापत्ति की प्रधानता है, उससे भी
सूक्ष्म विषय वासी सविचार समापत्ति प्रधान है और उससे निर्वि-
चार समापत्ति प्रधान वा उत्तम है उस निर्विकल्प समापत्ति के
अभ्यास से निर्मलता प्राप्त होने पर अभ्यासात्मप्रसाद उत्पन्न होता
है अर्थात् तब चित्त क्लेशों की वासना से रहित स्थिर होने के
योग्य होता है और चित्त की यही निर्मलता है कि जो स्थिति में
हृदय भाव को प्राप्त हो जाय ॥ ४७ ॥ आध्यात्मप्रसाद के क्या लाभ
हैं, उसका अगले सूत्र में वर्णन किया है ।

श्रुतम्मरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

सू० का पदार्थ—(श्रुतम्मरा) श्रुतम्मरा (तत्र)
उसमें (प्रज्ञा) बुद्धि ॥ ४८ ॥

सूत्र का भावार्थ—जस समाधि में जो बुद्धि होती है उसे
श्रुतम्मरा कहते हैं ॥ ४८ ॥

व्या० भाष्य—तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति अन्वर्थाच्च सा, सत्यमेव-विभर्ति न च तत्र विपर्ययासिद्धान्तगन्धोऽप्यस्तीति तथाचोक्तम्—आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च । त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते ज्ञानयोगमुत्तमम् ॥ ४८ ॥

भाष्य का पदार्थ—उसमें स्थिरचित्त की जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसकी ऋतम्भरा संज्ञा है । यथार्थनाम्नी वह सत्य ही को संप्रह करती है उसमें विपरीत ज्ञान की गन्ध नहीं होती ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है । वेदवचन से, अनुमान से और ध्यान के रस से ३ प्रकार बुद्धि की रचना करके उत्तमज्ञान को प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

भाषा का भावार्थ—उस निर्विचार समाधि से स्थिर चित्त की जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसे ऋतम्भरा कहते हैं अर्थात् वह (ऋत) सत्य ही को संप्रह करती है उसके होने में विपरीत ज्ञान की गन्ध मात्र भी नहीं रहती, जैसे अन्यत्र भी लिखा है “शिष्ट वचन से, अनुमान से और ध्यान के अभ्यास के रस से ३ प्रकार की बुद्धि रचना करता हुआ योगी उत्तम ज्ञान को प्राप्त होता है” ॥ ४८ ॥

भो० वृ०—ऋतं सत्य विभर्ति कदाचिदपि न विपर्ययेणाऽच्छाद्यते सतम्भरा प्रज्ञातस्मिन्सति भवतीत्यर्थः । तस्माच्च प्रज्ञालोकात् सर्वं यथावत् पश्यन् योगी प्रकृष्टं योगं प्राप्नोति ॥ ४८ ॥
अस्याः प्रज्ञान्तराद्वैलक्षणमाह ।

भो० वृ० का भा०—उस अध्यात्मप्रसार के प्राप्त होने पर बुद्धि सत्य से पूर्ण हो जाती है फिर बुद्धि किसी विपर्यय ज्ञान से आच्छादित नहीं होती, उस बुद्धि के प्रकाश में योगी सबको यथावत् रूप से देखता हुआ योग को प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥ उस ऋतम्भरा प्रज्ञा की विलक्षणा अगले सूत्र में कही है ।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात् । ४६

सू० का पदा० (श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्याम्) ओ बुद्धि
अवस्था और अनुमान से हैं उसे (अन्यविषया) विन
विषय वाली बुद्धि (विशेषार्थत्वात्) विशेषार्थ अर्थात्
समाधि विषयिणी होती है ॥ ४६ ॥

सूत्र का मन्थार्थ—समाधि बुद्धि श्रुत और अनुमित बुद्धि से
विवक्षणा होती है ॥ ४६ ॥

भूतमागसविज्ञानम् तत् सामान्यविषयं नद्यागमेन
शब्दविशेषोऽभिधातुः कस्मात् नहि विशेषेष कृतसंकेतः
शब्द इति । तथानुमानं सामान्यविषयमेवा । यत्र प्राप्तिस्त्वत्र
गतिः यत्राप्राप्तिः तत्र न भवति गतिरिच्छुक्लम् । अनुमानेन
च सानान्येनोपसंहारः तस्मात् श्रुतानुमानविषयो न विशेषः
कश्चित्त्वस्तिनो । चास्य सूक्ष्म व्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो
लोकमस्यैव प्रहयमस्ति । न चास्य विशेषस्याप्रमाधि
कस्याभावोऽस्तीति समर्थिस प्रज्ञानिग्रह एव विशेषो
भवति भूतसूक्ष्मगतो वा पुष्पगतो वा तस्माच्छ्रुतानुमान-
प्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति ॥ ४६ ॥
समधिप्रज्ञाप्रविलम्बे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारा नवा
नवो जायते ।

सूत्र का पदार्थ—ओ अवस्था किमा हुआ शब्द ज्ञान है वह
सामान्यविषय है शब्द प्रमास से विषय ज्ञान नहीं है संज्ञा,

क्योंकि विशेष से शब्द का संकेत नहीं किया गया है। तैसे ही अनुमान भी सामान्य विषय का ही बोधक है जिसमें प्राप्ति होती है उसमें प्रवृत्ति होती है जिसमें कुछ प्राप्ति नहीं होती उसमें प्रवृत्ति नहीं होती यह पूर्व ही कहा है। और अनुमान से देश का सामान्य ज्ञान होता है अर्थात् अनुमान से पूर्ण और यथार्थ ज्ञान नहीं होता इस हेतु से श्रुत विषय और अनुमित विषय कुछ विशेष नहीं हैं और न जो वस्तु अत्यन्त सूक्ष्म है वा किसी दूसरी वस्तु की आड में है और जो अत्यन्त दूर स्थित वस्तु है इनका यथार्थ ज्ञान लौकिक प्रत्यक्ष से प्रतीत हो सकता है न इस विशेष वस्तु का जिसमें कि प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है अभाव ही है किन्तु वह समाधिनिष्ठ बुद्धि से ग्रहण करने योग्य है चाहे वह विशेष सूक्ष्म तत्वों के मध्य में हो वा पुरुष में हो इसलिये शब्द प्रमाण जन्म बुद्धि और अनुमान बुद्धि से भिन्न ही वह बुद्धि है क्योंकि वह विशेष को सिद्ध करने वाली है ॥ ४६ ॥ समाधि बुद्धि के प्राप्त होने से योगों के बुद्धि द्वारा उत्पन्न हुए नये २ संस्कार होते हैं।

भा० का भावा०—जो सुन कर शब्द प्रमाण से ज्ञान होता है वह सामान्य विषय है क्योंकि शब्द से संकेतों का ज्ञान होता है पर साकेतिक पदार्थ के प्रत्येक गुण और कर्मादि का ज्ञान नहीं हो सकता ऐसे ही अनुमान भी सामान्य विषय है अर्थात् अनुमान प्रमाण से किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता क्योंकि अनुमान वस्तु के एक देश को देख कर किया जाता है जैसे धूम को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है परन्तु अनुमान से यह नहीं जान सकते कि वह अग्नि लकड़ी की है वा कण्डे की है अथवा पत्थर कोयले की है। जहाँ शब्द और अनुमान की गति है वहीं तक प्राप्ति भी होती है अर्थात् जहाँ शब्द और अनुमान प्रमाण

नहीं या सकते उस वस्तु का ज्ञान भी उनके द्वारा नहीं हो सकता है। शब्द प्रमाण से और अनुमान प्रमाण से उन ही वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है जिनका लौकिक प्रत्यक्ष होता है अर्थात् जिन वस्तुओं का इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता उन सूक्ष्म व्यवहित और दूरस्थित वस्तुओं का धर्माद्य ज्ञान शब्द प्रमाण और अनुमान प्रमाण से नहीं होता है किन्तु उन सूक्ष्म व्यवहित और दूरस्थित वस्तुओं का अभाव भी नहीं कह सकते क्योंकि समाधिगत बुद्धि के द्वारा उन सब का ज्ञान होता है इस कारण समाधिगत बुद्धि और अनुमानजन्य बुद्धि से भिन्न और विश्व द्रष्टा है और उसका विषय भी ज्ञान है ॥ ४६ ॥ योगी को जब श्रुतम्भरा प्रज्ञा (बुद्धि) प्राप्त होती है तब उसमें नये २ संस्कार उत्पन्न होते हैं।

भो० पु०—श्रुतमागमज्ञानम् अनुमानमुक्तलक्षणम् ताभ्यां या जायते प्रज्ञा स्य सामान्य विषया । न हि शब्दसिंघयोरिन्द्रियवद्वि शेषप्रतिपत्तौ सामर्थ्यम् । इयं पुनर्निर्विचारवैशारद्य समुद्भवा प्रज्ञा ताभ्यां विश्लेषणा विधेय विषयत्वात् आस्यां हि प्रज्ञाया सूक्ष्म व्यव हितविप्रकृष्टनामपि विधेयः स्फुटनेन रूपेण भासते । अतस्तद्व्या मेव योगिना परं प्रयत्नः कर्तव्य इत्युपदिष्ट भवति ॥ ४६ ॥

अस्पष्टाः प्रज्ञायाः फलमाह—

भो० पु० का भाष्य—शब्द इन्द्रियों के समान किसी वस्तु के विशेष ज्ञान करान में समर्थ नहीं होता किन्तु यह निर्विचार वैशा- रद्य से उत्पन्न हुई श्रुतम्भरा बुद्धि शब्द प्रमाणजन्य बुद्धि और अनुमान प्रमाणजन्य बुद्धि से विश्लेषण, क्योंकि इससे विशेषज्ञान होता है इस बुद्धिसे सूक्ष्म व्यवहित आपूर्त और दूरस्थित पदार्थ भी स्पष्टरूप से भास जाते हैं इस कारण योगी को चाहिये कि इस श्रुतम्भरा बुद्धि का प्राप्त करने में परम उद्योग करे ॥ ४६ ॥ अगस्त

सूत्र में ऋतम्भरा प्रज्ञा का फल कहा है ।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

सू० का पदा० — (तज्जः) उक्त समाधि से उत्पन्न हुआ जो संस्कार (अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी) और संस्कारों का दूर करने वाला होता है ॥ ५० ॥

सू० का भावार्थ — समाधि से उत्पन्न हुये संस्कार से और संस्कार नष्ट हो जाते हैं ॥ ५० ॥

व्या० भ०—समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारो । व्युत्थान-
संस्काराशयंवाधते व्युत्थानसंस्काराभिभवात्तत्प्रभवा प्रत्या
न भवन्ति । प्रत्ययनिरोधे समाधिरूपतिष्ठतै । ततः समा-
धिजा प्रज्ञा ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति नवो नवं संस्का-
राशयो जायते । ततः प्रज्ञा ततश्च संस्कारा इति । कथमसौ
संस्कारातिशयश्चित्तं साधिकारं न करिष्यतीति नते प्रज्ञा-
कृताः संस्कारा क्लेशक्षये हेतुत्वात् चित्तमधिकारविशिष्टं
कुर्वन्ति । चित्तं हि ते स्वकार्यादवसायन्ति । ख्यातिपर्य-
वसानं हि चित्तचेष्टितमिति ॥ ५० ॥ किञ्चास्य भवति—

भाष्य का पदार्थ—समाधिस्थ बुद्धि के द्वारा उत्पन्न हुआ संस्कार लौकिक संस्कारों के नाश होने से उनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञान भी नहीं होते सासारिक ज्ञान के नष्ट होने से समाधि अवस्था प्राप्त होती है, उससे समाधि बुद्धि उत्पन्न होती है, उसके पश्चात् समाधि विषयणी बुद्धि के संस्कार होते हैं, इस रीति से नूतन संस्कार उत्पन्न होते हैं उन संस्कारों से पुनः बुद्धि और उस

बुद्धि से पुनः संस्कार उत्पन्न होते हैं। क्या संस्कारों का बल चित्त को प्राप्तापि विषययुक्त नहीं करेगा? वे बुद्धिकृत संस्कार विषययुक्त नहीं करेंगे क्योंकि वे संस्कार अभिधादि क्लेशों का दूय करने के द्युत हैं क्योंकि चित्त को वे संस्कार उसके कार्य से दृढाते हैं विचार पर्यन्त ही चित्त की क्रिया है ॥ ५० ॥

भा० का भाष्य—समाधिश्च संस्कार विषय संस्कारों को नारा कर देता है जब विषय के संस्कार नष्ट हो जाते हैं तब विषय का ध्यान भी बिम्ब हो जाता है जब विषयज्ञान नारा को प्राप्त हो जाता है तब समाधि विषय की बुद्धि उत्पन्न होती है पर्याप्त समाधिश्च बुद्धि से संस्कार दूत हैं जब यहाँ यह शङ्क होती है कि बुद्धि से संस्कार और संस्कार से फिर बुद्धि होती रहेगी इस चक्र परि वर्तन से चित्त कभी स्थिर न होगा। इसका यह समाधान है कि समाधिश्च बुद्धि और संस्कार से चित्त बलवान् नहीं होता क्योंकि यह बुद्धि और संस्कार अभिधादि क्लेशों के नाशक हैं वे योगी के चित्त को समाधि का अधिकारी बनाते हैं और जो चित्त की बलवन्ता है उसे भी नष्ट कर देता है ॥ ५० ॥

सो० ५०—तथा प्रज्ञया वनिता या संस्कारः सोऽप्याप्तस्य स्थानज्ञानसमाधिर्वाच्य संस्कारान् प्रतिवन्धति स्वकार्प्यकरयाकमान् करोतीत्यर्थः। यतस्तत्स्वरूपतयाऽप्या वनिताः संस्कारा वन बरबादतत्स्वरूपप्रज्ञावनिताम् संस्कारान् बाधितु शक्नुमन्ति। यत स्तामेव प्रज्ञामप्यसेवित्युक्तं भवति ॥ ५० ॥

एवं सम्प्रज्ञात समाधिमभिभावा सम्प्रज्ञात वस्तुमाह।

सो० ५० का भाष्य—बुद्धि से उत्पन्न हुआ संस्कार व्युत्थान चित्त के संस्कारों की समाधि से उत्पन्न हुए संस्कारों को राकता है अर्थात् उनको कार्य करने के अयोग्य बना देता है क्योंकि यथार्थरूप से उत्पन्न हुए संस्कार अथवा बुद्धि से उत्पन्न

हुए संस्कारों को नष्ट करने से ससर्थ होते हैं इस कारण योगी को चाहिये कि श्रुतस्मरणाप्रज्ञा का ही अभ्यास करें ॥ ५० ॥

तस्यापि निरोध सर्वनिरोधनिर्वीजसमाधिः ॥ ५१ ॥

सू० का पदा०—(तस्यापि) उस अन्य संस्कार के भी (निरोधे) निरोध होने पर (सर्वनिरोधात्) सबके निरोध होने से (निर्वीजः समाधिः) निर्विकल्प समाधि होती है ॥ ५१ ॥

सू० का भावा०—जब समाधि के द्वारा चित्त का निरोध हो जाता है तब निर्विकल्प समाधि होती है ॥ ५१ ॥

व्या० भा०—स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी प्रज्ञाकृतानानामपि संस्काराणां प्रतिबन्धी भवति । कस्मान्निरोधजः संस्कारः समाधिजान् संस्कारान्वाधतीति । निरोधस्थितिकालक्रमानुभवेन निरोधचित्तकृतसंस्कारास्तित्वमनुमेयम् व्युत्थाननिरोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्ते स्वस्यां प्रकृतावस्थितार्थां प्रविलीयते । तस्मात्ते संस्काराश्चित्तस्याधिकारविरोधिना न स्थितिहेतवो भवन्तीति । यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं निवर्त्तते तस्मिन्निवृत्तेपुरुषः स्वरूपमात्र प्रतिष्ठोऽतः शुद्धोः केवलो मुक्त इत्युच्यते ॥ ५१ ॥

भा० का पदा०—वह संस्कार केवल समाधिज बुद्धि का विरोधी नहीं हैं समाधि बुद्धि से उत्पन्न हुए संस्कारों का भी प्रतिबन्ध करने वाला होता है । क्योंकि निरोध से उत्पन्न हुए संस्कारों

को नारा करता है निरोध की आ स्थिति उसके कास के कम से निरुद्ध किये हुए चित्त के संस्कारों की विद्यमानता अनुमान की जाती है व्युत्थान निरोध और समाधि से उत्पन्न हुए कैवल्य अर्थात् मोक्षभागी संस्कारों से चित्त अपनी प्रकृति में लीन हो जाता है इस कारण से न संस्कार चित्त के अधिकार के विरोध द्वारा स्थिति के हेतु होते हैं जिससे समाप्त हुए अधिकारों से चित्त निवृत्त हो जाता है जीवात्मा आत्मस्वरूप में स्थिर होता है शुद्ध, केवल और मुक्त कहाता है ॥ ५१ ॥

भा० का भाष०—सुख निरोधज, संस्कार केवल समाधिज बुद्धि ही का प्रतिबम्बक नहीं है किन्तु समाधिज संस्कारों का भी प्रतिबन्धी है, क्योंकि निरोध से उत्पन्न हुए संस्कार समाधिज संस्कारों के धावक होते हैं, जिस समय चित्त और वैयर्थिक संस्कारों का निरोध होता है उस समय चित्त की विद्यमानता केवल अनुमान से ज्ञानी जाती है और चित्त मोक्षभागी समाधि के संस्कार चित्त अधिकार को नारा करके चित्तस्थिति के हेतु होते हैं क्योंकि कैवल्यभागीय संस्कारों से चित्त निवृत्त हो जाता है तब पुरुष आत्मस्थित अर्थात् शब्दचिन्तन में मग्न होकर मुक्त कहाता है ॥ ५१ ॥

योगस्योद्देशनिर्देशो तदर्थं बुद्धिः सख्यम् । योगीपायाः प्रभेदाश्च पादोस्मिन्नुपधर्षिताः ॥

योग का उद्देश और निर्देश उसके लिये बुद्धि का सख्यम्, योग के उपाय और भेद इस साधनपाद में वर्णित हुए हैं ॥

भा० ५०—तस्यापि सम्प्रज्ञातस्य निरोधे प्रविशत्ये सति सवासं चित्तवृत्तीनां स्वकारणे प्रविशमायायासंस्कारमात्राद्बुद्धिरुदेति तस्यास्तस्या मेति मतीति केवलं पश्यु वसमान्निर्बीजं समाधिरा-
धिर्मेवति । यस्मिन् सति पुरुषः स्वरूपनिष्ठाः शुद्धो भवति ॥ ५१ ॥

तदत्राधिकृतस्य योगस्य लक्षणं चित्तवृत्तिनिरोधपदानाच्च व्याख्या-
नमभ्यासवैराग्यलक्षणं तस्योपायद्वयस्य स्वरूप भेदश्चाभिधाय
सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातभेदेन योगस्य मुख्यामुख्यभेदमुक्तवा योगाभ्या-
सप्रदर्शनपूर्वकं विस्तरेणोपायान् प्रदर्श्य सुगमोपायप्रदर्शन पत्राये
ईश्वरस्य स्वरूपप्रमाणप्रभाववाचकोपासनानि तत्फलानि च
निर्णीय चित्तविक्षेपास्तत् सहभुवञ्च दुःखादीन् विस्तरेण च तत्प्र-
तिषेधोपायानेकतत्त्वाभ्यासमैत्र्यादिप्राणायामादीन् सम्प्रज्ञातासम्प्र-
ज्ञातपूर्वाङ्गभूतविषयवति प्रवृत्तिरित्यादीनाख्यायोपसंहारद्वारेण च
समापत्तिसलक्षणाः सफलाः सहितो स्वस्वविषयसहिता चोक्तवा
सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातयोरुपसंहारमभिधाय सवीजपूर्वको निर्वीजः
समाधिरभिहित इति व्याकृतो योगपादः । ॐ तत्सत् ।

भो० वृ० भा०—सम्प्रज्ञात के निरोध अर्थात् लय होने पर चित्त
की सब वृत्तियों अपने २ कारणों में लय हो जायेंगी तब संस्कार
मात्र में योगी की दृष्टि विषयों की ओर नहीं जायगी तब निर्वीज
समाधि की प्राप्ति होगी और उसके प्राप्त होने से योगी की आत्मा
शुद्ध और निर्मल होती है ॥ ५१ ॥

इस साधन पाद में योगशास्त्र प्रतिपाद्य योग के लक्षण चित्त-
वृत्ति का निरोध का व्याख्यान अभ्यास और वैराग्य के भेद तथा
लक्षणों का वर्णन करके सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेद से प्रधान
योग और अप्रधान योगों का प्रतिपादन भी कर चुके । इसके अति-
रिक्त योगाभ्यास की रीति कहके उसके उपायों का विस्तार पूर्वक
वर्णन किया फिर योगप्राप्ति का सुगम उपाय ईश्वर भक्ति और
ईश्वर के प्रभाव तथा लक्षणादि, उसकी उपासना का फल चित्त-
विक्षेप (योग के विघ्न और विक्षेप के साथ उत्पन्न होने वाले
दुःखादि) का वर्णन भी विस्तार पूर्वक किया उन विघ्नों को दूर
करने के उपाय एक तत्त्वाभ्यास, मैत्री और मुदिता आदि का

कर्णन करने प्राशान्याभादिक सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योगी की अज्ञस्वरूप ज्योतिष्मति और दिव्य विषयवती आदि प्रशुद्धिओं का भी कर्णन किया । फिर पाद समाप्ति के समय समापति उनके अङ्ग और फल एवम् सवीज और निर्बीज समाधिओं का अर्थन और फल भी इस सप्तमपाद में ही सिखा है ।

इति पातजले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे
समाधिपाद. प्रथम । १ ।

तत्र द्वितीय. साधन पाद ।

तप. स्वान्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग ॥१॥

पू० का पदार्थ—(तपःस्वान्यायेश्वरप्रणिधानानि) स्वधर्माच्युतान वेदादि सत्यशास्त्रों का अभ्यास ईश्वर की भक्तिविशेष (क्रियायोगः) क्रियायोग कहलाता है ।

सु का भा०—तपः स्वान्याय और ईश्वरभक्ति को क्रियायोग कहते हैं ॥ १ ॥

अ्यास भाष्य—उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः कथं व्युत्पिद्यते चित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्ये तदारभ्यते । परो-
नातपस्विनो योगः सिद्धयति अनादिकर्म क्लेशवासना
विधाप्रत्युपस्थितविषयवात्ता चा शुद्धिनान्तरेण तपः संमे-

दमापद्यते इति तपसउपादानं । तच्च चित्तप्रसादनमबाध-
मानमनेनासेव्यमिति मन्यते । स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्रा-
णां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां
परमगुरावर्पणं तत्फलं संन्यासो वा ॥ १ ॥

भा० का पदार्थ—सावधान चित्तवाले को योग उपदेश किया गया अत्र किस प्रकार से चंचल चित्तवाला योगयुक्त होता है यह आरम्भ किया जाता है तपश्चर्या रहित मनुष्य को योग सिद्ध नहीं होता है । अनादि कर्म और अविद्यादि क्लेशों की वासना में विचित्र विषयों को उठाने वाला विषय जाल और मलिनता बिना तप के खण्डित नहीं होती यह तप का कारण है और वह तप चित्त को प्रसन्न करने वाला अखण्डनीय है इस कारण से भली प्रकार से धारण करने योग्य है यह योगी समझता है । स्वाध्याय का अर्थ है कि ओम् आदि पवित्र मन्त्रों को जपना वा जिन शास्त्रों में मोक्ष का उपदेश है उन शास्त्रों के पढ़ने को स्वाध्याय कहते हैं ईश्वरभक्ति का अर्थ है कि सब क्रियाओं को परमगुरु परमेश्वर में अर्पण करना अथवा कर्मफलों का त्याग ॥ १ ॥

भा० का भा०—प्रथमपाद में सावधान अर्थात् स्थिर चित्त वाले के वास्ते संप्रज्ञात आदि योगी का वर्णन कर चुके किन्तु अस्थिर चित्तवाले को योग कैसे सिद्ध होता है अब इस विषय का आरंभ किया जाता है, तपश्चर्यारहित पुरुष को योगसिद्ध नहीं होता क्योंकि अनादि कर्म और अविद्यादि क्लेशों की वासना से उत्पन्न हुआ विषयजाल तथा चित्त की मलीनता बिना तपके कभी नष्ट नहीं होती बस तप करने का यही उपादान कारण है अर्थात् इसी अभिप्राय से तप किया जाता है तप से चित्त प्रसन्न होता है इसलिये तप रुचि पूर्वक ग्रहण करने योग्य है प्रणव आदि पवित्र

वशोक्त मन्त्रों के अप को अभ्यास साधोपदेशक शास्त्रों के अध्ययन को स्वाध्याय और सुक्तों को ईश्वरार्पण करने अभ्यास उनके फल त्याग को ईश्वरप्रणिधान कहते हैं इन उप आदि के करने से अस्थिरचित्त वाद को भी क्रम से योग सिद्ध हो जाता है ॥ १ ॥

१ सू०—प्रथम पाद में समाधि का स्वरूप निरूपण करके अब उसके प्राप्ति के उपाय अर्थात् साधनों का वर्णन करना आरम्भ करते हैं यद्यपि सूत्रकार और भाष्यकार न ज्ञानयोग पुरुष रूप में नहीं लिखा है तथापि इस सूत्र से अर्थापत्तिप्रमाण द्वारा सिद्ध होता है कि ईश्वर प्रणिधानादि क्रियायोग और ईश्वर ज्ञान में लय रहता ज्ञानयोग कहाता है ऐसा ही गीता में लिखा है 'ज्ञानयोगेन सांख्यानं कर्मयोगेन योगिनाम्' अब यहाँ पर यह सम्यक् होता है कि साधनपाद में केवल योग के साधनों का ही वर्णन होना चाहिये योग के भेदों का नहीं और क्रियायोग का भेद विशेष ज्ञान पड़ता है इसका उत्तर यह है कि अगले सूत्रार्थ से स्पष्ट ज्ञान पड़ता है कि क्रियायोग से समाधि में प्राप्ति होती है और क्लेश दूर होते हैं ।

तदेवं प्रथमे भावे समाहितचित्तस्य सोपायं यामसमिधावभ्युत्पितचित्तस्यापि क्वमुपायाम्यासपूर्वको योगः स्वास्त्यमुपयातीति तत्साधनामुच्यते प्रतिपादनाय क्रियायोगमाह ।

भा० ३०—उपः शास्त्रान्तरोपरिष्ठ कृष्णबाम्नायसादि । स्वाध्याय । प्रत्यक्षपूर्वाणां मन्त्राणां अपः । ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां तस्मिन् परमगुरौ फलनिरपेक्षतया समर्पणम् । एतानि क्रियायोग इत्युच्यते ॥ १ ॥ स किमर्थमित्याह ।

भो० ३० का भा०—इस प्रकार से पहिले पाद में साधनानि चित्तवाले योगी के निमित्त उपाय सहित योग का वर्णन करके अब इस दूसरे पाद में अज्ञान चित्तवाले के 'चित्त को स्थिर

करनेवाले क्रियायोग का वर्णन किया जाता है ।

तप चान्द्रायणादि (प्रायश्चित्त) स्वाध्याय वेद मन्त्रों के आरम्भ में ओ३म् का योग करके जप करने को कहते हैं, ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ यह है कि परमगुरु परमेश्वर से सब क्रियाओं के फल को अर्पण कर देना, इनको ही क्रियायोग कहते हैं ॥ १ ॥

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥

सू० का पदार्थ—वह क्रियायोग (समाधि भावनार्थः) समाधि के सिद्ध और (क्लेशतनूकरणार्थश्च) वक्ष्यमाण क्लेशों के न्यून करने के लिये है ।

सू० का भा०—उक्त क्रियायोग समाधि के सिद्ध और क्लेशों के न्यून करने के लिये होता है ॥ २ ॥

भाष्य—सहि क्रियायोगः आसेव्यमानः समाधिं भावयति क्लेशांश्च तनू करोति । पतनूकृतान् क्लेशान् प्रसंख्यानाग्नि दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति । तेषां तनूकरणात्पुनः क्लेशैरपरामृष्ट सत्त्वपुरुषान्यतामात्रख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधिकारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति अथ क्लेशाः के कियन्तो वेति ॥ २ ॥

भा० का पदार्थ—क्योंकि वह कर्मयोग उत्तम रीति से धारण किया जाने से समाधिको प्रकाशित वा सिद्ध करता है और क्लेशों को न्यून करता है न्यून किये हुए अविद्यादि क्लेशों को योगाग्नि से जले हुए बीज के समान उत्पन्न होने के अयोग्य कर देगा उनके (तनूकर्णाते) सूक्ष्म करने से फिर क्लेशों से स्पर्श रहित बुद्धि वा पुरुष इन दोनों में से एक की ख्याति अर्थात् विचार करता है-

सूक्ष्म विषयों को विचारन वाली बुद्धि, समाप्त हो गये हैं विषय में अधिकार जिसके पुनः क्लेशों को उत्पन्न नहीं करेगी ।

✓ भा० का भाषा०—सूत्राक्त क्रियायोग जब अच्छे प्रकार से धारण किया जाता है तब वह समाधि को सिद्ध करता है और क्लेशों को दूर करता है अर्थात् योगाग्नि से क्लेशों के बीज को जला कर फिर उन्हें उत्पन्न होने के योग्य नहीं रखता, अब योगी के क्लेश नष्ट हो जाते हैं तब उसकी बुद्धि सूक्ष्म विचार करने योग्य होती है और फिर क्लेश उत्पन्न नहीं होते । यही क्रियायोग कहा जाता है ॥ २ ॥

अब आगे सूत्र में यह पढ़ने करेंगे कि क्लेश कौन कौन हैं और किसने हैं ॥ २ ॥

भो० बृ० —क्लेशा बह्यमायास्तोषा तनूकरणं स्वकार्यं करण प्रतिबन्धः समाधिरुक्तं तद्व्यस्तस्य भावना चेतसि पुनः पुनर्मिथे शनैः सोऽप्यप्रयोजने यस्यसं चोक्तं । एतदुक्तं भवति । एते तपः प्रवृत्तयोऽभ्यस्यमानाश्चित्तं लगाम विद्यादीनां क्लेशान् शिथिली कुर्वन्ताः समाधेरुपकायतां मज्जन्ते तस्मान् प्रथमं क्रियायोगा विषयानपरेण योगिना भविष्यन्तिस्तुपविष्टम् ॥ २ ॥ क्लेशतनूकरणार्थं इत्युक्तं तत्र के क्लेशा इत्याह ।

भो० बृ० का भा०—जिन क्लेशों को आगे पढ़ने किया जायगा उनको पढ़ाने के निमित्त अर्थात् क्लेशों, कार्य, बुद्धि आदि के कारणों के स्वरूप तथा दुर्वासना को दूर करने के वास्ते उक्त सुषण की समाधि की भावना अर्थात् बारम्बार चित्त में धारण करने के निमित्त ही क्रियायोग किया जाता है तात्पर्य यह है कि तप आदि के करने से चित्त के अविद्यादि क्लेश शिथिल हो जाते हैं और समाधि में उपकार करते हैं इस कारण योगी को चाहिये कि प्रथम क्रियायोग में तत्पर हो ॥ २ ॥ इस सूत्र में क्लेशों का शिथिल

लेना कहा है इस कारण अगले सूत्र में यह लिखा गया है कि क्लेश किनको कहते हैं ।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशः पञ्चक्लेशाः । ३ ।

सू० का पदार्थ—(अविद्या) वेत्ति पदार्थानां तत्त्वस्वरूपं यथा स विद्या, जिससे सब पदार्थों का यथार्थ रूप जाना जाय उसे विद्या कहते हैं और उससे विपरीत अविद्या कहलाती है (अस्मिता) अहंकार (राग) प्रीति (द्वेष) शत्रुता (अभिनिवेश) अनित्यैरपि देहादिभिर्मै वियोगो माभूदिति मरणभीतिजनकमज्ञानमभिनिवेशः” मरने के भय को अभिनिवेश कहते हैं (पञ्च क्लेशाः) यही ५ क्लेश हैं । ३ ।

सू० का भावा०—अविद्या १, अस्मिता २, राग ३, द्वेष ४, और अभिनिवेश ५ यह पाँच प्रकार के क्लेश हैं ॥ ३ ॥

भाष्य—क्लेशा इति पञ्चविपर्यया इत्यर्थः । ते स्पन्दमाना गुणाधिकारं दृढयन्ति, परिणामवस्थापयन्ति कार्यकारणस्रोतउन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा कर्मविपाकश्चाभिनिर्हरन्ती इति ॥ ३ ॥

भा० का पदा०—क्लेश का अर्थ करते हैं ५ प्रकार के मिथ्या-ज्ञान बढकस्वा प्रबल होकर तमोगुणादि के अधिकार को दृढ़ करते हैं दूसरी दशा अर्थात् स्वभावके विकार को (अवस्थापयन्ति) सिद्धवा स्थिर करते हैं अविद्या के कार्य जो सुख दुःखादि और अविद्या का कारण जो अविवेक इन दोनों कार्यकारण के प्रवाह को बढाते हैं एक दूसरे के सहायक हो के कर्म के फल को प्रकाशित करते हैं ॥ ३ ॥

भा० का भाषा०—अविद्यादि ५ क्लेश अथात् ५ प्रकार के मिथ्या ज्ञान जब अधिक होत है तब अपन २ गुणों को दृढ़ कर लेते हैं अथात् जब मनुष्य को अस्मिता अधिक होती है तब अहंकार दृढ़ हो जाता है और चित्त की प्रकृति का वद्वज देते हैं, सांसारिक सुख और दुःख की नदी को बहान लगते हैं, एक दूसरे के सहायकारी हो के फल फलों को प्रकाशित करते हैं ॥ ३ ॥

सूत्र—इस सूत्र में अन्य क्लेशों का कारण अविद्या का क्या परन्तु अविद्या का कारण क्या है ? इसका उत्तर वैशेषिक शास्त्र में मिलता है 'इन्द्रियदोषात् संस्कार के दोष से अविद्या उत्पन्न होती है इससे सिद्ध होता है, कि सम्पूर्ण क्लेश इन्द्रियों के दोष से ही उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

भो० वृ० —अविद्यादयो षडपमासकक्षणा पश्यन्त त य मावना लक्षणा परितापसुपञ्जनयन्तः क्लेशरान्दबाध्य मयन्ति ते हि चेतसि प्रवर्त्तमानाः संस्कारलक्षणां गुणपरिधामं इदयन्ति ॥ ३ ॥

सत्यपि सर्वेषां तुल्ये क्लेशास्व मूलमूतत्वादविद्यायाः प्राथम्य प्रतिपाद्यम्बुमाह ।

भा० वृ० का भा०—जिनके लक्षण आगे कहे जायेंगे वह अविद्यादि क्लेश पाँच हैं वह पाँचों दुःख का सन्ताप उत्पन्न करते हैं इससे उनको क्लेश कहते हैं वह चित्त में रह कर अपने गुणों के पक या हर या फेर का दृढ़ करत हैं ॥ ३ ॥ यद्यपि वे सब क्लेश ही हैं परन्तु अविद्या उनका मूल है इस कारण अगस्त सूत्र में अविद्या की प्रधानता का वर्णन किया है ।

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् । ४

सू० का पदार्थ—(प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणां) प्रसुप्त तनु विच्छिन्न और उदार (उत्तरेषाम्) आगे के अस्मिता

आदि क्लेशों का (अविद्याक्षेत्रं) अविद्या क्षेत्र स्थान है । ४।

सूत्र का भा०—अस्मिता आदि अन्य और सब क्लेशों का अविद्या कारण है ॥ ४ ॥

भाष्य—अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां च तुविधविकल्पतानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् । तत्र को प्रसुप्ति चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीज भावोपगमः । तस्यप्रबोधात्मन्वने संमुखीभाजः प्रमंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य संमुखी भूतेऽप्यात्मन्वने नासौ पुनरस्ति, दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति । अतः बीजक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते । तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्थानान्यत्रेति । सती क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्ये दग्धमिति विषयस्य सम्मुखी भावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोध इत्युक्ता प्रसुप्तिर्दग्धबीजानाम् प्ररोहश्च । तनुत्वमुच्यते प्रतिपक्षमवनोपहताः क्लेशास्तनोभवन्ति । तथा विच्छिद्याविच्छिद्यतेन तेनात्मना पुनः पुनः समुदाचार अन्तीति विच्छिन्नाः कथं रागकाले क्रोधस्यादर्शनात् न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति रागश्च क्वचिद्दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति । नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इति अन्यासु स्त्रीषु विरक्तः किन्तु तत्र रागो लब्धवृत्तिरन्यत्र तु भविष्यद्वृत्तिरिति । सहि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति ।

विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः । सर्वएवैते क्लेशवि-

पयस्वप्रत्यय नातिक्रामन्ति । कस्तर्हि विच्छिन्ना प्रसुप्तस्तनु-
 रुदारोवा क्लेश इत्युच्यते सस्यमेवैतत्, किन्तु विशिष्टाना-
 मेवैतेषां विच्छिन्नादिस्पम् । यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्त-
 स्तथैव स्वल्पस्वल्पक्षणेनाभिभ्यक्त इति । सर्वेष्वामी क्लेशा
 आविष्टामेदाः । कस्मात् सर्वेष्वविद्यैवामिषुवते । यदविद्यया
 वस्त्वाकार्यते तदेवानुसृजते क्लेशाविपर्यास-प्रत्यय काष्ठ
 उपसृज्यन्ते धीयमाणाश्चाविष्टामनुचिपन्त इति ॥ ४ ॥
 तत्राविष्टास्वरूपमुच्यते ।

भा० का पदार्थ—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और ऊँच इन चार
 प्रकार के अस्मिता आदि क्लेशों का आविष्टा क्षेत्र अर्थात् उत्पत्ति
 स्थान है । उनमें प्रसुप्ति क्या है अर्थात् प्रसुप्ति किसे कहते हैं चित्त में
 रहने वाले क्लेशों का बीजभाव को प्राप्त हो जाना उस क्लेश का
 प्रागुक्त अर्थात् चैतन्य होने पर (सम्मुखीभाव) क्लेश प्रदान करने
 को उद्यत होना और विषय में फँसा देना हो जाता है दृग्ग हो गये
 हैं क्लेशोंके बीज जिसके हृदय में योगी के ऐसे क्लेश फिर सम्मुख
 का चैतन्य हो भी जिसका बीज ही उत्पन्न गया है उसकी उत्पत्ति
 क्यों ? इसलिये जिसके क्लेश बीज हो गये हैं वह सुषुप्त चरम
 वेद अर्थात् वर्तमान शरीर ही जिसकी अन्तःस्था है कहाता है ।
 इसी से वह भस्म हो गया है बीज जिसका ऐसी पाँचवीं क्लेश
 की अवस्था होती है अन्यत्र नहीं । क्लेशों के जाने पर भी उस
 काल के उत्पन्न होने की शक्ति भस्म हो जाती है विषय के सम्मुख
 होने पर भी क्लेशों का प्रभाव नहीं होता इस प्रकार से कही जाती
 है क्लेशों की प्रसुप्त अवस्था जैसे हुए बीज बीजों का फिर उत्पन्न

न होना और तनु अर्थात् हलका होना कहा जाता है प्रतिपक्ष अर्थात् क्लेश के शत्रु योग की भावना अर्थात् विचार के साधन से नाश हुए पाँचों क्लेश तनु अर्थात् सूक्ष्माकार प्रायः अदृश्य के समान हो जाते हैं ऐसे ही खण्ड २ होकर अपने २ रूप से फिर आचरित होने लगते हैं खण्डित कैसे होते हैं ? मोह के समय में क्रोध के गुप्त हो जाने से । क्योंकि राग के समय में क्रोध नहीं रहता है और राग भी कहीं नहीं देखा गया । दूसरे क्रोधादि विषयों में नहीं होता । एक स्त्री में चैत्र नामी पुरुष प्रीतिमान है और स्त्रियों में विरक्त है लेकिन पहिली स्त्री में प्रीति लगी हुई और स्त्रियों के प्रति भविष्यत् रूप से है उस काल में प्रसुप्त, तनु, अथवा विच्छिन्न होता है पैदा विषय में जिसकी वृत्ति लगी है वह उदार कहाता है ॥ ४ ॥ ये सब क्लेश की सीमा को अतिक्रमण नहीं करते । जब ऐसा है तो फिर प्रसुप्त आदि संज्ञा भेद क्यों किया गया ? इसका उत्तर यह है विशेषता जतलाने के लिए ही यह संज्ञा भेद किया गया है ये सब क्लेश वस्तु अविद्या के ही भेद हैं ? क्योंकि इन सब में अविद्या व्याप्त हो रही है । अविद्या से जो अवस्तु में वस्तु का आरोपण किया जाता है, वही क्लेशों की अनुवृत्ति का कारण है अविद्या के उदय होने पर क्लेश भी उदय होते हैं क्षीण होने पर वे नष्ट हो जाते हैं ॥ ४ ॥ अब अविद्या का स्वरूप कहते हैं —

भा० का भावा०—इन सब क्लेशों का मूल कारण अर्थात् उत्पत्ति स्थान अविद्या है, क्योंकि विना अविद्या के अन्य चारों क्लेश प्रसुप्त के समान पड़े रहते अर्थात् उनका बीजमात्र हृदय में रहता है परन्तु जब अविद्या का मनुष्य के हृदय में सञ्चार होता है तब अन्य क्लेश भी जागृत होजाते हैं किन्तु योगाग्नि से जिसके क्लेश भस्म हो जाते हैं उसको पुनः किसी क्लेश का आविर्भाव

नहीं होता क्योंकि खल वीच से पुष्ट की उत्पत्ति होना ही असम्भव है ॥ ४ ॥

भा० पु० — अविद्या माहः अनात्मन्यात्माभिमान इति यावत् साक्षरं प्रसवमृमिस्तेरेणामस्मितादीनां प्रत्येकं प्रसुप्ततन्म्यादिभेदेन चतुर्विधानाम् । अतो यत्राविद्या विपर्ययज्ञानरूपा शिथिलाभवति तत्र क्लेशानामामस्मितादीनानाद्भवा दृश्यत । विपर्यय ज्ञानसङ्गात् च तपागुह्यदर्शानात् स्थितमेष मूलरूपमविद्याया प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोपाश्रयमिति तत्र यः क्लेशाश्चित्तमूर्धौ स्थिताः प्रबाध दामाश्च स्वकार्यं नऽऽरभन्ते तं प्रसुप्ता इत्युच्यन्ते । तथा वास्यावस्थायामासस्य हि वासनारूपमस्मिता अपि क्लेशाः प्रबाधकस्तद्व्यभिचारेणाभिव्यज्यन्ते । त तनयो य एव स्वप्रतिपक्षमाधनया शिथिलीकृतकार्यसम्पादनशक्त्या वासनानाशयेपतया चेतस्यवस्थितः प्रमृतां सामग्रीमन्तरेण स्वकार्यमारब्धुपचमाः । यत्रोऽभ्यासवता योगिनः । ते विच्छिन्ननात्रे क्लेशद्वलवता क्लेशेनाभिभूतशक्त्यवस्थितमिति । यथा द्वेषावस्थायां राग रागावस्थायां या द्वेषः न ह्यनङ्ग परस्परविरुद्धांगयुगपदस्तन्मवाऽस्ति । त क्वारा चे प्राप्तस्तद्वक्त्रे सन्निधयः स्वं स्वं कार्यमभिनिर्वर्तयन्ति । यथा सर्वैव बागपरिपन्थिना व्युत्थानदशायाम् पर्षां प्रत्येकं चतुर्विधानामपि मूलमूतरश्मि स्थिताप्यविद्यान्वयित्वेन प्रतीयते न हि कश्चिदपि क्लेशानां विपर्ययान्मयनिरपेक्षाणां स्वरूपमुत्तम्यते । तस्यां च मिथ्यारूपायां सम्यग्ज्ञानेन निवर्तितायां दृग्धवीजकस्यामासेषां न कश्चित् प्रसङ्गोऽस्ति । अतोऽविद्यामिमित्तत्त्वमविद्यान्वयैतदा निश्चीयत । अतः सर्वेऽपि अविद्याव्यपदेशाभावाः । सर्वेषां च क्लेशानां चित्तविद्येपकारित्वात् योगिना प्रथममेव तदुच्छेदेयत्नः कार्य इति ॥ ४ ॥ अविद्या सङ्क्षमाह ।

मो० पु० का मा — अविद्या का अर्थ मोह है अर्थात् अनात्म

बुद्धि रखने को अविद्या कहते हैं, वह अविद्या दूसरे क्लेशों को उत्पन्न करनेवाली भूमि है, प्रत्येक क्लेश के चार भेद हैं, तनु, प्रसुप्त, विच्छिन्न, उदार जहाँ अविद्या का अभाव होता है वहाँ अन्य क्लेश भी नहीं रहते हैं, क्योंकि अस्मितादि क्लेश विपर्ययज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं । इससे सिद्ध होता है कि अन्य चारों क्लेश अविद्या से ही उत्पन्न होते हैं । प्रसुप्त तनु विच्छिन्नोदाराणाम् का अभिप्राय यह है, कि जो क्लेश चित्त भूमि में रहते हैं वह प्रबोधक अर्थात् उसकाने वाले के बिना अपने कार्य को नहीं कर सकते हैं इससे ही प्रसुप्त कहलाते हैं । जैसे बालक अवस्था में बालकों के चित्त में क्लेश रहते भी हैं तो भी बिना सहायकारी के वह प्रकाशित नहीं होते हैं । वे तनु जो अपने शत्रुओं के दबाव से ऐसे दुर्बल हो जाते हैं कि वह केवल वासनावश होकर चित्त में रहते हैं इस कारण वे अपने कार्य को करने में असमर्थ हैं, क्योंकि वे अपने काम करने की पूरी सामग्री नहीं पाते हैं । जैसे विच्छिन्न वे हैं, जो किसी बलवान् क्लेश से दबकर रहते हैं, दोष की अवस्था में राग और राग की अवस्था में द्वेष, इन दोनों का एक समय में होना असम्भव है । उदाहरण—वे अपने सहायक की समीपता को पाके अपने २ कार्य को करते हैं, जैसे योग के विघ्न कारक सदैव रहते हैं चित्त की चंचल दशा में इनमें भी प्रत्येक के चार चार भेद होते हैं परन्तु उन भेदों में से भी प्रत्येक भेद का कारण अविद्या ही है क्योंकि विपर्ययज्ञान से कोई भी क्लेश उत्पन्न नहीं होता है इस कारण मिथ्याज्ञान रूप जो अविद्या है उसके नाश होने से और सब क्लेशों के बीज ही जले हुये के तुल्य हो जाते हैं तब वह क्लेश उत्पन्न नहीं होते हैं इस कारण अविद्या का सम्यक् ज्ञान में परिणत होता ही क्लेश नाश का हेतु है, सम्पूर्ण क्लेश अविद्या से ही उत्पन्न वा प्रकाशित होते हैं और सब ही क्लेश योग में

विज्जकारक और चित्त में विक्षेप करनेवासे हैं इस कारण योगी को प्रथम अवस्था का ही नाश करना चाहिये ॥ ४ ॥ अगले सूत्र में अवस्था के लक्षण कहे हैं ।

**अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्म
स्यातिरविद्या ॥ ५ ॥**

सू० का पदा०—(अनित्याशुचिदुःखानात्मसु) अनित्य में, अपवित्र में दुःख में अनात्म अर्थात् जड़ पदार्थों में (नित्य शुचि सुखात्मस्यातिः) क्रमशः नित्यः पवित्र, सुख आत्मा अर्थात् चैतन्य बुद्धि को (अवस्था) अवस्था कहते हैं ॥ ५ ॥

सू० का भाषा०—अनित्य में नित्य बुद्धि, अपवित्र में पवित्र बुद्धि दुःख में सुख बुद्धि, अनात्म में आत्म बुद्धि को अवस्था कहते हैं ॥ ५ ॥

व्या० वे० कु० भाष्य—अनित्ये कार्ये नित्यस्यातिः । तथा ध्रुवाशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मस्य स्यात् इति । तथाऽशुचौ परमबीभत्से कार्ये, शुचिस्यातिः । उक्तञ्च “स्यानाद्रीनादुपष्टम्भान्नित्यन्दान्निधनादपि । कायमाधय शौचत्वात् पण्डिताश्च शुचिं विदुः” । इत्यशुचौ शुचिस्याति ईस्यते । नवेय शशाङ्कसेवा कमनीयेय कन्या मध्वमृताव यवनिर्मितेष चन्द्रमिम्बा निःसृतेव ज्ञापते नीलोपलपत्रा यवाणी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां लोकोक्तमारवाचयन्ती-

वेति कस्य केनभिसम्बन्धः । भवति चैत्रशुचौ शुचिविपर्यया
सप्रत्ययः इति । एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैव नार्थे चार्थ-
प्रत्ययो व्याख्यातः । तथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति-परि-
णामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवे-
किन इति ।- तत्र सुखख्यातिरविद्या तथा अनात्मन्यात्म-
ख्यातिर्वाह्यप्रकरणेषु चेतना चेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे
पुरुषोपकरणे वा मनस्य अनात्मन्यात्मख्यातिरिति तथैत-
दत्रोक्तम् व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य
सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनु शोच-
त्यात्मव्यपदंमन्वानः स सर्वोप्रतिबुद्धः इत्येषा चतुष्पदा
भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसन्तानस्य कर्माशयस्य च
सविपाकस्येति । तस्याश्चामित्रा गोष्पदद्वस्तु । सतत्त्वं विज्ञेयम्
यथा नामित्रो मित्रा भावो न मित्रमात्रं किन्तु तद्विरुद्धः
सपत्नः यथाचाङ्गोष्पादं न गोष्पदाभावे न गोष्पदमात्रं
किन्तु देशएव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम्, एवमविद्या न प्रमाणं
न प्रमाणाभावः किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति । ५

भा० का पदार्थः--अनित्य अर्थात् स्थिर अथवा प्रकृति के कार्य
रूप जगत् में नित्य अर्थात् चिरस्थायी अथवा कारण बुद्धि करना
जैसे अनित्य पृथिवी में ध्रुव अर्थात् अचल और स्थिर बुद्धि करना
अविद्या है तारागण और चन्द्रमा के सहित उर्द्ध लोको को अवि-
नाशी मानना अविद्या है देवता लोग अमर अर्थात् मृत्यु रहित हैं
इसको अविद्या कहते हैं इसी प्रकार से अपवित्र में पवित्रता विष-

यक बुद्धि दीक्षती है । यह चन्द्रकला नवीन है यह कम्य कम्पनीय
 अर्थात् कमना योग्य वा मनोहर है कोसल अमृत के समान अंगों
 वाली हाथ भाव भरे नेत्रों से प्राणियों का आश्वासन करती है इस
 प्रकार अपवित्र में पवित्र बुद्धि दान का निश्चय होता है इस ही के
 समान पाप में पुण्य दान तथा अनर्थ में अर्थदान कहा गया है ।
 अप दुःख में सुख क्पाति का कहते हैं—मोगादि में खिनका परि
 याम दुःख है सुखदायक समझकर मित दाना यह तीसरी प्रकार
 की अविद्या है । अनात्म में आत्म बुद्धि उसका कहते हैं कि मोगा
 विप्लान शरीर में वा पादा उपकारण शम्भ्रियादि में अथवा अन्तः
 करण मन आदि में आत्म बुद्धि करना जैसाकि पञ्चशिख आचार्य
 ने कहा है—व्यक्त पुत्र वार पञ्चादि में और अव्यक्त शम्भ्रास्नादि
 में आत्म बुद्धि करने उनकी बुद्धि से इर्षित और उनके नाम से
 दुःखित होना चौथी प्रकार की अविद्या है । इस प्रकार से ४ भाग
 वाली अविद्या होती है उक्त क्लेशा समुदाय की तथा वामशिव
 और उनके पक्षों की मूल अविद्या ही है और उस अविद्या का
 अभिप्राय अभिन्न अगोष्पद के समान तत्त्वार्थ के सहित समझना
 योग्य है जैसे (नामिन्नः) दित साधक को मित्र कहते हैं और जो
 उससे विपरीत अर्थात् अद्वितीयमिन्नक हो उसे अभिन्न कहते हैं
 एवम् जो अभिन्न के विपरीत हो वह न मित्र कहाता है अभिप्राय
 यह है कि नामिन्न शब्द से मित्रभाव अर्थात् शत्रुता सिद्ध नहीं
 होती ऐसे ही अगोष्पद शब्द से न तो गोष्पदा भाव और न गोष्पद
 मात्र की चित्तिज्ञा है किन्तु ऐसा अभिप्रेत है, जैसे अविद्या न तो
 प्रमाण है और न अप्रमाण किन्तु विद्या के विपरीत ज्ञान का
 नाम अविद्या है ॥ ५ ॥

मा० का भाषा०—अमित्य अर्थ अर्थात् पृथिवी और अमृतरि
 वस्तु सखलोक अप्सर हैं अथवा देवता असर हैं इत्यादि विपरीत

बुद्धि को अविद्या कहते हैं, अथवा मल मूत्रादि परम अशुचि पदार्थों के स्थान देहादि में पवित्र बुद्धि करना अविद्या है, क्योंकि जगत् में देखते हैं कि कोटिशः मनुष्यों को स्त्री के अपवित्र शरीर में और स्त्री का वैसे ही पुरुष के शरीर में पवित्रता की बुद्धि होती है, ऐसे ही दुःख में सुख बुद्धि, और अनात्म पदार्थों में आत्म बुद्धि को अविद्या कहते हैं ॥ ५ ॥

५ सू०—अविद्या का लक्षण सूक्ष्मता से यह अच्छा ज्ञान पड़ता है कि “अतस्मिस्तत्प्रतिभासोऽविद्या” ॥ ५ ॥

भो० वृ०—अतस्मिस्तयिति प्रतिभासोऽविद्या इत्यविद्यायाः सामान्य लक्षणम् । तस्या एक भेदप्रतिपादनम्—अनित्येषु वटादिषु नित्यत्वाभिमानोऽविद्या इति उच्यते । एवमशुचिषु कायादिषु शुचित्वाभिमानः, दुःखेषु च विषयेषु सुखत्वाभिमानः, अनात्मनि-शरीरे आत्मवाभिमान एतेनापुण्ये पुण्यभ्रमाऽनर्थे चार्थभ्रमो व्याख्यातः ॥ ५ ॥ अस्मिता लक्षयितुमाह ।

भो० वृ० का भा०—अविद्या का अर्थ यह है कि किसी वस्तु में तद्विरुद्ध वस्तु का ज्ञान होना यह अविद्या का सामान्य लक्षण है, इसके भेद कहते हैं, अनित्य वट आदि पदार्थों में नित्य अर्थात् सदैव स्थिर रहने के मिथ्या ज्ञान को अविद्या कहते हैं ऐसे ही अपवित्र में पवित्र बुद्धि को अविद्या कहते हैं अर्थात् अपवित्र शरीर में पवित्र बुद्धि करने को अविद्या कहते हैं । दुःखरूप विषयों में सुख समझने को अविद्या कहते हैं, जड़ शरीर आत्मबुद्धि करना अविद्या कहाता है इससे यह भी सिद्ध हुआ कि पाप में पुण्य बुद्धि और अधर्म में धर्म बुद्धि करने को अविद्या कहते हैं ॥ ५ ॥ अस्मिता का लक्षण कहते हैं ।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

सू० का पदार्थ—(एकदर्शनशक्तयोः) द्रष्टा और दर्शन अर्थात् देखने में सहायक^{१२३४५} इन दोनों शक्तियों को (एकात्मतेः) अभिन्न जानना (अस्मिता) अस्मिता कहाती है ॥ ६ ॥

सू० का भाषा०—द्रष्टा और दर्शनशक्ति में असेवज्ञान को अस्मिता कहत है ॥ ६ ॥

व्या० माप्य—पुरुषोऽप्यशक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिनास्मिता क्लेश उच्यते । मोग्यमोष्टयोरत्यन्तविमक्तयोरेत्यन्तासङ्कीर्णयोरविभागप्राप्तौ विषयस्याभगः कल्पते । स्वरूपप्रतिज्ञाम्ने तु तयोः कैवल्यमेष भवति कृता मोग इति । तथाचोक्तम्—बुद्धितः परपुरुषमाकारशीलविषादिभिः विमक्तमपरपन् कृपाचप्राऽऽत्मबुद्धिं मोहेनेति । ६

भा० का पदार्थ—पुरुष अर्थात् जीव में देखने की शक्ति होती है । बुद्धि में दर्शन अर्थात् देखने में सहायकारिणी शक्ति होती है । इन दोनों शक्तियोंको एक स्वरूप अर्थात् अभिन्न मानना अस्मिता क्लेश कहाता है । ऐसे ही माप्य शक्ति माप्य शक्तियोंको जो अत्यंत ही भिन्न हैं और जो अत्यन्त असंकीर्ण अर्थात् किनका परस्पर कुछ भी मेल नहीं है विभाग रहित अर्थात् एक मान कर भाग की कल्पना करना है उसे अस्मिता कहत हैं । अब जीव का परमेश्वर वा अपन रूप की प्राप्ति अर्थात् ज्ञान होता है सब वो दृक्शक्ति और दर्शन शक्ति कैवल्य का प्राप्त हो जाती है फिर भोग ही क्या होगा, पसा ही अम्यत्र भी कहा है । बुद्धि से ईश्वर और जीव का आकार, शीघ्र और विधादि को अभिन्न देखता हुआ उनमें आत्मबुद्धि माह से करे ॥ ६ ॥

भा० का भा०—पुरुष अर्थात् ईश्वर और जीव इनमे देखने की शक्ति है और बुद्धि मे दिखलाने की शक्ति है इन शक्तियों को एक मानना इसे ही अस्मिता क्लेश कहते हैं, जिस प्रकार से भोग्य अर्थात् भोग करने के योग्य और भोगशक्ति अर्थात् भोग करनेवाले की शक्ति जो परस्पर अति ही भिन्न और अत्यन्त ही असंकीर्ण हैं उनको एक मानना । ऐसा ही अन्यत्र भी लिखा है कि बुद्धि से परम पुरुष अर्थात् ईश्वर वा जीव को लक्षण विद्यादि से विभक्त अर्थात् बिना विचारे भिन्न मे एक बुद्धि करना केवल मूर्खता ही है ॥ ६ ॥

३ सू०—इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि आत्मा और बुद्धि को एक मानने को अस्मिता कहते हैं ॥ ६ ॥

भो० वृ०—दृक्शक्तिः पुरुषः दर्शनशक्ती रजस्तमोभ्यामनभिभूतः सात्विक. परिणामोऽन्तःकरणरूपोऽनयोर्भोग्यकर्तृत्वेन जडत्वत्वेनात्यन्ताभिन्नरूपयोरेकताभिमानोऽस्मिन्नेति उच्यते । यथा प्रकृतिर्वस्तुतः कर्तृत्वभोक्तृत्वरहितोऽपि कर्त्ताहं भोग्यहमित्यभिमन्यते सोऽयमस्वित्ताख्योविपर्ययासः क्लेशः ॥६॥ रागस्य लक्षणमाह

भो० वृ० का भा०—दृक्शक्ति पुरुष है और दर्शनशक्ति रजोगुण और तमोगुण के संसर्ग से रहित केवल सत्वगुण से युक्त अन्तःकरण कहाता है यह दोनों भोग्य और भोक्ता, एवम् जड़ और चैतन्य आदि गुणों में अत्यन्त ही भिन्न मान होते हैं । उन दोनों में जो एकता का अभिमान है उसे अस्मिता कहते हैं । जैसे आत्मा कर्त्ता और भोक्ता नहीं है तो भी पुरुष, मैं कार्यो का कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ, ऐसा मानता है । यही क्लेश अस्मिता कहाता है ॥ ६ ॥ राग का लक्षण कहते हैं ।

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

सू० का पदा०—(सुखानुशयी) सुख का अनुस्मरण पूर्वक जो सुख का प्रवृत्ति होती है (रागः) राग कहाता है ॥ ७ ॥

सू० का भाषा०—सुख के साधन को राग कहते हैं ॥ ७ ॥

भा०—सुखामिदस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो रागः तृप्या सोमः स राग इति ॥ ७ ॥

भा० का पदा०—जिसको सुख का ज्ञान है उसको सुख के अनुस्मरण पूर्वक सुख में अथवा उसके साधन में वा सोम है वह राग कहाता है ॥ ७ ॥

भा० का भाषा०—जिसने कभी सुख भोगा है उसे सुख की स्मृति होती है । उस स्मृति से जो सुख के साधनों में सोम होता है उस ही सोम का राग कहते हैं ॥ ७ ॥

भा० वृ०—सुखमनुक्षेप इति सुखानुशयी सुखस्य सुखानुस्मृति पूर्वकः सुखसाधनपु तृप्यारूपो गर्भो रागर्मद्वन्द्वः ॥ ७ ॥
द्वेषलक्षणमाह—

मो० वृ० का भा०—सुख के पश्चात् जो होता है उसे सुखानुशयी कहते हैं जिस पुरुष का सुख का ज्ञान है उसको सुख का स्मरण होता है फिर सुख में वा सोम होता है उसही सोम को राग कहते हैं ॥ ७ ॥ द्वेष का लक्षण कहते हैं—

दुःखानुशयी द्वेष ॥ ८ ॥

सू० का पदार्थ—(दुःखानुशयी) दुःख का अनुस्मरण (द्वेषः) द्वेष कहाता है ॥ ८ ॥

सू० का भाषा०—दुःख के साधन का द्वेष कहते हैं ॥ ८ ॥

भा०—दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्सा-
धने वा यः प्रतिधोमन्युजिघांसा क्रोधः स द्वेषः ॥ ८ ॥

भा० का भावा०—दुःख के जानने वाले को दुःखानुस्मरण
पूर्वक दुःख में अथवा उसके साधन में जो क्रोध या अप्रीति वह
द्वेष है ॥ ८ ॥

भा० का भावा०—दुःख को जानने वाले का दुःख स्मरण
पूर्वक उसके प्रति जो क्रोध उसे द्वेष कहते हैं ॥ ८ ॥

भो० वृ०—दुःखनुक्तलक्षण, तदभिज्ञस्य तदनुस्मृतिपूर्वकं तत्सा-
धनेषु अनभिलषतो योऽयं निन्दात्मकः क्रोधः स द्वेषलक्षणः क्लेशः
॥ ८ ॥ अभिनिवेशस्य लक्षणमाह—

भो० वृ० का भाष्य—दुःख का लक्षण पहिले कह चुके हैं उस
दुःख का जिसको ज्ञान है उसको दुःख का स्मरण होता है फिर
वह दुःख के साधनों को इधड़ा करने की इच्छा नहीं करता वरन
उसकी निन्दा करता है निन्दारूप जो क्रोध होता है उसही को द्वेष
कहते हैं ॥ ८ ॥ अगले सूत्र में अभिनिवेश का लक्षण कहा जायगा ।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

सू० का पदा०—(विदुषोऽपि) पण्डितों को भी (स्व-
रसवाही) अपने स्वभाव को प्राप्त कराने वाला (तथा)
तैसे (अरूढः) प्राप्त (अभिनिवेशः) अभिनिवेश क्लेश
है ॥ ९ ॥

सू० का भावा०—जो मूर्ख तथा पण्डितों को एक समान प्राप्त
हो उसे अभिनिवेश कहते हैं ॥ ९ ॥

भाष्य—सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीनित्या भवति मा

न भूषं भूयासमिति । नचाननुभूतमरणधर्मकस्यैवा मर-
त्यात्माशोः । एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते स चाया-
मिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाशो कुमेरपि चातमात्रस्य प्रत्यक्ष
नुमानागमैः सम्भावितो मरणत्राश उन्नेददृष्ट्यात्मकः पूर्व
अन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति । यथा चायमत्यन्तमू-
ढपुष्टस्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विद्यातूर्वापिरान्तस्य
रुदः । कस्मात्-समानादि तयोः कृष्णसाकुशल्य योः मरण
दुःखानुभवादिषु वासनेषु ॥ ६ ॥

भा० का पदा०—सब प्राणियों को यह आत्मा अर्थात् अपने
जीव को आशीर्वाद अर्थात् हितचिन्तन सर्वत्र होता है । मैं न हूँ,
यह नहीं, किन्तु मैं हूँ जिसमें मरने के दुःख को अनुभव नहीं
किया उसको यह हितचिन्ता नहीं हो सकती । और इस आशी-
र्वाद से पूर्व काम का अनुभव प्रतीत होता है यह अमिनिवेश
क्लेश कहाँ है । तत्काल छल्पन हुए अपने रस में समन कीड़े को
भी यह हितचिन्ता होती है । प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द प्रमाण
से कीड़े न मरने के दुःख को नहीं समझ मरने से शरीरसत्ता भंग
हो जाती है यह पूर्व अस्मत् भोगे हुए मरने के दुःख को अनुमान
करता है यह भय वैसा अस्पृष्ट मूर्खों में फैलता है वैसा ही पूर्वा
पर को जाननेवाले विद्वानों में भी फैला जाता है । क्योंकि मूर्ख
और विद्वान् को मरण दुःख के अनुभव से यह संस्कार दृश्य
ही होता है ॥ ६ ॥

भा० का भा०—प्राणिमात्र को आत्महित चिन्तन जरूर रहता
है अर्थात् सबका यही रुचि रहती है, कि मैं कभी न मरूँ परन्तु
बिना मृत्यु का दुःख मोगे यह अपना हित चिन्तन होना ही अस

म्भव है इससे पुनर्जन्म सिद्ध होता है मृत्यु का भय प्राणिमात्र में देखते हैं जो भय प्राणियों में समान पाया जाता हो उसे अभिनिवेश कहते हैं, यदि कोई कहे कि मरण समय में दूसरे का दुःख देखकर प्राणियों का भयभीत होना कहा जाय तो अभी उत्पन्न हुआ कीड़ा मृत्यु से क्यों डरता है ? उस कीड़े को प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द प्रमाण से मृत्यु के दुःख की सिद्धि नहीं हुई परन्तु उसको भय होता है इससे सिद्ध हुआ कि पुनर्जन्म अवश्य है, इत्यादि सर्व समान व्यापी दुःख को अभिनिवेश कहते हैं ॥ ६ ॥

भो० वृ०—पूर्वजन्मानुभूतमरणदुःखानुभववासनावलाद्भयरूप समुपजायमानः शरीरविषयादेर्मम वियोगो माभूदिति अन्वहमनुबन्धरूपः सर्वस्यैवा आकृमेर्वृक्षपर्यन्तं निमित्तमन्तरेण प्रवर्त्तमानोऽभिनिवेशाख्यः क्लेशः ॥ ६ ॥

तदेवं व्युत्थानस्य क्लेशात्मकत्वादेकाग्रताभ्यासकामेन प्रथमं क्लेशाः परिहर्त्तव्याः । न चाज्ञाताना तेषां परिहारः कर्तुमशक्य इति तज्ज्ञानाय तेषामुद्देशं लक्षणं क्षेत्र विभागश्चाभिधाय स्थूलसूक्ष्म भेद भिन्नानां तेषां प्रहाणोपायविभागमाह ।

भा० वृ० का भा०—पूर्वजन्म में जो मरने का दुःख भोगा है उसके अनुभव और वासना के बल से जो भय होता है अर्थात् प्रत्येक प्राणी जो यह चाहता है कि शरीर से और विषयों से मेरा वियोग न हो, यह कीड़े से ब्रह्मा पर्यन्त को जो भय होता है उस ही को अभिनिवेश क्लेश कहते हैं ॥ ६ ॥

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

सू० का प०—(ते) वे दुःख (प्रतिप्रसवहेयाः) उत्पन्न होते ही त्याज्य और (सूक्ष्माः) सूक्ष्म हैं ॥ १० ॥

सू० का मा०—पूर्वोक्त पञ्च क्लेशा प्रतिषेधहेतु अथात उत्पत्ति के साथ ही त्याग्य और सूक्ष्म हैं ॥ १० ॥

भाष्य—ते पञ्च क्लेशा दग्धवीजकल्पा योमिनश्चरिताधि कारेचेतसि प्रतीने सहतेनैवास्तङ्गम्वन्ति स्थितानान्तु बीज माधोपगत्तानाम् ॥ १० ॥

भा० अ प०—व पाँचों क्लेश दग्ध बीज के समान यागी के परित्राधिकार योग में चित्त लीन होने पर उसके ही संग अस्त हो जाते हैं । बीज माध से स्थित होने पर उनके नाश का उपाय करते हैं ।

भा० अ मा०—पूर्वोक्त पञ्च क्लेशा दग्ध बीज के समान याग में चित्त लीन होने से वस्तु ही के संग अस्त हो जाते हैं । बीज माध से स्थिर रहने पर उनके नाश का उपाय अगल सूत्र में कहा है ॥ १० ॥

सूत्र—समाधि पाद में जो व्याधि आदिक चित्त के विक्षेप और याग के विघ्न बर्त्तते किये ये मन सबके मूल यही ५ क्लेश हैं । अतएव योगाभिलाषी का प्रथम क्लेशों का त्यागमा चाहिये परन्तु बिना उपाय रूप से जान किसी वस्तु का त्याग वा समझ नहीं होता इसलिये उनके लक्षण, अस्य और उत्पत्ति त्याग को समझ करके अब उनके त्याग का उपाय कहते हैं ॥ १० ॥

क्रिया याग से कुछ क्लेश अब सूक्ष्म अर्थात् निर्बल हो जाय तब उन्हें प्रतिलोभ परिग्रह के द्वारा दूर कर दें । सारांश यह है कि योगी के क्लेश निर्बीज वा दग्ध बीज के समान हो जाते हैं फिर उनके प्रति प्रमथ अर्थात् प्रथम नहीं होता है ॥ १० ॥

भा पू —त सूक्ष्माः क्लेशा य चासत्तास्तेष्वपि स्थिताः स्व

वृत्तिरूपं परिणाममारभन्ते, ते प्रतिप्रसवेन प्रतिलोमपरिणामेन हेयास्त्यक्तव्याः । स्वकारणऽस्मितायां कृतार्थं सवासनं चित्तं यदा प्रविष्टं भवति तदा कुतस्तेषां निर्मूलानां सम्भवः ॥ १० ॥

स्थूलानां हान्युपायमाह ।

भो० वृ० का भा०—इस रीति से चित्त की चञ्चलता ही क्लेश रूप है अर्थात् क्लेशों के बिना चित्त में चञ्चलता नहीं होती है । इस कारण जिसे चित्त एकाम्र करना हो उसको चाहिये कि पहले क्लेशों को दूर करे परन्तु बिना क्लेशों को जाने उनका छोड़ना असम्भव है इस कारण क्लेशों के लक्षण उत्पत्तिस्थान और भेदों को वर्णन करके अब उनके प्रत्येक स्थूल भेद के नाश का उपाय कहते हैं ।

वह सूक्ष्म रूप के क्लेश जो वासनारूप से चित्त में रहते हैं अपनी वृत्ति के अनुसार ही चित्त को बदल देते हैं । इस कारण उन क्लेशों को त्यागना चाहिये । जब वह अस्मिता आदि क्लेश अपने कारण रूप चित्त में लय हो जाते हैं तब फिर उनका प्रादुर्भाव नहीं होता है ॥ १० ॥ अब स्थूल क्लेशों के नाश का उपाय कहते हैं ।

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

सू० का पदार्थ—(ध्यानहेयाः) क्रियायोग से त्याज्य है (तद्वृत्तयः) क्लेश की वृत्तियाँ ॥ ११ ॥

सूत्र का भावार्थ—पञ्चक्लेश की जो वृत्तियाँ हैं वे पूर्व ही क्रियायोग से हेय अर्थात् त्यागने योग्य हैं ॥ ११ ॥

क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः । प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्या यावत्सूक्ष्मीकृता

यान्दग्धवीजकम्पा इति यथावसायां स्यूतोमलः पूर्वनिर्पूर्ण
यते पश्चात् सूक्ष्मो यस्तेनोपायेन चापनीयते तथा स्वकम्प-
प्रतिपक्षाः स्यूताः वृक्षयः क्लेशानाम् सूक्ष्मास्तु महाप्रति-
पक्षा इति ॥ ११ ॥

भा० का पदार्थ—क्लेशों की जो वृत्तियाँ स्यूत हैं वे क्रियायोग
से दग्ध की हुई विचार से ध्यान से त्यागने योग्य हैं, अतएव सूक्ष्म
हों अतएव दग्धवीज के समान हों। जैसे बलों का ऊपर का मैल
प्रथम धोया जाता है तिसके पीछे सूक्ष्म मल यत्न और उपाय से
दूर करते हैं वैसे ही क्लेशोंमें अल्प विघ्न करनेवाली स्यूतवृत्ति हैं।
सूक्ष्म वृत्ति व हैं जो महाविघ्न करनेवाली हैं ॥ ११ ॥

। भा० का भा०—क्लेशों की वृत्तियाँ जो स्यूत हैं और क्रियायोग
से सूक्ष्म हो रही हैं, वे विचार तथा ध्यान से त्याग करने योग्य
हैं। अतएव सूक्ष्म वा दग्ध वीज के समान हो जैसे बलों का स्यूत
मल प्रथम धोया जाता है, पश्चात् सूक्ष्म मल यत्न और उपाय से
दूर किया जाता है वैसे ही जिनका अल्प प्रभाव है वे स्यूतवृत्ति
और जिनका बृहत् प्रभाव है वे सूक्ष्मवृत्ति हैं। इन दोनों का क्रम
से विचार और ध्यान के द्वारा त्याग करे ॥ ११ ॥

सू०—सात्यय यह है कि प्रतिदिन ध्यान का अभ्यास करने से
क्लेशों की स्यूतवृत्ति अर्थात् शोक, माहादि दग्धवीज के समान
हो जाती हैं।

भा० सू०—तथा क्लेशानामात्मिकाप्यायां याः सुख दुःख माहा-
सिकावृत्तयस्ता ध्याननेत्र विधैकप्रतान्तराण्येन ह्य हतव्या इत्यर्थः
विसृष्टिरिहमाध्यासमात्रतैव स्यूतस्यात्तास्तं निवृत्तिर्मेवति। यथा
यस्यासौ स्यूता मलः प्रधासनमात्रेणैव निवर्त्तते यस्तत्र सूक्ष्मोऽयः
स तैस्तेन्यादैरुत्थापन प्रभृतिभिरैव निवर्त्तयितुं शक्यत ॥ ११ ॥

एवं क्लेशानां तत्त्वमभिधाय कर्माशयस्याभिधातुमाह ।

भो० वृ० का भा०—जिन क्लेशों का कार्य आरम्भ हो गया है उनकी जो सुख, दुःख और मोहरूपी वृत्ति हैं उनको ध्यान से नष्ट करना चाहिये, अर्थात् चित्त की एकाग्रता रूप जो ध्यान है उससे उन वृत्तियों को रोकना उचित है, चित्त को योगाभ्यास में लगाने मात्र से ही क्लेशों की स्थूलवृत्तियाँ निवृत्त हो जाती हैं, जैसे वस्त्रका स्थूल मैल धोने मात्र से छूट जाता है और मैल का सूक्ष्म भाग आँच पर चढ़ाने वा अन्य उपायों से छूट सकता है ॥ ११ ॥ उक्त रीतिसे क्लेशों के तत्त्वको वर्णन करके कर्माशय का वर्णन करते हैं ।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥१२

सू० का पदा०—(क्लेशमूलः) उक्त पाँचों क्लेशों का मूल (कर्माशयः) कर्मों का समूह (दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जन्म में जानने योग्य अर्थात् भोगने योग्य है ॥ १२ ॥

सूत्र का भा०—पञ्च क्लेश का मूल कर्म समूह ही है जो दृष्ट तथा अदृष्ट जन्मों में भोगा जाता है ॥ १२ ॥

तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयकामलोभमोहक्रोधभवः । सदृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्ट जन्मवेदनीयश्च । तत्रतीव्रसंवेगेन मन्त्र-तापः समाधिभिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामा-राधनाद्वायःपरिनिष्पन्नः । स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति । तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वा-सोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्त्रिसु कृतः पुनः पुनर-

यकारः स चापि पापकर्मशयः सद्य एव परिपश्यते । यथा
नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिवारं हित्वा देवस्त्वेन परिवर्तः ।
तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिवारं हित्वा तिर्य-
क्त्वेन परिवर्त इति तत्र नारकाद्यां नास्ति दृष्टवन्मवेदनीयः
कर्मशयः । शीघ्रक्लेशानामपि नास्त्य दृष्टवन्मवेदनीयः
कर्मशय इति ॥ १२ ॥

भा० का प०—धर्म और अधर्म सम्बन्धी कर्मशय है । काम,
क्रोध, मोह, लोभ का उत्पत्ति स्थान और वह वर्तमान जन्म में
मोहने योग्य है । तीव्र वगैरे योग से मन्त्र, तप और समाधियों से
आचरित ईश्वर वचन और महर्षियों की आराधना से जो पुण्य
हो वह शीघ्र ही परिपाक को प्राप्त होता है, फल देता है वह पुण्य
कर्मशय है से तीव्र क्लेश जैसे मर प्राप्त रोगी और कृपणों में
विश्वास को प्राप्त हुए उत्तम पुरुषों में अथवा तपस्वियों में बार
बार किया हुआ अपकार पाप कर्मशय है वह भी शीघ्र परिपाक
होता है फल देता है जैसे नन्दीश्वरकुमार मनुष्य भाव का त्याग
कर देवभाव को प्राप्त मया ऐसे ही नहुष भी देवराज होकर मित्र
भाव का त्याग कर तिर्यक् भाव में प्राप्त मया इनमें नारकीय स्त्रियों
का दृष्ट जन्म वेदनीय कर्मशय नहीं है । तथा जिसके क्लेश क्षीण
हो गये हों उनका अदृष्ट जन्म वेदनीय परबन्ध में मोहने योग्य
कर्म नहीं है ॥ १२ ॥

भा० का भा०—पुण्य और पापरूप कर्मसमूह काम, क्रोध, लोभ
और मोह से उत्पन्न होता है वह दो प्रकार का है एक दृष्टजन्म
वेदनीय और दूसरा अदृष्टजन्मवेदनीय इनमें से जो कर्म तीव्र
संयोग मामक पाप से वा वह से अथवा धर्मसिद्धान्त से किंवा पर

मेहवर या महर्षि आदि की सेवा से जो कर्म सिद्ध होते हैं, वह शीघ्र ही फल देते हैं और जो कर्म तीव्र क्लेश से किसी दीन को सताना आदि अथवा किसी महब्जन महात्मा का बारम्बार अप-कार किया जाता है, वह भी शीघ्र ही फल देता है । जैसे नदीश्वर कुमार मनुष्यता को त्याग कर देवता हुए ऐसे ही मनुष्य भी देव-योनि से तिर्यक् योनि में प्राप्त हुए जिन कर्मों से नरक को प्राप्त होता है उनका फल इस जन्म में नहीं मिलता और जिन योगियों के क्लेश नष्ट हो गये हैं उनके कर्मों का फल जन्मान्तर में नहीं मिलता है ॥ १२ ॥

१२ सू०—क्लेशों का मूल कर्मफल है, जो इस जन्म तथा पर जन्म में भोगा जाता है । इसके उदाहरण भाष्यकार ने नन्दीश्वर तथा नहुष को लिख दिया है परन्तु महाराज भोज ने केवल जाति के परिमाण का उदाहरण विश्वामित्र को भी लिखा है इससे जान पड़ता है, कि अत्युत्कट शुभाशुभ कर्मों का फल इस जन्म में मिलता है ।

भो० वृ०—कर्मशाय इत्यनेन तस्य स्वरूपमभिहितम् । यतो चासनारूपाण्येव कर्माणि क्लेशमूल इत्यनेन कारणमभिहितम् । यतः कर्मणा शुभासुभानां क्लेशा एव निमित्ताम् । दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय इत्यनेन फलमुक्तम् । अस्मिन्नेव जन्मनि अनुभवनीयो दृष्टजन्मवेदनीयः । जन्मान्तरानुभवनीयोऽदृष्टजन्मवेदनीयः । तथाहि, कानिचित् पुण्यानि कर्माणि देवताराधनादीनि तीव्रसंवेगेन कृतानीहैव जन्मनि जात्यायुर्भोगलक्षणं फलं प्रयच्छन्ति । यथा नन्दीश्वरस्य भगवन्महे-श्वराराधनवलादिहैव, - जन्मनि जात्यादयो विशिष्टाः प्रादुर्भूताः । एवमन्येषा विश्वामित्रादीना तपः प्रभावात् जात्यायुषी । केषांश्चिज्जातिरेव यथा तीव्रसंवेगेन दुष्टकर्मकृता नहुषादीना जात्यन्तरादि परिणामः । उर्वहयाश्च कार्तिकेयवने लतारूपतया । एवं व्यस्तसम-

स्वरूपत्वन यथापागे याम्यमिति ॥ १२ ॥ इदानीं कर्माशयस्य स्वमेवमिन्न फलमाह ।

मो० पु० का भा०—कर्माशय शब्द से कर्म समुदाय का स्वरूप कहा, इससे सिद्ध हुआ कि कर्म की वासना रूप ही हैं, अतएव इस शब्द से कर्माशय का कारण कहा क्योंकि शुभ और अशुभ कर्मों के कारण फलेश ही है । दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय का अभिप्राय यह है कि इस जन्म तथा परजन्म में उनका फल भोगना होता है, इस जन्म में जो कर्म फल भोगा जाता है, उसे दृष्टजन्मवेदनीय और आ परजन्म में भोगा जाएगा उसे अदृष्टजन्मवेदनीय कहते हैं । कोई २ पुण्य देवता का आराधन आदि जो तीव्रसंवेग से किये जाते हैं इस ही जन्म में साति, आयु और भोग रूप फल को देते हैं जैसे नदी एकर को महादेव अर्थात् ईश्वर के आराधन से उत्तम साति और आयु और भोग प्राप्त हुए वे ऐसे ही विद्यामित्र ने तप के प्रभाव से उत्तम साति और आयु को पाया था, किसी किसी को उत्तम कर्म से इसी जन्म में उत्तम साति की प्राप्ति हुई और हा आती है ऐसे ही तीव्रसंवेग से पाप कर्म करने वालों को इस ही जन्म में फल मिलता है जैसे महृष का इस ही जन्म में इन्द्रपद से पतित होना पड़ा था । चर्बरी का कार्तिकेय बम में सत्तारूप में परिणत होना इत्यादि ॥ १२ ॥

सति मूलै तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

दृ० का प०—(सति मूलै) अतएव मूल रहने से (तद्विपाकाः) उनका फल (जात्यायुर्भोगाः) वर्णवस्था भोग है ॥ १३ ॥

सू० का भा०—यदि क्लेशमूल अपात् कम क्षेप रहेगा तो उसका

फल जाति, आयु और भोग अर्थात् शुभाशुभ होते हैं ॥ १३ ॥

व्या० भाष्य—सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकरम्भी भवति नोच्छिन्न क्लेशमूलः । यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोह समर्था भवन्ति नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा, तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति नापनीतक्लेशो नप्रसंख्यानदग्धक्लेश बीजभावो वेति । सच विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोगइति । तत्रेदं विचार्यते किमेकं कर्म एकस्य जन्मनः कारणमथैकं कर्मानेकस्त्रिन्माऽऽक्षिपतीति । द्वितीया विचारणा-किमनेककर्मनेकस्त्रिन्म निर्वर्तयति अथा नेकं कर्मैकस्त्रिन्म निर्वर्तयतीति न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणं कस्मादनादिकालप्रचितस्यासंख्येयस्यावशिष्टस्य कर्मणः साप्रतिकस्य च फलक्रमानियमात् अनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः सचानिष्ट इति । नवैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम् कस्मादनेकेषु कर्मसु एकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः सचाप्यनिष्ट इति । न चानेकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम् । कस्मात्तदनेकस्त्रिन्मयुगपन्न संभवतीति क्रमेणैववाच्यम् । तथाच पूर्वदोषानुषंगः । तस्माज्जन्मप्रायणातरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मरणं प्रसाध्य संमूर्छित एकमेव जन्मकरोति, तच्चजन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति । तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति । तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः संपद्यत इति । असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयत इति । अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति ।

दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वात् द्विविपाकारम्भी वायुर्भोगहेतुत्वान्नन्दीश्वरवन्नदुषवद्वेति । क्लेशकर्म विपाकानुभवनिर्भर्तिताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसंमूर्छितमिदं चित्तं

विचित्री कृतमिव सर्वतो मत्स्पर्शात् प्रथमिभिरिवाततमिस्वेता
अनेक्यवपूर्विक वासनाः यस्त्वय कर्माशय एव एवैक्यविक कृत
इति । ये संस्काराः स्मृतिवत्तद्वत्ता वासनाः तावन्मात्रिक्यसीमा
इति ।

यस्त्वसावेक्यविक कर्माशयः सनियतविपाकस्यानियतविपा
कस्य । तत्र दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवार्थं नियमा न एव
दृष्टजन्मवेदनीयस्यानियत विपाकस्य । कस्मात् यो दृष्टजन्म-
वेदनीयानियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः । कृतस्याविपकस्य मारु
प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मण्याभिमूतस्य
वा चिरमवस्थानमिति तत्र कृतस्याविपकस्य नाशो यथा ह्युक्तं
कर्मोदयादिहैव नाशः कृतस्यास्य यत्रेव शुचम् 'हे हे ह वै कर्मस्यैव वि-
तल्ये पापकृतस्यैको राशिः पुण्य कृतोऽपहृति तर्हि च्छेद कर्मादि
सुकृतानि कृतु मिहैव ते कर्म कथयो वेदयन्ते' । प्रधानकर्मण्यावा-
पगमनम् । यत्रेव शुचम्—“स्यात् स्वस्याः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्य-
यमशोः कुरास्य नापकर्वायात्मम् । कस्मात् कुरास्य हि मे बह्व्यवस्थि
त्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्वात्मस्य करिष्यतीति” । नियतविपाक
प्रधानकर्मण्याभिमूतस्य वा चिरमवस्थानम् । कथमिति, अदृष्ट
जन्मवेदनीयस्यैव नियतविपाकस्य कर्मणः समान मरणमभिष्य
च्छिन्नायमुक्तम् । न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य । यस्त्व-
दृष्ट जन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाक तमस्येवावापंवागच्छेदभिमूतं
वा चिरमप्युपासीत यावत्समानं कर्माभिष्यच्छेदं निमित्तमस्य न
विपाक्यभिमुखं करोतीति । तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानव-
धारणादियं कर्मगतविचित्रासुर्विज्ञाना चेति । न चोत्सर्गस्यापवा-
दात् निवृत्तिरित्येवमविक कर्माशयोऽनुज्ञायत इति ॥ १३ ॥

भा० का पदा०—कस्तेरा रहने से कर्म समूह फल देन के योग्य
होता है अर्थात् कस्तेरामूल नहीं । जैसे तुम से वेदित जाय

जिनकी बीजोत्पत्ति नष्ट नहीं भयी पुनः उत्पन्न होने में समर्थ होते हैं । तुष वर्जित वा दुग्ध बीज भाव नहीं, तैसे ही क्लेशयुक्त कर्म समूह भी फल देने में समर्थ होता है न कि गतक्लेश अथवा क्रिया योग से जिसका बीज भाव नष्ट हो गया है । वह फल ३ प्रकार का है जाति, आयु और भोग ।

अब यह विचारणीय है क्या एक कर्म एक ही जन्म का कारण है अथवा एक कर्म से बहुत जन्म होते हैं । दूसरी बात विचारने योग्य यह है क्या अनेक कर्म अनेक जन्म के कारण होते हैं अथवा अनेक कर्म एक जन्म के कारण होते हैं इसका उत्तर यह है कि न तो एक कर्म एक जन्म का कारण है, क्योंकि अनादि काल से सञ्चित हुए असंख्य अवशिष्ट कर्म को और वर्तमान कर्म के फल कर्म का नियम न होने से लोगों को यह विश्वास नहीं होता कि यह सञ्चित अवशिष्ट कर्म का फल है अथवा वर्तमान कर्म का ? यह अनिष्ट है । इसी प्रकार एक कर्म अनेक जन्म का भी कारण नहीं हो सकता । क्योंकि अनेक कर्मों में जब एक एक ही कर्म अनेक जन्म का कारण है तो जो कर्म अवशिष्ट रहे, उनके विपाक काल का अभाव प्रसक्त होता है और यह भी इष्ट नहीं ।

अब रही दूसरी विचारणा क्या अनेक कर्म अनेक जन्म का कारण है अथवा अनेक कर्म एक ही जन्म का कारण हैं ? इसका उत्तर देते हैं—अनेक कर्म भी अनेक जन्म के कारण नहीं हो सकते । क्योंकि वे अनेक जन्म एक साथ नहीं हो सकते । इसलिए पूर्व दोष का यहाँ भी अनुषङ्ग है । इसलिए जन्म और मरण के बीच में किये हुए शुभाशुभ कर्मों का सञ्चय बड़ा ही विचित्र है, कोई उनमें प्रधान कर्म है जो सद्यः फल देते हैं, कोई उपसर्जन भाव से अवस्थित होते हैं, जो विलम्ब से फल देने वाले होते हैं । अतएव

बोधा पक्ष ही ठीक है कि अनेक कर्म एक जन्म के कारण होते हैं । वे प्राणी के मरण समय कर्माशय में संश्रित होकर जन्म का कारण होते हैं जहाँ के अनुसार आयु भोग की व्यवस्था होती है । निदान यह कर्माशय जन्म, आयु और भाग का हस्त होने से त्रिषिपाक कहलाता है अतएव कर्माशय एक ही जन्म का कारण है ।

अष्टम जन्मवेदमीय कर्माशय ही उक्त तीन प्रकार का है, एष्ट जन्म वेदनीय कहीं केवल भोग हेतु होने से एक विपाक जैसा कि नहुष का कहीं आयु और भोग का हस्त हान से त्रिषिपाक जैसा कि नन्दोद्वर का होता है ।

कृत्तवा और कर्म फल के अनुभव से निर्मित वासनाओं से अमात्र समय से मूर्च्छित हुआ चित्त विविध हुआ चारों ओर से मज्झी के जाल के समान परिधियों में फँसा हुआ है य अनेक जन्म की वासनायें हैं । और जो यह कर्म समूह है यह एक ही जन्म का कदा है जो संस्कृत स्मृत के हेतु हैं वे वासना अमात्र काल की हैं ।

यह जो एक जन्म का कर्माशय, यह दो प्रकार का है—एक नियतविपाक, दूसरा अनियतविपाक । उन दोनों में इस ही जन्म में भोगने योग्य नियत फलवाले कर्मों का ही यह नियम है । अष्टम-जन्मवेदमीय अनियत विपाक का नहीं क्योंकि जो अष्टम जन्म द्वारा जानने योग्य अनियत फलवाला है उसकी तीन प्रकार की गति है । एक तो किये हुए कर्मों के फल का नाश दूसरा प्रधान कर्म से मिल जाना अथवा नियतविपाक प्रधानकर्म द्वारा अभिमूढ होकर फिरकाव तक स्थिर रहना इन तीन प्रकार की गतियों में किये हुए कर्मों के कर्मों के फल का नाश जैसे पवित्र कर्मों के अन्वय होने से इस ही जगत में अपवित्र कर्मों का नाश हो जाता है । जिसके प्रमाण में यह कहा जाता है “कर्मों की दो ही गति अवश्य

राशि समझनी चाहिये । एक पापकर्मों की राशि है जो कि पुण्यकृत कर्मों का नाश करती है दूसरी पुण्यकृत कर्मों की राशि है जो पापकृत कर्मों का नाश करती है । इसलिये सुकर्म करने की इच्छा करे । अब रही अदृष्ट जन्मवेदनीय की दूसरी गति अर्थात् प्रधान कर्म से अप्रधान का समावेश, जिसके विषय में कहा गया है:—“प्रधान कर्म में यदि थोड़ा सा संकट भी हो जाय तो उसका परिहार या प्रतिकार हो सकता है और वह उसके फल में बाधा नहीं डाल सकता । जब प्रधान कर्म उत्कर्ष के लिए है तब उसमें अप्रधान का कुछ अंश अपकर्ष के लिये नहीं हो सकता ।

अब तीसरी गति अर्थात् नियत विपाक प्रधान कर्म द्वारा अभिभूत की चिरकाल तक अवस्थिति, यह क्योंकर होती है अदृष्ट जन्मवेदनीय नियतविपाक कर्म का ही मरण अभिव्यक्ति का कारण कहा है न कि अनियत विपाक का । जिसका कोई फल नियत नहीं ऐसा अदृष्ट जन्मवेदनीय कर्म नष्ट हो वा संकीर्ण हो वा किसी से अभिभूत हो, चिरकाल तक रहता है । जब तक इसका कोई अभिव्यञ्जक कर्म निमित्त होकर इसे फलोन्मुख नहीं करता । फलके ही समान देश, काल और निमित्त के अनवधारण से यह कर्म गति बड़ी ही विचित्र और दुर्ज्ञेय है । उत्सर्ग की अपवाद से निवृत्ति नहीं होती इसलिये एक जन्म का कर्माशय ही इसका कारण है ॥ १३ ॥

भा० का भा०—क्लेशों की विद्यमानता में कर्मों के फल उनके आरम्भ करनेवाले होते हैं, जैसे चावलों पर जबतक तुष (छिलका) रहता है तबतक उनमें उत्पन्न होने की शक्ति रहती है, परन्तु जब उनका छिलका उतार दिया जाता है तब उनमें उत्पन्न होने की शक्ति नहीं रहती । ऐसे ही जबतक कर्मफल में क्लेश रहते हैं, तब तक फल क्लेशों को उत्पन्न करते हैं, परन्तु जिस कर्माशय में

क्लेशों का अभ्यास हो गया है, उससे पुनः क्लेशों का उत्पन्न होना
 सर्वथा असम्भव है। कर्म विपाक तीन प्रकार का है, एक जाति,
 दूसरा आयु, तीसरा भोग अब वहाँ पर यह प्रश्न होता है, कि एक
 कर्म से एक जन्म होता है या एक कर्म से अनेक जन्म होते हैं।
 दूसरा प्रश्न यह है, कि अनेक कर्म अनेक जन्म को देते हैं अथवा
 अनेक कर्म एक जन्मको देते हैं। इसका उत्तर यह है कि एक कर्म
 एक जन्म का दाता नहीं है, क्योंकि अनादि काल के इकट्ठे हुए
 असंख्य कर्मों का फल मिलाने में अनियम होगा अर्थात् यदि कहा
 जाय कि परमेश्वर केवल एक ही जन्म में एक कर्म का फल देता
 है तो अनादि काल से जो कर्म इकट्ठे हैं उनके फल देने में अनि-
 यम होगा और मनुष्यों को पण्डित भी होगी और वह अना-
 ध्यास अनिष्ट है। इसी कारण एक कर्म से अनेक जन्म भी नहीं हो
 सकते हैं क्योंकि अब एक ही कर्म से अनेक जन्म हो जायेंगे तो
 अनेक कर्म निष्फल होंगे, क्योंकि एक जन्म में असंख्य कर्म
 समुप्य करता है तो सबके फलों का भोगना असम्भव होगा। ऐसे
 ही अनेक कर्म अनेक जन्मों के दाता भी नहीं हो सकते हैं क्योंकि
 अनेक जन्मों का एक समय में होना ही असम्भव है। अब कहि-
 येगा कि क्लेशः होंगे अब बड़ी पूर्वोक्त दोष आवेगा इसलिये जन्म
 प्राप्ति के अनन्तर जो कुछ शुभाशुभ कर्म किये जाते हैं वे सब एक
 समूह में मिलकर प्रधान और अप्रधान रूप में जन्म से मरण
 पर्यन्त एक ही जन्म देते हैं वह जन्म उसी कर्म समुदाय से
 अस्पायु या बीषायु होता है और उस अवस्था में उस ही कर्म
 समुदाय से जीव भोग करता है इस वास्ते यह कर्म समुदाय जन्म
 आयु और भोग का हेतु ज्ञान से विविपाक कहलाता है। एक जन्म
 का आरम्भ करने वाला तथा समाप्त करने वाला कर्म समूह कहा।
 इसका उत्पन्न मन्दीयर और नाश है क्लेश और कर्म विपाक की

अनुभव से बनी हुई वासना से मूर्छित हुआ चित्त चित्रलिखित के समान रहता है जो स्मरण करानेवाले संस्कार हैं उन्हें वासना कहते हैं वह वासना अनादि है, क्योंकि कर्म और संस्कार अनादि हैं । पूर्व जो एकभविक (एक जन्म का देनेवाला) कर्मसमूह कहा था वह दो प्रकार का है । एक नियतविपाक और दूसरा अनियत-विपाक उक्त नियम नियतविपाक कर्मसमूहका है क्योंकि जो अदृष्ट जन्म वेदनीय अर्थात् अनियत विपाक कर्मसमूह है उसकी गति तीन प्रकार की है । एक अपक्व फल का नाश, दूसरी प्रधान कर्म से संयोग, तीसरी प्रधान कर्मफल से अवरोध होकर चिरकाल तक निष्फल रहना । जैसे शुद्ध कर्म के उदय होने से दुष्कर्म यहीं नाश हो जाता है—लिखा भी है कि कर्म की दो राशि समझनी चाहिये एक पुण्यकृत, दूसरी पापकृत ॥ १३ ॥

भो० वृ०—मूलभुक्तलक्षणाः क्लेशाः । तेष्वनभिभूतेषु सत्सु कर्मणा कुशलाकुशलरूपाणा विपाकः फल जात्यायुर्भोगा भवन्ति । जातिर्मनुष्यत्वादिः । आयुश्चिरकालमेकशरीरसम्बन्धः । भोगा विषया इन्द्रियाणि सुखसंवित् दुःखसंविच्च । कर्मकरणभावबोधन-व्युत्पन्त्या भोगशब्दस्य । इदमत्रतात्पर्यम् चित्तभूमावनादिकाल-सञ्चिताः कर्मवासना यथा यथा पाकमुपयन्ति तथा तथा गुणप्रधानभावेनस्थिता जात्यायुर्भोगलक्षणं स्वकार्यमारभन्ते ॥ १३ ॥ उक्तानां कर्म फलत्वेन जात्यादीना स्वकारणकर्मानुसारिणा कार्य-कर्तृत्वमाह ।

भो० वृ० का भा० —जिन क्लेशों के लक्षण पूर्व कह चुके हैं, जब तक वह वर्तमान रहते हैं, तब तक अच्छे और बुरे कर्मों के फल, जाति, आयु और भोग होते हैं । जाति अर्थात् मनुष्यत्व और पशुत्व आदि (साधर्म्यवैधर्म्याभ्या प्रत्यवस्थानं जातिः) जिस समुदाय के व्यक्तियों के अनेक गुण परस्पर मिलते हों उस समु-

वाय का नाम जाति है । आयु का अर्थ यह है कि चिरकाल तक जीव का शरीर के साथ सम्बन्ध रहना । भोग का अर्थ है विषय अभिप्रेत, सुखज्ञान और दुःखज्ञान । सुख और दुःखादि विषय कर्म करने के माध्यमों का आगूत करते हैं । इस कारण वही भोग राज्य के सार्वभौम हैं जिसमें जो अमादिकात् से कर्मों की वासना संचित रहती है वह ज्यों ज्यों परिपक्व होती जाती है वैसे ही वैसे प्रकृति के स्वभाव और उस आदि गुणों की प्रभावता से जाति, आयु और भोग अपने अपने कार्य को आरम्भ करते हैं ॥ १३ ॥ एक जाति आदि कर्मों के फल हैं, इस कारण कर्मों के अनुसार ही फल भी पते हैं ।

तेहादपरितापफला. पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

सू० का प०—(ते) वे (हादपरितापफलाः) आनन्द और दुःख फलपुक्त हैं (पुण्यापुण्यहेतुत्वात्) पुण्य और पाप हेतु होने से ॥ १४ ॥

सू० का भा०—वे जाति आयु और भोग आरम्भ और दुःख फल देने वाले हैं क्योंकि उनका हेतु पुण्य और पाप है ॥ १४ ॥

ते जन्मापुर्योगाः पुण्यहेतुकाः सुखफला अपुण्यहेतुका दुःख फला इति । यथाचेदं दुःख प्रतिकृतात्ममेव विषय सुखकालोऽपि दुःखमस्त्येव प्रतिकृतात्मकं योगिनः ॥ १४ ॥ अथतदुपपाद्यते ।

भा० का भा०—वे जाति, आयु, और भोग पुण्यमूल वाले सुख फल देने वाले हैं, पापमूल वाले दुःखफल देने वाले हैं जैसे वे दुःख अभिप्रेत हैं वैसे ही विषयमूल फल में भी योगी का अभिप्रेत (दुःख)

ही हैं । क्यों कर दुःख है, इसका प्रतिपादन करते हैं—

भा० का भा०—वे जन्म, आयु, भोग पुण्यहेतुक सुखफल देने वाले और पापमूलक दुःख फलवाले हैं जैसे दुःख पापात्मक है ऐसे ही सुखकाल में भी योगी को पापमूलक होता है । वह कैसे उत्पन्न होते हैं ? ॥ १४ ॥

सू०—जगत् में कर्म दो ही प्रकार के होते हैं, एक पुण्यरूप अर्थात् शुभ कर्म, दूसरे पापरूप अशुभ कर्म, इन्हीं से जन्म, आयु और भोग होते हैं । इस कारण से जन्म, आयु और भोग भी सुख और दुःख स्वरूप ही होते हैं । पुण्य कर्म से सुखस्वरूप होते हैं । और पाप से दुःख स्वरूप होते हैं । परन्तु यह भेद सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में होते हैं । योगी को नहीं, सो अगले सूत्र में दिखलाते हैं ।

भो० वृ०—ह्लादः सुखं परितापो दुःखं, तौ फलं येषा ते तथोक्तः । पुण्यं कुशलं कर्म तद्विपरीतवपुण्यं ते पुण्यापुण्ये कारणे येषा तेषा भावस्तस्वादेतदुक्तं भवति पुण्यकर्मारब्धा जात्यायुर्भोगः । ह्लादफला अपुण्यकर्मारब्धास्तु परितापफलाः । एतच्च प्राणिमात्रापेक्षतया द्वैविध्यम् ॥ १४ ॥ योगिनस्तत्सर्वं दुःखमित्याह ।

भो० वृ० का भा०—ह्लाद सुख को और परिताप दुःख को कहते हैं अर्थात् जाति, आयु और भोग सुख और दुःख के दायक होते हैं । अच्छे कर्म को पुण्य और बुरे कर्म को अपुण्य वा पाप कहते हैं, इस सूत्र का फलितार्थ यह है, कि पुण्य कर्म से आरम्भ हुए जाति, आयु और भोग सुख के देने वाले और पाप कर्म से आरम्भ हुए जाति आयु और भोग दुःख के देने वाले होते हैं ॥ १४ ॥ परन्तु योगी सबही को दुःख समझते हैं, यह अगले सूत्र में कहा जायगा ।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

सू० का पदा०—(परिणामतापसंस्कारदुःखैः) परि-
णाम ताप संस्कार और दुःखों से (गुणवृत्तिविरोधात्)
सत्त्वादि गुणों के अन्त विरोध से (दुःखमेव) दुःख ही
है (विवेक युक्त योगी को) ॥ १५ ॥

सू० का भा०—परिणाम, ताप संस्कार और दुःखों से तथा
गुणों के वृत्तिविरोध होने से जो होता है उस सबको विवेकी
दुःख ही मानते हैं ॥ १५ ॥

व्या० दू० का भा०—सर्वस्यायं रागादुपिदुःखचेतना-
चेतन साधनाधीनः सुखानुभव इति तत्रास्ति रागजः कर्मा-
शयः । तथा च द्वेष्टिदुःखसाधनानि मुच्यन्ते चेति द्वेषमोह-
कृतोप्यस्ति कर्माशयः । तथाचोक्तम्—‘नानुपहस्यभूतान्युप-
भोगः सम्भवतीति हिंसाकृतोऽप्यस्ति शरीरः कर्माशयः
इति । विषयसुखं चाविद्येऽप्युक्तम् । या भोगेऽपिन्द्रियाणां-
वृत्तेरुपशान्तिः तत्सुखम् । या सौख्यादनुपशान्तिस्त्वदुःखम्
न चेन्द्रियाणां योगाम्यासेन वैतृष्य कृतुशक्यम् । कस्मात्
यतो भोगाम्यासमनुविवर्धन्ते रागाः क्लेशास्तानि चेन्द्रिया-
णामिति, तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाम्यास इति । स
सुखस्य इति कविप्रीति इवाऽऽशोषियेत् यतो यः सुखार्थी
विषयानुवासितो महति दुःखपदे निमग्न इति । एषा परि-

णामदुःखतानाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव
क्लिशनाति ।

अथ का तापदुःखता, सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेत-
नसाधनाधीनस्तापानुभव इति तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः ।
सुखसाधानानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च
परिस्पन्दते ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडा-
भ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति । स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च
भवतीत्येषा ताप दुःखतोच्यते । का पुनः संस्कारदुःखता,
सुखानुभवात्सुखसंस्काराशयो दुःखानुभवादपि दुःखसंस्का-
राशय इति । एवङ्कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे दुःखे वा
पुनः कर्माशयप्रचय इति ।

एवमिदमनादिदुःखस्रोतविप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूला-
त्मकत्वादुद्वेजयति कस्मात्, अक्षिपात्रकल्पोहि विद्वानिति ।
यथोर्णा तन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तःस्पर्शेन दुःखयति न चान्येषु
गात्रावयवेषु, एवमेतानि दुःखानि अक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव
क्लिशन्ति नेतरम्प्रतिपत्तारम् । इतरन्तु स्वकर्मोपहतंदुःख-
मुपात्तमुपात्तं त्यजन्तं त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादि वासना-
विचित्रया चित्तवृत्त्या समन्तोऽनुविद्धमिवविद्यया हातव्य
एवाहङ्कारममकारानुपातिनज्जातं जातं बाह्याध्यात्मिको भय-
निमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुप्लवन्ते तदेवमनादिमादुःख-
स्रोतूसा व्युत्थमानमात्मानंभूतग्रामंच दृष्ट्वा योगी सर्वदुःख-

वयङ्कार्यां सम्यग्दर्शनं शरणाप्रपाद्यत इति ।

गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः । प्रत्या-
प्रवृत्तिस्मितिरूपा बुद्धिगुणाः परस्पराद्युग्रहतन्त्री भूत्वा शान्तं
मोहं मूढा वः प्रत्यय त्रिगुणमेवार्मन्ते चतुर्गुणवृत्तमिति
विप्रपरिणामिचित्तमुक्तम् । रूपातिशयाद्यस्यतिशयाच्च पर-
स्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि स्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते ।
एवमेते गुणा इतरेतराभयेष्वोपाजितसुखदुःखमोहप्रत्ययाः
सर्वं सर्वरूपा भवन्तीति, गुणप्रधानमावकृतस्त्वेवं विवेक
इति । तस्मात् दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति ।

तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रमाणमोजयविद्या ।
तस्याश्च सम्यग्दर्शनममात्रहेतुः यथा चिकित्साशास्त्रं चतु-
र्भुजं रोगोरोमहेतुरारोम्यं नैक्ययदिति । एवमिदमपि
शास्त्रञ्चतुर्भुजमेव । तद्यथा संसारः संसारहेतुर्मोहो मोहो-
पाय इति तत्र दुःखवृत्तः संसारो हेयः । प्रधानपुरुषयोः
सयोगो हेयहेतुः । सयोगस्यात्यन्तिको निवृत्तिर्हन्निम् हानो-
पायः सम्यग्दर्शनस्तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयः वा हेयः वा न
मवितुमर्हतीति हाने तस्योष्मेदवादप्रसंग उपदानेन हेतु-
वादः । उभयप्रत्याख्यानं शास्त्रतवाद् इत्येतत्सम्यग्दर्शनम्
॥ १५ ॥ तदेतच्छास्त्रञ्चतुर्भुजमित्यभिधीयते—

अ० का ५०—रुग मे क्षिपटे हृष सप पुरुषो का यतन मोह
अचेतन साधनो के मधीन सुख का अनुमन दम्भा हे । इत्येते चतुर्भुज

शय राग से उत्पन्न होता है । तैसे ही दुःख के साधनों से द्वेष करता है और मोहित होता है, इसलिए द्वेष मोहकृत भी कर्माशय है जैसा कि कहा है प्राणियों को बिना पीड़ा दिये विषयसुख का होना असम्भव है इसलिए हिंसाकृत भी शारीरिक कर्म समूह है विषय सुख को अविद्या कहते हैं ।

जो भोगेन्द्रियों की तृप्ति की शान्ति है वह सुख है जो चञ्चलता से अशान्ति होती है वह दुःख है (भोगाभ्यासेन) भोग के अभ्यास से इन्द्रियों के विषय में विरक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जहाँ भोगाभ्यास है, वहाँ राग और इन्द्रियों की चञ्चलता बढ़ती है इसलिए भोगाभ्यास सुख का साधक नहीं है विच्छू के विष से ढरा हुआ साँप से काटा गया जो सुख की इच्छा करने वाला विषयों में लिप्त होता है वह कीचड़ में फँस जाता है । यह प्रतिकूल परिणामदुःखता सुख की अवस्था में भी योगी ही को दुःख देती है । अब प्रश्न यह है कि तापदुःखता किसे कहते हैं, द्वेष से युक्त सब प्राणियों को चेतन और अचेतन साधनों के द्वारा ताप का अनुभव होता है द्वेष से उत्पन्न हुआ (कर्माशय) कर्म समूह है । सुख के साधनों को चाहने वाला शरीर' वचन और मन से कुछ उद्योग करता है इसके पश्चात् किसी पर अनुग्रह करता है अथवा किसी का उत्पीड़न करता है । इस अनुग्रह और उत्पीड़न से धर्म और अधर्म का संग्रह करता है । यह कर्माशय लोभ और मोह से होता है । यही तापदुःखता कहाती है । फिर संस्कारों की अधिकता इस प्रकार से कर्म द्वारा फल का अनुभव करने पर सुख अथवा दुःख में पुनर्वार कर्म और फल का संग्रह हो जाता है ।

इस प्रकार से यह विस्तृत अनादि दुःखप्रवाह योगी ही को विरुद्ध होने के कारण दुःख देता है । क्योंकि विद्वान् चक्षु के

समान होता है । जैसे मकड़ी का जाला नेत्र के गोष्ठक में लगने से दुःख होता है वैसे शरीरके अम्य भागों में नहीं । इस प्रकारसे सब दुःख अविपात्र के समान योगी ही को दुःख घेते हैं अम्य नियंत्र करने वालों को नहीं अम्य जागों को अपने कर्म से संवय किया दुःख बार २ प्रहण किये हुये को त्यागना और बार २ त्याग हुये को पुनः प्रहण करना रूप अनादि वासना से विव्रित चित्त वृत्ति से चारों ओर से अनुविद्य अहंकार और ममता के पीछे दीर्घम वाले लोगों को तीन ताप सदा घेरे रहते हैं । इस प्रकार से अनादि दुःख के प्रवाह से घरे हुए आत्मा को तथा पञ्चभूत समुदाय को बँधकर योगी सब दुःखों के नाश करने वाले निमित्त सम्यग्दर्शन (परमार्थ ज्ञान) के आश्रय को धारण करते हैं ।

गुण और मनोवृत्तियों के विरोध से विचारशील मनुष्य का सब दुःख ही है बुद्धि के यह तीन गुण हैं एक प्रकृष्य अर्थात् विचार दूसरा प्रवृत्ति अर्थात् तत्परता तीसरा स्थिति अर्थात् मोग वे तीनों गुण आपस में एक दूसरे के सहायक होकर शान्त धार अवस्था मूढ़ तीन प्रकार के ज्ञान आरम्भ करते हैं गुणों का स्वभाव चल है और चित्त विमपरिणामी है, रूप और वृत्तियों एक दूसरे से विरुद्ध हैं सामान्य गुण विशेष गुणों के संग वर्तते हैं इस प्रकार से गुण एक दूसरे के आश्रय से सुख दुःख तथा मोह को उत्पन्न करते हैं सब गुण एक रूप ही जाते हैं गुण की प्रधानता ही इनमें विशेष है इसलिये विव्रा रशील को सब दुःख ही ज्ञान पड़ते हैं ।

इसलिये इस महा दुःखसमूह का उत्पन्न करने वाला बीज अविद्या है और उस अविद्या का परमार्थ ज्ञान ही नाश का कारण है । जैसे आयुर्वेद बार भाग वाला है १ राग २ रोग का कारण, ३ आरोग्य ४ भयत्र अर्थात् राग निवृत्ति क प्रपाय । इस ही प्रकार से यह माहशास्त्र भी बार भाग वाला है जैसे १ संसार, २ संसार

हेतु ३ मोक्ष, ४ मोक्षोपाय । जिसमें दुःख की अधिकता हो वह ससार हेतु है प्रधान प्रकृति और पुरुष आत्मा का संयोग मानना संसार का हेतु है संसार के संयोग की अत्यन्त निवृत्ति होना यथार्थ ज्ञान अथवा सम्यग्विचार ही हीनोपाय है उनमें हेतु का स्वरूप ग्राह्य वा त्याज्य नहीं है यह त्याग से और उनके उच्छेदवाद में और उपादान में हेतु बाद है दोनों के त्याग में शाश्वत् अर्थात् अनादिवाद कहाता है यही यथार्थ ज्ञान कहलाता है ॥ १५ ॥ यह शास्त्र चार भाग वाला कहलाता है ।

भा० का भा०—सुख-दुःख का ज्ञान प्राणिमात्र को राग के द्वारा होता है । कर्मसमूह तीन प्रकार का है । एक रागज दूसरा द्वेषज, तीसरा मोहज, ऐसा ही अन्य श्रुतियों का भी मत है । अर्थात् बिना हिंसा के मोह होना असम्भव है । शारीरिक हिंसा-कृत भी कर्म होते हैं, इसलिए सासारिक भोग को अविद्या कहते हैं सुख का लक्षण यह है कि “जो भोग से इन्द्रियों की तृप्ति शान्ति है उसे सुख कहते हैं” और दुःख कहते हैं” यदि कोई कहे, कि विषय भोग से इन्द्रियों स्वयं थककर शान्त हो जायगी, तो इसका उत्तर यह है, कि भोग के अभ्यास से इन्द्रियों कभी शान्त नहीं हो सकती । क्योंकि अभ्यास से भोग को वृद्धि होती है और इन्द्रियों अपने विषयों में चञ्चल होती जाती हैं । इसलिये सुखप्राप्ति का उपाय भोगाभ्यास नहीं है, और जो ऐसा उपाय करता है उसका वही हाल होता है, जैसे कोई मनुष्य बीछी से डर कर भागा परन्तु उसे सर्प ने काट लिया, ऐसे जो मनुष्य इन्द्रियों की शान्ति के वास्ते विषय भोग करता है उससे वह और भी फँसकर दुःख का भागी होता जाता है ।

यह परिणामदुःखता सुखावस्था में भी योगी को दुःख देती है अब प्रश्न यह है, कि पाप दुःखता किसे कहते हैं ? सब लोगों

को ताप का जो अनुभव होता है चाहे वह चेतन से हो या जड़ से हो, वह ताप द्वेष से ही होता है। इससे सिद्ध होता है कि बहुत से कर्म द्वेष हैं। सुखसाधन प्राप्ति की कामना से जो मनुष्य शरीर, मन और वाक्य से यत्न करता है उस बल में जो उसके सहायक होते हैं, उन पर अटुम्ब करता है और जो विघ्नकारक होते हैं, उनको मारता भी है। तो वह कर्मों सोम और मोह से व्यपन्न होते हैं। इससे मनुष्य धर्म का अधर्म का सम्बन्ध करता है। इसे ही ताप दुःखता कहते हैं। मोग के समय से जो सुख के नाश का भय रहता है उसे तापदुःखता कहा जाता है। अब पुनः प्रश्न है, कि संस्कारदुःखता किसे कहते हैं? ४०—सुख के अनुभव से सुख के संस्कारों की अधिकता होती है और दुःख के अनुभव से दुःख के संस्कारों की और उन संस्कारों से पुनः पुनः मनुष्य दुःख सुख का सम्बन्ध करता है। ऐसे यह अनादि दुःखस्रोत बढ़ता है किन्तु वह स्रोत योगियों को अधिक दुःख देता है जैसे नेत्र में मकड़ी लगने से दुःख होता है ऐसे ही योगियों को वह संस्कार दुःख देते हैं।

जिस प्रकार से आयुर्वेद चतुष्पद कहलाता है, अर्थात् रोग, रोग हेतु, आरोग्य और चिकित्सा ऐसे ही यह योगशास्त्र भी चतुष्पद है अर्थात् संसार संसार हेतु, मोह, मोहोपाय संसार उसे कहते जिसमें दुःख की अधिकता रहती है, योगाभ्यास द्वारा ईश्वर को न बिचारना अर्थात् विषयासक्ति संसार का हेतु २—योगाभ्यास में संसार के बन्धन का काटना मोह है और मोह का उपाय यथार्थज्ञान है।

सू०—योगी की दृष्टि में सब दुःख ही है क्योंकि सुख का भी अन्त होता है और जिस समय अत्यन्त दुःख मोघ होता है। दुःख रूपता २ प्रकार की है एक परिणामदुःखता दूसरी तापदुःखता

और तीसरी संस्कारदुःखता । सुख के अन्तमें दुःख अवश्य होता है, इसका नाम परिणामदुःखता है । सुख के समय में भी अपने समान मनुष्यों से ईर्ष्या नीचोंसे घृणा बनी रहती है तथा जो मनुष्य सुखी के सुख भोग का उपाय करे उससे द्वेष होता है । इत्यादि कारणोंसे सुखीके मनमें एक प्रकार का ताप बना रहता है, इस ही का नाम तापदुःखता है । मनुष्य जिस सुख वा दुःख का भोग करता है उसके हृदय में संस्कार स्थिर हो जाता है । सुख के नाश होजाने के पश्चात् वह संस्कार स्मृति द्वारा महा दुःखदायी होते हैं इसको संस्कार दुःखता कहते हैं । सांसारिक सुखों में सदा सत्व-गुण का ही प्रकाश नहीं रहता है, वरन रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियों का भी प्रादुर्भाव होता रहता है इन गुणों की वृत्ति परस्पर अत्यन्त विरुद्ध है, इस कारण से उनके परिवर्तन में महादुःख होता है । इस ही गुण परिणाम को संस्कार कहते हैं ।

तात्पर्य यह है की दृष्टि में मोक्ष के अतिरिक्त और सब दुःख ही हैं । पिछले सूत्र में क्लेशों के मूल अविद्या का वर्णन किया है और अविद्या सम्यक् ज्ञान की विरोधिनी है अतएव वह अपने साधनों के सहित त्यागने के योग्य है— इस ही का अगले सूत्र में वर्णन करेंगे ॥ १५ ॥

भो० वृ०—विवेकिनः परिज्ञातक्लेशादि विवेकस्य परिदृश्य-मानं सकलमेव भोगसाधनं सविषं स्वादन्नमिव दुःखमेव प्रतिकूल-वेदमायमेवेत्यर्थः । यस्मादत्यन्ताभिजातो योगी दुःखलेशेनाप्युद्विजते । यथान्निपात्रमूर्णारन्तुस्पर्शमात्रेणैव महती पीडामनुभवती नेतरदङ्गं तथा विवेकी स्वल्पदुःखानुबन्धेनापि उद्विजते । कथमित्याह—परिणामतापसंस्कारदुःखैर्विषयाणामुपभुज्यमानानां यथायथगद्धाभिवृद्धेस्तदप्राप्तिकृतस्य दुःखस्याहरिहार्यतया दुःखान्तर-साधनत्वात् चास्त्येव दुःखरूपतेति परिणामदुःखत्वम् उपभुज्यमा-

येषु सुखसाधनेषु तत्प्रतिपत्तिर्न प्रतिद्वेषस्य सर्वदेवावस्थितत्वात्
 सुखाशुभयकालेष्वपि तापदुःखता । संस्कारदुःखान्तु स्वामिमत्तान-
 भिमत्तविषयस्वभिधाने सुखसंयुक्त्वा दुःखसंयुक्तोपजायमानाववि-
 धमेव स्वक्षेत्रे संस्कारमारमते संस्काराश्च पुनस्तथाविध स्वविदु-
 मव इत्यपरिमितसंस्कारो ज्यतिद्वारेण ससारानुच्छेदात् सर्वस्यैव
 दुःखत्वम् । गुणवृत्तिविरोधाच्चेति-गुणानां सत्त्वरजस्तमसां वा
 वृत्त्याः सुखदुःखमोहरूपाः परस्परमभिभाषकत्वेन विरुद्धा तावन्ते
 तासां सर्वत्रैव दुःखानुपेक्षादुःखत्वम् तदुक्तं भवति-येकमिदं कोम्य
 स्यन्तिकीदृशं दुःखमिदं विमिश्रितं विवेकिन उक्तस्मरणवत्तुल्या
 स्वर्गे विषया दुःखरूपतया प्रतिभाति । तस्मात्सर्वकर्मविपाको
 दुःखरूप एव स्पष्टं भवति ॥ १५ ॥ तदेवमुक्तस्यैव शक्यमाय-
 विपाक्योऽविद्याप्रमदस्याविविधयाम् मिथ्याज्ञानरूपतया सम्यग्-
 ज्ञानोच्छेदत्वात् सम्यग्ज्ञानस्य च साधनहेयोपादेयावधारणरूप-
 तात् तदभिमानायमाह-

मो० ब० क्य मा०—विवेकी अर्थात् जिसको ज्ञेशों के पूर्ण
 तब क्य विवेक है उसको सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ और भोग ऐसे दुःख
 बाधक जान पड़ते हैं जैसे बिप से मित्रा हुआ स्वादिष्ट भक्ष भी
 त्याग करने योग्य होता है । ऐसे ही योगी को संस्कार सब विषय
 और मांग दुःखरूप ही जान पड़ते हैं, जिससे विवेक शीघ्र योगी
 दुःख के अत्यन्त सूक्ष्म अंश से भी बचता है । जैसे भाँसों
 के पलकों पर मकड़ी के स्पर्श से अत्यन्त पीड़ा जान पड़ती है जैसे
 दूसरे के अङ्ग में उसका स्पर्श होने से पीड़ा नहीं जान पड़ती है ।
 ऐसे ही अविद्वकी मनुष्यों को अधिक दुःख में भी उड़ेग नहीं
 होता है पर योगी को दुःख के क्षेत्र में भी बड़ा उड़ेग होता है ।
 दुःख वा उड़ेग क्योंकर होता है ? सब सुखों क्य वा दुःखों का
 परिणाम अर्थात् परिणत न होता है । कोई भी सुख सदा स्थिर

नहीं रहता और जब सुख विनष्ट होता है तो उसके वियोग में महादुःख जान पड़ता है इस कारण सुख और दुःख दोनों ही पीडादायक हैं । ताप, संस्कार और दुःखों के कारण जो विषय भोग किये जाते हैं, उनमें लोभ उत्पन्न होता है, पर जब उन विषयों की प्राप्ति नहीं होती तो उससे सुख वा दुःख अवश्य होता है वह दुःख फिर दूसरे दुःख को उत्पन्न करता है इससे विषयों में सुख-रूपता नहीं है । परिणामदुःखता का अर्थ यह है कि जिन विषयों को सुख का साधन समझके ग्रहण किया जाता है उनके ही विरोधी सुख को नाश करने वाले दूसरे विषय होते हैं (अथवा सुख का परिणाम अन्त भी हो जाता है) फिर अपने सुख के विरोधियों का जो सुखभोग के समय ध्यान रहता है उसे ताप दुःखता कहते हैं । संस्कार दुःखता का अभिप्राय यह है, कि वाञ्छित और अनिच्छित विषयों की समीपता में सुख और दुःख ज्ञान उत्पन्न होता है और वैसे ही उनसे संस्कार उत्पन्न होते हैं और संस्कारों से फिर ज्ञान की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार से असंख्य संस्कार जो उत्पन्न होते हैं वह सब दुःखों से पूरित रहते हैं इस कारण सब दुःख स्वरूप ही हैं । क्लेश, कर्म, कर्मफल और संस्कार सबही दुःखमय होते हैं । गुणवृत्ति विरोध का अर्थ यह है कि सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की जो सुख, दुःख और मोहरूपी वृत्ति हैं वह एक दूसरे को जीतने वाली होती हैं अर्थात् जब तमोगुण की मोहरूपी वृत्ति सत्त्वगुण और रजोगुण की वृत्तियों को दबाकर आप प्रकाशित होती है, तब मनुष्य के सुख को नाश कर देती है । ऐसे ही और वृत्तियों की भी दशा है इस कारण वह सब वृत्तियाँ दुःख रूप हैं' तात्पर्य यह है कि योगी सब वृत्तियों में परिणाम दुःखता, तापदुःखता और संस्कार दुःखता एवम् वृत्तिविरोध को देखकर संमस्त सांसारिक सुखों को भी

दुःख ही समझते हैं और आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति की इच्छा से सबको त्यागने का उपाय करते हैं ॥ १५ ॥

इस प्रकार से सिद्ध हुआ कि क्लेश कर्म और कर्म फलों का धरण अधिष्ठा और मिथ्याज्ञान का अधिष्ठा करते हैं वह सम्यक् ज्ञान से मनु हो जाती है सम्यक् ज्ञान से प्रहय करने और त्यागने योग्य पदार्थों का ज्ञान होता है वही भागे कहते हैं:—

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

सू० का पदा०—(हेयम्) त्यागने योग्य (दुःखम्) दुःख (अनागतम्) अप्राप्त ॥ १६ ॥

सू० का भा०—अप्राप्त दुःख त्यागने योग्य है ॥ १६ ॥

व्या० वे० का भा०—दुःखमतीतमुपभोगेनाविवाहितं न हेयपक्षे वर्तते वर्तमानञ्च स्वपक्षे भोगारब्धमिति न तद्व्यस्यन्तते हेयतामापद्यते । तस्मादपेक्षानामर्तं दुःखं तदेवापि पात्रकर्म्यं योमिनं छिन्नाति नेतर प्रतिपत्तारम् । तदेव हेयतामापद्यते ॥ १६ ॥ तस्मादपेक्ष हेयमित्युच्यते तस्यैव कारसंप्रतिनिर्दिश्यते ।

भा० का पदा०—अतीत गुजरा हुआ दुःख भाग से चिठाया गया है वह त्याग करने योग्य नहीं है । तथा वर्तमान अपन क्षण में भोगारब्ध है वह अन्य क्षण में त्याग योग्यता का नहीं प्राप्त होता है इसलिये जो अप्राप्त दुःख है वह ही भाग की अन्धेरी के समान योगी को क्लेशदाता है और प्रवृत्ति बाध का नहीं वह त्याग्यमात्र का प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ इसलिये वही त्याग्य कहा जाता है उस ही कारस के प्रति निर्देश किया जाता है ।

भा० का भावा०—जो दुःख व्यतीत हो चुका है अर्थात् पूर्व का है उसका फल भोगा जा चुका है वह त्यागने योग्य नहीं है और जो वर्तमान है सो स्वक्षण अर्थात् इस ही समय भोग में स्थित है वह क्षणान्तर में त्याग्य नहीं होगा । इसलिए जो दुःख अप्राप्त है वह ही अन्धेरी के समान योगी को दुःख देता है दूसरे पुरुषों को वह त्यागने योग्य है । इस ही से उसे त्याग्य कहते हैं । उसे ही का कारण दिखलाया जाता है ॥ १६ ॥

१६ सू०—बीते हुये दुःख त्यागने योग्य नहीं है क्योंकि उनका भोग हो चुका है और वर्तमान दुःख भी त्यागने योग्य नहीं है, क्योंकि उनका प्रताप प्रबल हो रहा है । यद्वा वर्तमान का कुछ भाग व्यतीत में और कुछ भाग भविष्यत् में संयुक्त हो जाता है । अतएव वर्तमान दुःख हेय कोटि में नहीं आ सकते हैं, किंतु भविष्यत् दुःख ही त्यागने योग्य हैं ॥ १६ ॥

भो० वृ०—भूतस्यातिक्रान्तत्वादनुभूयमानस्य च त्यक्तुमशक्यत्वादनागतमेव संसारदुःखं हातव्यमित्युक्तं भवति ॥ १६ ॥ हेयहेतुमाह ।

भो० वृ० का भा०—भूत अर्थात् गत समय का दुःख निवृत्त हो गया जिसको भोग रहे हैं उसका भी त्यागना असम्भव है, इस कारण भविष्य संसार दुःख ही त्यागने योग्य है ॥ १६ ॥ आगे हेयहेतु का वर्णन करते हैं ।

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

सू० का पदा० [द्रष्टृदृश्ययोः] द्रष्टा—देखने वाला और दृश्य दर्शनीय पदार्थ का संयोग त्यागने योग्य दुःख का मूल है ॥ १७ ॥

सू० अ० भाषा०—देवनेषां पुरुष और जिस वस्तु को देखे
अर्थात् दृश्य संसार इनका जो संयोग है वह त्याग्य अ० मूल है ॥१७॥

व्या० दे० अ० भा०—द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः
दृश्या बुद्धिसत्त्वोपाकृताः सर्वे धर्माः तदेतद्दृश्यमयस्कान्त-
मधिकृत्य सन्निधिमात्रोपकारिदृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य
इधिरूपस्य स्वामिनः अनुभवकर्मविषयतामापन्न यतः ।
अन्य स्वरूपेण प्रतिलम्भारमक स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात्पर
तन्त्रम् ।

तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थक्यतः संयोगो हेतुहेतुर्दुः-
खस्य कारणमित्यर्थः तथाचोक्तम्—तत्संयोगहेतुविषयना-
त्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः । कस्मात्—दुःखहेताः
परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात् । तथा—पादतलस्य मेघता-
कण्टकस्य मेघतुल्यं परिहारः कण्टकस्य पादानधिष्ठान पाद-
प्राणव्यवहितेन बाधिष्ठानम् । एतच्च यो वेदलोके स तत्र
प्रतिकारमारम्भायो मेदन् दुःखं नाप्नोति । कस्मात् त्रित्वो-
पलम्बिसामर्थ्यादिति । अत्रापि तापकस्य रक्षसः सुखमेव
तप्यम् कस्मात् तपिक्रियायाः कर्मस्यत्वात्, सुखे कर्मणि
तपिक्रियानापरिणामिति निष्क्रमे क्षेत्रज्ञे दर्शितविषयात् ।
सत्वेतु तप्यमाने तदाकारानुरोधी पुरुषोऽप्यनुवप्यत इति
॥१७॥ इत्यस्वरूपमुच्यते ।

अ० अ० प०—बुद्धि से जाननेवाला पुरुष द्रष्टा अज्ञात है, बुद्धि

में स्थित सब धर्म दृश्य कहलाते हैं । ये दृश्य स्फटिकमणिके समान समीपस्थमात्र के उपकरण दृश्यभाव से दर्शन के स्वामी पुरुष के स्वभाव में परिणत होकर अनुभवविषयता को प्राप्त होते हैं । और स्वरूप से प्राप्त होने वाले स्वतन्त्र भी परार्थता से परतन्त्र कहलाते हैं ।

[तयोः] उन दोनों द्रष्टा और दृश्य शक्ति का अनादि जो अर्थकृत संयोग है वह हेयहेतु अर्थात् दुःख का कारण है ऐसा अन्यत्र भी कहा है, उसके संयोगरहित होने से अत्यन्त दुःख का प्रतिकार होता है क्योंकि नाश करने योग्य दुःख हेतु का [परिहार्यस्यप्रतीकार] देखने से जैसे [पादतलस्य] पैर का तलुआ भेद्य और काटा भेदक है । इसके परिहार के दो ही उपाय हैं या तो पैर काटे में रक्खा ही न जावे और यदि रक्खा जाय तो पादत्राण (जूता) पहनकर, इन तीनों को अर्थात् भेद्य, भेदक और परिहार अथवा हेय, हेतु और प्रतिकार को जो जानता है संसार में वह उनके नाशक उपाय का आरम्भ करता हुआ भेदोत्पन्न दुःख को नहीं प्राप्त होता है त्रित्व ज्ञान के सामर्थ्य से योग में भी तापकरजोगुण का सत्व ही तप है क्योंकि तपिक्रिया के कर्मस्त होने से क्योंकि सत्व कर्म में ही तपिक्रिया रहती है, न कि अपरिणामी निष्क्रिय क्षेत्रज्ञ में, सत्व के तपित होने से उसके अदृश्य का अनुसरण करने वाला जीव तापित होता है ॥ १७ ॥ अब दृश्य का स्वरूप कहते हैं ।

भा० का भा०—बुद्धि के साक्षी जीव को द्रष्टा कहते हैं । तथा बुद्धिस्थ समस्त कर्मों को दृश्य कहते हैं, वही दृश्य स्फटिक के समान पार्श्वस्थ मात्र का उपकारी दृश्य होने के कारण होता है । पुरुष अर्थात् जीव को अपने विषय में अनुभव विषयता को प्राप्त होने से स्वरूपान्तर होने योग्य स्वतन्त्रता भी, परार्थ होने से पर-

तन्त्रता के समान हो जाती है, उन दृक् और द्रष्टा की शक्ति का जो अनादि अर्थकृत सम्बन्ध है' सो दुःख का कारण है। ऐसा ही अम्यत्र भी त्रिका है अर्थात् संयोग अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध जोड़ने से बहुत दुःख पुर होता है' सो दुःख के परिहार अर्थात् त्याग का हेतु है अर्थात् प्रतीकार दीखता है। दृष्टान्त है कि चरण का तस्य मेघ अर्थात् छेदन योग्य और कण्टक मेघक अर्थात् छेदन करने वाला होता है जिसका परिहार कण्टक का चरण में न रहना है अथवा पापत्राय जूता से रक्षित चरण का अभिप्राय है। इन तीनों को आ जानता है वह रखा पाता है ऐसे ही दृक्, दृश्य और प्रतीकार को जो संसार में मानता है, वह दुःख नाश में उपाय करता हुआ भेदोत्पन्न दुःख को नहीं प्राप्त होता है : फलितार्थ यह है कि जो पुरुष द्रष्टा दृश्य और अन्त संयोग को जानता है वही इस दुःख के हेतु को त्याग कर मुक्त होता है ॥ १७ ॥

भो० ५०—द्रष्टा चिद्रूपः पुरुषः दृश्यं बुद्धिसत्त्वं तयोरेकिवेकस्या-
तिपूर्वको याऽसौ संयोगो भोक्तृभोक्तृत्वेन सन्निधानं द्वेषस्य दुःख
य गुणपरिणामरूपस्य संसारस्य हेतुः कारणं तन्निवृत्त्या संसार
निवृत्तिमवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥ द्रष्टृदृश्ययोः संयोग इत्युक्तं तत्र
दृश्यस्य स्वरूपं कार्यप्रयोजनम्—

भो० ५० का भा०—द्रष्टा चैतन्य स्वरूप पुरुष है दृश्य बुद्धि
सत्त्व है, उन दोनों का जो अविवेक वा अविचार से संयोग अर्थात्
पकता का अहंकार है अर्थात् मांय और मोक्ष की जो समीपता
है वही द्वेष अर्थात् संसार रूप दुःख का हेतु है। उसकी निवृत्ति
दुःख की निवृत्ति होती है ॥ १७ ॥ द्रष्टा का स्वरूप पिछले सूत्र में
कहा था उस कारण अगले पत्र में दृश्य का स्वरूप, कार्य और
प्रयोजन कहा जायगा—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगाप-
वर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

सू० का पदार्थ—(प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्)

प्रकाश सत्वगुण, क्रिया रजोगुण और स्थिति तमोगुणसे
युक्त (भूतेन्द्रियात्मकम्) पञ्चभूत और पञ्च इन्द्रियात्मक
(भोगापवर्गार्थम्) भोग और मोक्षार्थ (दृश्यम्) दृश्य
कहाता है ॥ १८ ॥

सू० का भा०—सत्व, रज और तम, गुणों से युक्त भूतात्मक
और इन्द्रियात्मक तथा भोग मोक्ष का हेतु जो है उसे दृश्य कहते
हैं ॥ १८ ॥

व्या० दे० का भा०—प्रकाशशीलं सत्वम् । क्रिया-
शीलं रजः स्थितिशीलं तम इति । एते गुणाः परस्परोपर-
क्तप्रविभागाः परिणामिनः संयोगवियोगधर्माण इतरेत-
रोपाश्रयेणोपाजितमूर्तयः परस्परान्गान्गित्वेऽप्यसम्भिन्नशक्ति-
प्रविभागास्तुल्यजातीयार तुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः
प्रधानवेलायामुपदर्शितसन्निधाना गुणन्वेऽपि च व्यापार-
मात्रेण प्रधानान्तर्नीतानुगितास्तिताः पुरुषार्थकर्तव्यतया
प्रयुक्तसामर्थ्यातिःसन्निधिमात्रोपकारिणोऽयस्कान्तमणिक-
ल्पाः प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य वृत्तिमनुवर्तमानाः प्रधानश-
ब्दवाच्या भवन्ति एतद्दृश्यमित्युच्यते । तदेतद्भूतेन्द्रिया-
त्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते तथे-

सन्त्राता के समान हो जाती है, उन एक और द्रष्टा की शक्ति को जो बनादि अर्थात् सम्बन्ध है' सो दुःख का कारण है। ऐसा ही अभ्यन्त्र भी लिखा है उनका संयोग अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध छोड़ने से बहुत दुःख दूर होता है' जो दुःख के परिहार अर्थात् त्याग का हेतु है उनका प्रतीकार दीखता है। दृष्टान्त है कि चरण का छत्रया भेष अर्थात् छेदन योग्य और कण्टक भेष अर्थात् छेदन करने वाला होता है जिसका परिहार कण्टक का चरण में न रहना है अथवा पादत्राण सूता से रक्षित चरण का अभिप्राय है। इन तीनों को जो जानता है वह रक्षा पाता है ऐसे ही एक दृश्य और प्रतीकरण को जो संसार में जानता है, वह दुःख नाश में व्याप करता हुआ भेदात्मक दुःख को नहीं प्राप्त होता है : फलितार्थ यह है कि जो पुरुष द्रष्टा दृश्य और उनके संयोग को जानता है वही इस दुःख के हेतु का त्याग कर मुक्त होता है ॥ १७ ॥

मो० १०—द्रष्टा विरूपः पुरुषः दृश्यं बुद्धिसत्त्वं तयोरभिबेदकस्या-
विपूर्वको योऽसौ संयोगो भोग्यभोक्तृत्वेन सभिधामं देयस्य दुःख
य गुणपरिणामरूपस्य संसारस्य हेतुः कारणं तन्मिदृस्या संसार
मिदृष्टिमवधीत्यर्थः ॥ १७ ॥ द्रष्टुर्दृश्ययोः संयोग इत्युक्तं तत्र
दृश्यस्य स्वरूपं कार्प्यम्योजनञ्चाह—

मो० १० का भा०—द्रष्टा चैतन्य स्वरूप पुरुष है दृश्य बुद्धि
सत्त्व है, उन दोनों का जो अभिबेद या अविचार से संयोग अर्थात्
पकता का अहंकार है अर्थात् भोग्य और भोक्ता की जो समीपता
है वही देय अर्थात् संसार रूप दुःख का हेतु है। उसकी निवृत्ति
दुःख की निवृत्ति होती है ॥ १७ ॥ द्रष्टा का स्वरूप पिब्रस सूत्र में
कहा या इस कारण अगले सूत्र में दृश्य का स्वरूप, कार्प्य और
अमोहन कहा जायगा—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगाप-
वर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

सू० का पदार्थ—(प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्)
प्रकाश सत्त्वगुण, क्रिया रजोगुण और स्थिति तमोगुणसे
युक्त (भूतेन्द्रियात्मकम्) पञ्चभूत और पञ्च इन्द्रियात्मक
(भोगापवर्गार्थम्) भोग और मोक्षार्थ (दृश्यम्) दृश्य
कहाता है ॥ १८ ॥

सू० का भा०—सत्त्व, रज और तम, गुणों से युक्त भूतात्मक
और-इन्द्रियात्मक तथा भोग मोक्ष का हेतु जो है उसे दृश्य कहते
हैं ॥ १८ ॥

व्या० दे० का भा०—प्रकाशशीलं सत्त्वम् । क्रिया-
शीलं रजः स्थितिशीलं तम इति । एते गुणाः परस्परोपर-
क्तप्रविभागाः परिणामिनः संयोगवियोगधर्माण इतरेत-
रोपाश्रयेणोपाजितमूर्तयः परस्परांगांगित्वेऽप्यसम्भिन्नशक्ति-
प्रविभागास्तुल्यजातीयार तुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः
प्रधानवेलायामुपदर्शितसन्निधाना गुणन्वेऽपि च व्यापार-
मात्रेण प्रधानान्तर्नीतानुगितास्तिताः पुरुषार्थकर्तव्यतया
प्रयुक्तसामर्थ्यात्सन्निधिमात्रोपकारिणोऽयस्कान्तमणिक-
ल्पाः प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य वृत्तिमनुवर्तमानाः प्रधानश-
ब्दवाच्या भवन्ति एतद्दृश्यमित्युच्यते । तदेतद्भूतेन्द्रिया-
त्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते तथे-

न्द्रियभावेन भोगादिना सूक्ष्मस्पृशेन परिच्यमत इति । तच्च
नाप्रयोजनमपि तु प्रयोजनसुररोक्तस्य प्रवर्तत इति भोगाप-
वर्गाय हि तदुद्देश्यं पुरुषस्येति । तत्रेष्टानिष्टागुणस्वरूपाव-
धारणमविभागान्नं भोगो भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्ग-
इति । द्वयोरतिरिक्तमन्यदर्शनं नास्ति तथाचोक्तम्—अयन्तु
सुखं त्रिषु गुणेषु कर्तृत्वकर्तरि च पुरुषे तस्यातुस्यत्वातीये
चतुर्थे तस्मिन्नासाद्यप्युपनीयमानान् सर्वभावातुपपन्नान्
तुपश्यन्नदर्शनमन्यच्छब्दत इति ।

साक्षेत्तौ भोगापवर्गे बुद्धिकृतौ बुद्धावेव प्रवर्तमाने कर्ष-
पुरुषेऽपदिश्येते इति । यथा विषयः पराजयो वा योद्धेऽ-
वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते स हि तस्य फलस्य भोक्तेति
एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्यते स हि
तत्फलस्य भोक्तेति । बुद्धेरेव पुरुषार्थपरिसमाप्तिर्षष्ठस्तदर्थ-
वसायो मोक्ष इति । एतेक प्रहयधारणोद्वापोद्भवस्वप्नानामि-
निवेशबुद्धौ वर्तमानापुरुषेऽप्यारोपितसबुभावा स हि तत्फल-
स्योपभोक्तेति ॥ १८ ॥ दृश्यानां गुणानां स्वरूपमेवावधा-
रणार्थमिदमारम्यते ॥

भा का पदा०—(प्रकशशीलम् सत्त्वम्) सत्त्वगुण प्रकश-
स्वभाव वाक्ता है, रजोगुण का स्वभाव क्रियाकारित्व है, तमोगुण
का स्वभाव स्थितिशील है ये सब गुण एक दूसरे के आसपीमूत
और भिन्न ० हैं तथा अवस्थाम्भर को धारण करने वाले हैं एवं

संयोग, वियोग धर्म वाले हैं । एक दूसरे की सहायता से रूप को धारण करने वाले हैं । परस्पर अगांगिभाव में भी जिनकी शक्ति और विभाग दूर नहीं होते, तुल्य जातीय और अतुल्य जातीय शक्ति को धारण करने वाले प्रधान वेला अर्थात् समाधि समय में अपनी समीपता दिखलाते हैं और गुण भाव होने पर भी व्यापार मात्र से प्रधान के अन्तर्भूत इनकी विद्यमानता अनुमान की जाती है । प्रयुक्त सामर्थ्य होकर सन्निधि मात्र से दूसरे का अनुकरण करने वाले स्फटिक मणि के समान निश्चय वा ज्ञान के बिना किसी एक की वृत्ति के अनुसार चलनेवाले प्रधान शब्द वाच्य कहलाते हैं इन्हीं गुणों को दृश्य कहते हैं ।

सो यह भूतेन्द्रियात्मक तत्त्व पृथिवी आदि पञ्चभूतों के तथा श्रोत्रादि पञ्चेन्द्रियों के सूक्ष्म, स्थूल भेदों से परिणाम को प्राप्त होता है और वह (नाप्रयोजनम्) निष्प्रयोजन नहीं है वरन प्रयोजन को हृदय में धारण करके भोग और मोक्ष के वास्ते प्रवृत्त होते हैं । वह दृश्य पुरुष का है उनमें से इष्ट अर्थात् इच्छानुकूल अनिष्ट प्रतिकूल गुणों के स्वरूप को बिना विभाग के अवधारण करना भोग कहा जाता है । भोग करनेवाले भोक्ता के स्वरूप के निश्चय हो जाने को मोक्ष कहते हैं । भोग और भोक्ता से भिन्न और दर्शन कुछ नहीं है ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है यह तो तुल्य और अतुल्य जाति वाले जगत् के कार्यकर्ता तीनों गुणों में और अकर्ता पुरुष में चौथे उनके क्रिया साक्षी में आरोपित किए हुये अप्राप्त सब भावों का अज्ञान से बिना जाने अन्यथा शंका करना है ।

ये दोनों भोग और मोक्ष बुद्धिकृत हैं और बुद्धि में ही रहते हैं फिर इसको पुरुषों में क्यों आरोपित किया जाता है ? जैसे जय अथवा पराजय योद्धाओं में रहता है परन्तु राजा में आरोपित किया जाता है क्योंकि वह स्वामी जय वा पराजय के फल का

माध्य है। इस ही प्रकार से बन्ध और मोक्ष बुद्धि में रहते हैं परन्तु पुरुष में आरोपित होते हैं वही उनके फल का माध्य है बुद्धि का ही पुरुषार्थ समाप्त न होना बन्ध है और बुद्धि का परिणाम की समाप्ति का माध्य कहते हैं इससे सिद्ध हुआ प्रमाण चारण तक और समाधान, तन्मयों का ज्ञान और अभिनिवेश बुद्धि में रहते हैं परन्तु पुरुष में अप्यारोपित होते हैं क्योंकि वही उनके फल का माध्य है ॥ १८ ॥

भा० का भा०—सत्त्वगुण प्रकारा स्वभाव वाला है, रजोगुण क्रिया स्वभाव वाला है, और तमोगुण ज्ञानस्य स्वभाव बुद्ध है वह सब एकाकी नहीं रहत किन्तु एक दूसरे के आश्रय से रहते हैं। जब एक प्रधान होता है तब अन्य उसमें लप हो जाते हैं किन्तु अनुमान से दूसरों की विद्यमानता जानी जाती है यद्यपि सब कार्य गुणों के आश्रय से होते हैं और वह गुण बुद्धि में रहते हैं तथापि उन बन्ध और मोक्ष के फल को भागन वाला जीव है इसलिये जीव को ही कार्यकर्ता कहा जाता है। जैसे जब और परलक्ष्य पाछाओं में रहती है तथापि राजा में आरोपित होती है क्योंकि वही उनके फल का भोगने वाला है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिसमें बुद्धि के पुरुषार्थ की समाप्ति न हो वह बन्ध है और जिसमें बुद्धि के पुरुषार्थ का अन्त हो जाय वह मोक्ष है ॥ १८

१८ सू०—प्रधान सत्त्वगुण का धर्म है क्रिया अर्थात् प्रवृत्ति रजोगुण का और स्थिति तमोगुण का स्वभाव है ॥

भा० १८—प्रकारास्तत्त्वस्य धर्मः क्रिया प्रवृत्तिरूपं रजसः स्थिति-नियमरूपा तमसः तादृशक्रियास्थितयः शील स्वभाविकं रूपं तत्तथाविधमिति स्वरूपमस्य निदिष्टम्। मूढेन्द्रियात्मकमिति। मूढानि स्पृष्टसूक्ष्ममेवेन विविषामि वृद्धिभ्यादीनि गन्धतन्मात्रादीनि च। इन्द्रियाणि वृद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियास्तःकरणमेवेन विवि-

धानि । उभयमेतद्ब्राह्म-ग्रहणरूपमात्मा सरूपमात्मा सरूपाभिन्नः
परिणामो यस्य तत्तथाविधेत्यनेनास्य कार्यमुक्तम् । भोगः कथित
लक्षणोऽपवर्गो विवेकख्यातातिपूर्विका संसारनिवृत्तिः तौ भोगाप-
वर्गो अर्थःप्रयोजनं यस्य तत्तथाविधं दृश्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

तस्य दृश्यस्य नानावस्था रूपपरिणामात्मकस्य हेयत्वेन ज्ञात-
व्यत्वात् तदवस्थाः कथयितुमाह ।

भो० बृ० का भा०—सत्त्व अर्थात् सतोगुण का धर्म प्रकाश
है, रजोगुण का धर्म क्रिया और प्रवृत्ति है और तमोगुण का धर्म
नियम रूप स्थिति है । वह प्रकाश, क्रिया और स्थिति हैं
स्वभाव जिसके वह प्रकाश क्रिया स्थितशील दृश्य कहाता है ।
भूतेन्द्रियात्मकम् का अर्थ यह है कि सूक्ष्म और स्थूल भेदवाले
पृथिवी आदि भूत दो प्रकार के हैं और उनकी तन्मात्राओं के भी
दो भेद हैं, इन्द्रियों के तीन भेद हैं । ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय और
अन्तःकरण । यह सब ब्राह्म और ग्रहण रूप में आत्मा जीव से
भिन्न नहीं है, इस कथन से दृश्य के कार्य का वर्णन सिद्ध हुआ ।
भोग का लक्षण प्रथम कह चुके हैं, अपवर्ग का अर्थ वा लक्षण
यह है कि विवेक ख्याति पूर्वक संसार की निवृत्ति भोग और
अपवर्ग है प्रयोजन जिसका उसे दृश्य कहते हैं ॥ १८ ॥ वह दृश्य
अनेक रूपों में बदला करता है इस कारण हेय अर्थात् त्यागने
योग्य है और इस ही कारण से उसका जानना आवश्यक है अत-
एव उसकी विशेष अवस्थाओं का वर्णन करते हैं ।

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९

सू० का प०—(विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि)
विशेष, अविशेष, लिङ्ग और अलिङ्ग (गुणपर्वाणि) गुण
की अवस्था हैं ॥ १९ ॥

सू० का मा०—गुणों की चार व्यवस्था हैं । १ विशेषावस्था, २ अविवेकावस्था, ३ लिङ्गावस्था और ४ अवलिङ्गावस्था ॥१६॥

तत्राकाशवाय्वम्बुदकभूमयो मूतानि शब्दस्पर्शरूपरस
गन्ध तन्मात्राणामविवेकायां विवेकाः तथा भोप्रत्वक्चक्षु
मिह्राघ्राणानि पुद्गीन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाः
कर्मेन्द्रियाणि एकादशमन सबाधस् इत्येतान्यस्मितसु
क्ष्मावस्थाविवेकस्य विवेकगुणानामप बोद्धव्यं को विवेक परि
चामः । पञ्च विवेकाः । तद्यथा—शब्दतन्मात्र रूपतन्मात्र
रसतन्मात्र गन्धतन्मात्र चेत्येकद्वित्रिचतुःपञ्चसुषयाः । शब्दा
दयः पञ्च विवेकाः, पञ्चमास्मितामात्र इति । एते सत्तामात्र-
स्यात्मनो महत् पञ्चविवेकपरिचामाः । यत्तत्परमविवेकेभ्यो
लिङ्गमात्रं महत्तत् तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्स्यात्मन्यवस्थाप
विबुद्धिकाष्ठामनुभवन्ति । अतिसूक्ष्ममानाश्च तस्मिन्नेव
सत्तामात्रे महत्स्यात्मन्यवस्थाप यत्तन्निः सत्तासत्त निःसद-
सन्तिरसदभ्यक्तमलिङ्ग प्रधानन्तत्प्रतियन्तीति एव तेषां
लिङ्गमात्रं परिचामोनिः सत्तासत्तञ्चालिङ्गपरिचाम इति ।
अलिङ्गावस्थाया न पुरुषार्थो हेतुना लिङ्गावस्थायामादौ
पुरुषार्थता कारणं भवतीति । न तस्याः पुरुषार्थता कारणं
भवतीति । नासौ पुरुषार्थ इति नित्याख्यायते श्रयाणां
स्ववस्थाविवेकाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति स चार्थो
हेतुनिमित्तकारणं भवतीत्यनित्याख्यायते गुणास्तु सर्वे धमाः

क्षुयायिनो न प्रत्यस्तमयन्ते नोपजायन्ते व्यक्तिभिरेवाती-
त्तानागतव्ययागमवतीनिर्गुणान्वयिनीभिरुपजनापाय धा-
म्विका इव प्रत्यवभासन्ते यथादेवदत्तो दरिद्राति कस्मात्
यतोऽस्यम्रियन्ते गवामेव मरणात्तस्य दरिद्राणां न स्वरूप-
हानादितिसमः समाधिः ।

लिंगमात्रमलिंगस्य प्रत्यासन्नंतत्र तत्संसृष्टंविच्यते
क्रमानतिवृत्तेः तथा षड् विशेषलिंगमात्रे संश्रुष्टा विविच्यन्ते
परिणामक्रमनियमात् तथातेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संश्रु-
ष्टानि विविच्यन्ते तथाचोक्तम् पुरस्तात् विशेषेभ्यः परन्त-
त्वान्तरमस्तीति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामःतेषां
तु धम्मेलक्षणावस्थापरिणामव्याख्यायिष्यन्ते ॥ १६ ॥
व्याख्यातं दृश्यमथद्रष्टुः स्वरूपावधारणार्थमिदमारम्यते ।

भा० का प०—उनमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी
यह स्थूल पञ्चभूत शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध जो पञ्चभूतों की
सामान्य तन्मात्रा हैं उनके विशेष श्रवण, त्वचा नेत्र जिह्वा, नासिका
ज्ञानेन्द्रियाँ, वचन, हाथ, चरण, गुदा और लिंग यह पाँच कर्मे-
न्द्रियाँ और ११ वाँ मन यह सब अस्मिता के सामान्य लक्षण हैं ।
सत्त्वादि विशेष गुणों की उक्त १६ विशेष अवस्था हैं अविशेष
६ अवस्था हैं जैसे शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूपतन्मात्र, रस-
तन्मात्र और गन्धतन्मात्र इस प्रकार से एक, दो, तीन, चार और
पाँच लक्षण हैं । जिनके शब्दादिक पाँच अविशेष अवस्था हैं और
छठी अवस्था विद्यमानता मात्र है । यह छै सत्तामात्र आत्मा की
अविशेषावस्था है जो परम अविशेष है उस महत्तत्त्व में उक्तगुण

के सत्तामात्र आत्मा में स्थिर होकर बड़ी हुई अवस्था को प्राप्त होते हैं और जब इनका पुनः लय होता है तब उस ही सत्तामात्र आत्मा में स्थिर होकर निःसृत सर्व अर्थात् अदृश्य के समान जिस को उस और अस्तु कुछ भी नहीं कह सकते हैं । इस कारण से गुणों की यह अवस्था अक्षिगावस्था वा प्रधान अवस्था कहलाती है । इनका परित्यामक्षिगावस्था है । लय होना अक्षिगावस्था है । अक्षिगावस्था में पुरुषार्थता कारण नहीं होती है इसलिये यह नित्य कहा जाता है । पहली तीन अवस्थाओं में अर्थात् विक्षेप, अधिविक्षेप और क्षिण अवस्थाओं में आवि में पुरुषार्थता कारण होती है । यह अर्थ हस्त के निमित्त कारण होता है अतः अनित्य कहा जाता है । सब धर्मों में जानेवाले न कहीं अस्त होते हैं और न उत्पन्न होते हैं । अतीत, अनागत व्यय और आगमवासी तथा गुणविपातिनी व्यक्तियोंसे विनाश उत्पत्ति धर्मक से माह्म पवन में जैसे देवदत्त वरिष्ठ हैं, क्यों ? इसलिये कि इसकी गायें मरती हैं इसके आश्रय रहती हुई गायों के मरने से उसका वरिष्ठता है न कि स्वरूप दानिसे ।

क्षिणमात्र अक्षिण के समीप होता है इसलिये क्रमानुस्तर (संसृष्ट) मिलद्वय का ही विचार किया जाता है । निशाम है अविशेष क्षिणमात्र न संसृष्ट ही विचारणीय है । परित्यामक्रम के नियम से तथा उन अधिविक्षेपों में मृतश्रिय मिली हुई कही जाती है पद्म ही ऊपर कहा गया है । विक्षेपों से सूक्ष्म और कोई तरङ्गान्तर नहीं है । अतएव विक्षेपों का तरङ्गान्तर परिशाम नहीं है । उनके आगे धम्मलक्षण और अवस्था परिशाम की व्याख्या की जायगी ॥ १९ ॥ दृश्य का पर्यन्त हाथुका अव द्रष्टा के स्वरूप के अवधारणार्थ यह आरम्भ किया जाता है ।

भा० का भा०—जन्म वायु अग्नि, जल, आकाश और भूमि

ये पाँच भूत हैं । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द इन अविशेष तन्मात्राओंके अर्थात् रूपरहितों के पञ्चभूत विशेष हैं और पञ्च तन्मात्रा विशेष हैं, तथा कान, नाक, त्वचा, आँख और जिह्वा ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं । वाक्, हाथ, पैर, गुदा, लिंग ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं ये दस और ग्यारहवाँ मन उभयात्मक हैं । ये सब अविशेष अस्मिता लक्षण के विशेष यही गुणों के सोलह विशेष परिणाम हैं ।

छै अविशेष हैं वे ये हैं—शब्दतन्मात्र, रूपतन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, गन्धतन्मात्र, रसतन्मात्र, ये पाँचों क्रम से १। २। ३। ४। ५। लक्षणयुक्त पाँच अविशेष हैं और छठा अविशेष अस्मिता है, ये सत्तामात्र महान् आत्मा के छै अविशेष अर्थात् रूपरहित परिणाम हैं जो इन सब से उत्कृष्ट अविशेष सो भी परलिंगमात्र महत्तत्त्व है उस ही महत्तत्त्व सत्त्वमात्र महान् आत्मा के आश्रय से बढ़ते हैं और लय होने के समय प्रकाशित हुए उसही से सदसदात्मक प्रतीत होते हैं । ये उनका लिंगमात्र ही परिणाम है और निस्सत्ता-सत्त लिंगरहित का परिणाम है ।

लिंगरहित अवस्था को पुरुषार्थ हेतुता नहीं है और न लिंगरहित अवस्था में प्रथम पुरुषार्थ कारण है और न वह अवस्था पुरुषार्थ से हुई है इसीलिए वह नित्य है, तीनों अवस्थाओं का प्रथम पुरुषार्थता कारण है, वह अर्थ निमित्त कारण होता है इस लिए अवस्था अनित्या कही जाती है । सब गुण धर्मानुयायी होते हैं । न अस्त होते हैं न उत्पन्न होते हैं । अतीत, अनागत, लाभ और न्यययुक्त गुणाभिपातिनी यह अवस्था व्यक्तियों से उत्पत्ति और नाश धर्मक ऐसे मालूम होते हैं, जैसे 'देवदत्त' 'दरिद्र' है । क्यों ? उसकी गायें मरती हैं तो गायों के मरने ही से उसकी दरिद्रता है कि स्वरूप हानिसे ।

लिंगमात्र लिंगरहित के समीपस्थ होता है । इसी प्रकार से

अविशेषों का सिंगमात्र के समीपस्थ होनेसे विशक होता है। क्रम से, ऐसे ही भूतेन्द्रियों का भी ऊर्ही अविशेषों में मिलित विशक होता है वैसे ही अम्यत्र भी कहा है। विशेषों से सूक्ष्म तरबाम्तर नहीं है अतः विशेषों का तरबाम्तर परिणाम नहीं है। उनके अन्त-सङ्गम और अवस्था परिणाम कहेंगे ॥१६॥ दृश्य का वर्णन हो चुका, अब द्रष्टा के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

मो० पु०—गुणानां पर्वाण्यवस्थाविशेषाद्व्यवहारो ज्ञातव्यो इत्यु-
परिष्ठ भवति । तत्र विशेषा महाभूतस्त्रियाणि अविशेषास्तन्मा-
त्रात् करणानि सिंगमात्रं बुद्धिः सिंगमव्यक्तमित्युक्तम् । सर्वत्र
त्रिगुणरूपस्याव्यक्तस्यान्वयित्वेन प्रत्यभिज्ञानादनन्तरं ज्ञातव्यत्वेन
योगकाजं चत्वारि पर्वाणि निर्विष्टानि ॥ १६ ॥

पर्व द्वैतत्वेन प्रथमं दृश्यस्य ज्ञातव्यत्वाच्चदवस्थासहितं व्या-
ख्यापादयं दृष्टार्थं व्याकृतुं माह ।

भा० पु० का भा०—गुणों के चार भेद होते हैं इसी का
उपदेश किया जाता है उनमें से विशेष रूप महाभूत और इन्द्रियों
हैं अविशेष रूप तन्मात्रा तथा अन्त करण हैं सिंगमात्ररूप बुद्धि
है और अव्यक्त रूप अव्यक्त अर्थात् अरण्य रूप प्रकृति है, योगी
का इन चारों भेदों का ज्ञान होना चाहिये इस कारण इसका
उपदेश किया गया है ॥ १६ ॥ इस प्रकारसे द्वैत अर्थात् दृश्यका
रूप दिखाकर उपादेय द्रष्टा का वर्णन करते हैं ।

दृष्टा दृशिमात्र शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

इ० का पदार्थ—(दृष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि) दृष्टा स्व-
रूप से शुद्ध भी (प्रत्ययानुपश्यः) बुद्धि से उत्पन्न होने
वाले प्रत्ययों का अनुकारी है ॥ २० ॥

सू० का भा०—द्रष्टा यद्यपि साक्षिमात्र है तथापि बुद्धिजन्य प्रत्यय से दृश्यरूप भान होता है ॥ २० ॥

व्या० दे० भा०—दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषेणापरामृष्ट्यर्थः स पुरुषो बुद्धेःप्रतिसंवेदी । स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूप इति । न तावत्सरूपः । कस्मात् ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् परिणामिनी हि बुद्धिः । तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिर्वाज्ञातश्चज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति । सदाज्ञातविषयत्वं तु पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति । कस्मान्नहि बुद्धिश्च नाम पुरुषं विषयश्च स्यादगृहीता चेति सिद्धं पुरुषस्य सदाज्ञातविषयत्वं ततश्चापरिणामित्वमिति । किञ्च परार्था बुद्धिः सहकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति तथा सर्वार्थाव्यवसायकत्वात्त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुणत्वादचेतनेति । गुणानान्तूपद्रष्टा पुरुष प्रत्ययतो न सरूपः । अस्तु तर्हि विरूप इति नात्यन्तं विरूपः । कस्मात् शुद्धोऽशुद्धोऽप्यसौप्रत्ययानुपश्योयतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन्तेदात्मापि तदात्मक इव प्रत्यवभासते । तथाचोक्ततपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमाच्च परिणामित्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद् वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रया बुद्धिवृत्त्याविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते ॥ २० ॥

भा० का पदा०—जब वह विशेष गुणों से असंवृत्त होती है

अविशेषों का ज्ञिगमात्र के समीपस्थ होमसे विभक्त होता है । कम से, ऐसे ही भूतेन्द्रियों का भी उन्हीं अविशेषों से मिश्रित विभक्त होता है वैसा ही अन्यत्र भी कहा है । विशेषों से सूक्ष्म तत्त्वान्तर नहीं है अतः विशेषों का तत्त्वान्तर परिणाम नहीं है, इनके प्रभु, अक्षय और अवस्था परिणाम कहे जायेंगे ॥१६॥ दृश्य का वर्णन हो चुका, अब द्रष्टा के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

भा० सू०—शुक्लानां पञ्चाण्यवस्थाविशेषाश्चत्वारो ज्ञातव्या इत्यु-
पदिष्ट भवति । तत्र विशेषा महामूतन्द्रियाणि अविशेषास्तन्मा-
त्रान्तः करणानि ज्ञिगमात्रं बुद्धिः, ज्ञिगमव्यञ्जमित्युक्तम् । सर्वत्र
त्रिगुणरूपस्यान्यत्त्वस्यान्यवित्त्वन, प्रत्यभिधानादमदृश्य ज्ञातव्यत्वन
योगकाले चत्वारि पञ्चाणि निर्दिष्टानि ॥ १६ ॥

एवं दृश्यत्वेन प्रथमं दृश्यस्य ज्ञातव्यत्वाच्चदृश्यत्वासहितं व्या-
ख्यापादयं द्रष्टार व्याकृतु माह ।

भा० सू० का भा०—शुक्लों के चार भेद होते हैं इसी का उपदेश किया जाता है इनमें से विशेष रूप महामूत और इन्द्रियों हैं अविशेष रूप तन्मात्रा तथा अन्तःकरण हैं ज्ञिगमात्ररूप बुद्धि है और अविज्ञ रूप अव्यक्त अर्थात् कारण रूप प्रकृति है, योगी का इन चारों भेदों का ज्ञान जाना चाहिये इस कारण इतका उपदेश किया गया है ॥ १६ ॥ इस प्रकारसे देय अर्थात् दृश्यरूप रूप विज्ञाकर व्यादेय द्रष्टा का वर्णन करते हैं ।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

सू० का पदार्थ—(द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि) द्रष्टा स्व रूप से शुद्ध भी (प्रत्ययानुपश्यः) बुद्धि से उत्पन्न होने वाले प्रत्ययों का अनुकारी है ॥ २० ॥

सू० का भा०—द्रष्टा यद्यपि साक्षिमात्र है तथापि बुद्धिजन्य प्रत्यय से दृश्यरूप भान होता है ॥ २० ॥

व्या० दे० भा०—दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषेणापरामृष्ट्यर्थः स पुरुषो बुद्धेःप्रतिसंवेदी । स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूप इति । न तावत्सरूपः । कस्मात् ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् परिणामिनी हि बुद्धिः । तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिर्वाज्ञातश्चज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति । सदाज्ञातविषयत्वं तु पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति । कस्मान्नहि बुद्धिश्च नाम पुरुषं विषयश्च स्यादगृहीता चेति सिद्धं पुरुषस्य सदाज्ञातविषयत्वं ततश्चापरिणामित्वमिति । किञ्च परार्था बुद्धिः सहकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात्त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुणत्वादचेतनेति । गुणानान्तूपद्रष्टा पुरुष प्रत्ययतो न सरूपः । अस्तु तर्हि विरूप इति नात्यन्तं विरूपः । कस्मात् शुद्धोऽशुद्धोऽप्यसौप्रत्ययानुपश्योयतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन्तदात्मापि तदात्मक इव प्रत्यवभासते । तथाचोक्ततपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमाच्च परिणामित्यर्थे प्रतिसक्रान्तेव तद् वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रया बुद्धिवृत्त्याविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते ॥ २० ॥

भा० का पदा०—जब वह विशेष गुणों से असंवृत्त होती है

तब दृष्टिमात्र कहलाती है। वह आत्मा बुद्धि से जानने योग्य अथवा बुद्धि का साथी है वह बुद्धि के समान रूप वाला नहीं है न अत्यन्त विरूप लक्ष्य वाला है। समान रूप न होने में हनु यह है—ज्ञात और अज्ञात विपर्ययी होने से बुद्धि परिणामिका है उस बुद्धि का विषय गा आदि और घट पटादि ज्ञात और अज्ञात दोनों ही हैं या कि उसके परिणामिका को दिखाते हैं अज्ञात विषय ता सर्वैव ही आत्मा को परिणाम रहित भाव को प्रकाशित करता है क्योंकि बुद्धि पुरुष को ग्रहण नहीं कर सकती। क्योंकि वह उसका विषय नहीं है। प्रसन्न का सर्वैव अज्ञात विषय और अपरिणामी होना स्थिर है। साधनापेक्ष होने से बुद्धि परतन्त्र है।

परन्तु पुरुष स्वतन्त्र है तथा सब व्यक्तियों के व्यवहारयुक्त होने से बुद्धि त्रिगुणात्मिका है। त्रिगुणा होने से वह है और पुरुष गुणों का द्रष्टा है। इससे पुरुष बुद्धि के समान नहीं है तो बुद्धि से विरूप रूप वाला होगा। अत्यन्त विरूप भी नहीं है क्योंकि पुरुष शुद्ध होनेपर भी ज्ञान से देखा जाता है ज्ञान बुद्धिके द्वारा देहान से तब आत्मा भी उसके रूप के समान मात्रा होता है ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है मोक्ष स्वरूप का कभी परिणाम नहीं होता और संकल्प से रहित है अर्थात् संश्लेषन करने योग्य नहीं है (परिणामिभ्यः) परिणामी पदार्थों में स्मरन्त अर्थात् अवस्थान्तर को धारण करने वाली के समान उसकी वृत्ति मान होने लगती है और उस चेतन्य का ग्रहण बुद्धि की वृत्तियों के अनुकरण मात्र से करमे वाली बुद्धि वृत्ति से अविशिष्ट ज्ञान की वृत्ति है ऐसा कहा जाता है ॥ २० ॥

भा० का भा०—इहा बुद्धि की वृत्तियों का साथी है परन्तु इसमें शंका यह है कि यह द्रष्टा बुद्धिका स्वरूप है या विरूप है।

इसका उत्तर यह है न अत्यन्त स्वरूप है और न अत्यन्त विरूप है । स्वरूप तो इस कारण से नहीं है कि आत्मा दृश्य और अदृश्य दोनों प्रकार के पदार्थों का अधिकारी है और बुद्धि केवल ज्ञात वटादि पदार्थों के ज्ञान को धारण कर सकी है और बुद्धि में अनेक प्रकार के परिणाम भी होते हैं, एवम् बुद्धि परतन्त्र है क्योंकि यह बिना दूसरे की सहायता के ज्ञान प्राप्ति में असमर्थ है और आत्मा स्वतन्त्र है, तथा बुद्धि तब चाश्चल्यरहित होती है तब मनुष्य को प्रतीत होता है कि इस समय मेरी बुद्धि सद्गुण युक्त है इन कारणों से आत्मा बुद्धि के स्वरूप नहीं है विरूप इस कारण से नहीं कि शुद्ध होने पर भी ज्ञान द्वारा पदार्थों को सम-झता है और ज्ञान बुद्धि के बिना होना असम्भव है इससे अज्ञानी लोग जानते हैं कि आत्मा बुद्धिरूप है और ऋषियों ने भी कहा है कि आत्मा की शक्ति परिणाम रहित है तथापि परिणामिनी बुद्धि की वृत्तियों के संयोग से परिणामिनी प्रतीत होती है, इससे यह सिद्ध हुआ, कि आत्मा की जो चैतन्य वृत्तियाँ हैं उनसे बुद्धि की वृत्ति भिन्न हैं इससे आत्मा बुद्धिसे विरूप भी नहीं हैं ॥२०॥

भो०—द्रष्टा पुरुषो दृशिमात्रश्चेतनामात्रो मात्रग्रहणं धर्मार्धमि-
निराशार्थम् केचिद्धि चेतनात्मनो धर्म्यमिच्छन्ति स शुद्धोऽपि
परिणामित्माद्यभावेन स्वप्रतिष्ठोऽपि प्रत्ययानुपश्यः प्रत्यया विषयो-
परक्तानि विज्ञानानि, तानि त्वनु अव्यवधानेन प्रतिसंक्रमाद्यभावेन
पश्यति । एतदुक्तं भवति । जालविषयोपरागायामेव बुद्धौ सन्निधि-
मात्रेणैव पुरुषस्य द्रष्टृत्वमिति ॥ २० ॥ स एव भोक्तेत्याह ।

भो० वृ० का भा०—द्रष्टा पुरुष ही दृष्टिमात्र अर्थात् चेतनमात्र है, यहाँ पर मात्र शब्द इस कारण लिखा है कि जिससे गुण और गुणी दोनों का ग्रहण न हो । कोई आचार्य्य चेतनता को आत्मा का गुण मानते हैं वह पुरुष यद्यपि शुद्ध है तथा परिणामित्व आदि

गुणों से रहित है तो भी विषयों के विज्ञान रूप रंगों का समीपवर्ती होने से विषय संयोगी वीक्षता है। फलितार्थ यह हुआ कि विषयों के संसर्ग से जो बुद्धि विषयाकार हो जाता है उसकी समीपता का कारण पुरुष में भी द्रष्टापन प्रतीत होता है। वास्तव में पुरुष दृष्ट है ॥२०॥ द्रष्टा ही मोक्ष है। यह अगले सूत्र में कहा जायगा।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥२१॥

सू० का० प०—(तदर्थ एव) पूर्व सूत्र में कहे हुए हेतु से (दृश्यस्य) दृश्य पदार्थ का (आत्मा) पुरुष आत्मा है ॥ २१ ॥

सूत्र का भा०—पूर्व सूत्राक्त कारण से ही आत्मा दृश्यभाव से माना जाता है।

स्वरूपस्य पुरुषस्य कर्मविषयताभावेन दृश्यमिति तदर्थ एव दृश्यस्यात्माभवति स्वरूपमवस्थोत्पत्तिः। तत् स्वरूपन्तु पररूपेण प्रतिलम्भात्मक मोगापवर्गायतार्था कृतार्था पुरुषेण न दृश्यत इति। स्वरूपहानाद्दृश्यनाशः प्राप्तो नतु विनश्यति ॥ २१ ॥ कस्मात्

भा० का प०—द्रष्टारूप आत्मा के कर्मविषयता को प्राप्त हुआ पदार्थ दृश्य कहा जाता है उसके ही वास्ते दृश्य का आत्मा होता है अर्थात् स्वरूप होता है आत्मा का स्वरूप तो मोग और मोक्ष का प्रयोजनता या लोपता करने में पुरुष से नहीं देखा जाता इस प्रकार की स्वरूपहानि से दृश्य का नाश हो जाता है प्राप्त वा अनत से नाश नहीं होता ॥ २१ ॥

भा० का भा०—द्रष्टा का जो कर्म अर्थात् दर्शन उसकी विष-

यता को जो प्राप्त हों वह सब पदार्थ दृश्य कहाते हैं और इस ही कारण दृश्य का स्वरूप होता है उस दृश्य का 'स्वरूप दूसरे के रूप के द्वारा भोग और मोक्ष की लालसा में फँसे हुये मनुष्य को प्रतीत नहीं होता इससे दृश्य की रूपहानि होती है किन्तु नाश नहीं होता ॥ २१ ॥

भा० वृ०—दृश्यस्य प्रागुक्तलक्षणस्याऽऽत्मा यत् स्वरूप स तदर्थस्तस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वसम्पादनं नाम स्वार्थपरिहारेण प्रयोजनम् नहि प्रधानं प्रवर्तमानमात्मनः किञ्चित् प्रयोजनमपेक्ष्य प्रवर्तते किन्तु पुरुषस्य भोगसम्पादयामीति ॥ २१ ॥

यद्येवं पुरुषस्य भोगसम्पादनमेव प्रयोजनं तदा सम्पादिते तस्मिन् तत् निष्प्रयोजनं विरतव्यापारं स्यात् तस्मिंश्च परिणाम-शून्य शुद्धत्वात् सर्वे द्रष्टारो बन्धरहिताः स्युः ततश्च संसारोच्छेद इत्याशङ्क्याह ।

भो० वृ० का भा०—ऊपर जिसका लक्षण कहा है उस दृश्य का आत्मा अर्थात् स्वरूप उसही द्रष्टा के निमित्त है, दृश्य का भोग भी अपने स्वार्थ के त्याग से है, अर्थात् प्रधान अपने प्रयोजन के वास्ते किसी काम में प्रवृत्त नहीं होता है, किन्तु पुरुष के भोक्तृत्व को सिद्ध करने के वास्ते ही उसकी प्रवृत्ति है ॥ २१ ॥

यदि इस रीति से पुरुष के निमित्त भोगसाधन ही दृश्य का प्रयोजन है तो भोग सम्पादन के अनन्तरावह निष्फल होगा जब दृश्य ही परिणामरहित और अक्रिय हो जायगा तब जगत् के सब द्रष्टा अर्थात् जीव बन्धन से मुक्त हो जायेंगे और इस दशा में संसार का उच्छेद होना चाहिये । इस शङ्का का उत्तर अगले सूत्र में लिखते हैं ।

कृतार्थप्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् । २२

सू० का पदार्थ—(कृतार्थम् प्रति) कृतार्थ एक पुरुष के प्रति (नष्टमपि) नष्ट हुआ भी दृश्य का रूप (अनष्टम्) नष्ट नहीं है (तदन्यसाधारणत्वात्) क्योंकि दूसरे पुरुष को मान होता है ॥ २२ ॥

सू० का भा०—एक कृतार्थ पुरुष के प्रति दृश्य का रूप नष्ट हुआ है परन्तु दूसरे साधारण पुरुषों के प्रति यह अनष्ट है इससे इसे नष्ट नहीं कह सकते ॥ २२ ॥

व्या० वे० का भा०—कृतार्थमेक पुरुष प्रतिदृश्य नष्ट मपि नाश प्राप्तमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात् । कुशल पुरुष प्रति नाश प्राप्तमप्यकुशलान् पुरुषात्प्रत्यकृतार्थमिति तेषां द्योः कर्मविषयसामापन्नं क्षमत एव पररूपेणात्मरूपमिति अतश्च इन्द्रियनशक्त्यानिस्त्यत्वादनादिः संयोगो व्याख्यात इति । तथाचोक्तम्—वर्मिणामनादि संयोगाद्धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोग इति ॥ २२ ॥ संयोगस्वरूपामिच्छित्सुयेदं सर्वं प्रवक्षते—

भा० का पदा०—कृतार्थ एक पुरुष के प्रति नष्ट हुआ भी दृश्य अनष्ट है क्योंकि यह अन्य पुरुषों को प्रतीत होता है । योग्य चतुर पुरुष के प्रति दृश्य मात्रा को प्राप्त हुआ भी मूर्ख पुरुषों के प्रति अकृतार्थ अर्थात् अनष्ट है । यह उनकी दृष्टि में कर्म विषयता को प्राप्त होता है । इस प्रकार से पर रूप से अपने रूप को प्राप्त होता है । अतएव द्रष्टा और दर्शन शक्तियों के निस्त होमसे ज्ञानों का अनादि संयोग अर्थात् गमा ह अनादि अनादि अनादि है । अतएव अनादि गुणी का अनादि संयोग होने से अनादि अनादि गुणों का भी अनादि

संयोग होता है ॥ २२ ॥

संयोग का स्वरूप कहने की इच्छा से अगला सूत्र प्रवृत्त होता है ।

भा० का भा०—दृश्य का रूप जो ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में नष्ट हो गया वही दूसरे पुरुषों की दृष्टि में विद्यमान है इससे उसे नष्ट हुआ नहीं कह सकते, किन्तु यही प्रतीत होता है कि दृक्शक्ति और दर्शन का संयोग अनादि है ॥ २२ ॥

२२ सू०—इन सब सूत्रों का सारांश यह है कि द्रष्टा, दर्शन और दृश्य यह तीनों भिन्न भिन्न हैं तो भी अनेक कारणों से ऐसा संयोग हो रहा है जिससे वे सब अभिन्न जान पड़ते हैं और इनके संयोग के अज्ञान को ही भोग कहते हैं । अर्थात् जब तक मनुष्य को इन सब का यथार्थ ज्ञान नहीं होता तभी तक सासारिक सुखों का भोग भी जान पड़ता है और जब इनका यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब सासारिक भोग नष्ट हो जाते हैं । “नष्टे मोहे कः संसारः ।” परन्तु एक मनुष्य को यथार्थ ज्ञान होनेसे संसार भरका अज्ञान दूर नहीं हो सकता वरन दूसरे मनुष्यों में बना रहता है इससे द्रष्टा और दृश्य का संयोग अज्ञानजन्य है ॥ २२ ॥

भो० वृ०—यद्यपि विवेकख्यातिपर्यन्तात् भोगसम्पादनात्-कमपि कृतार्थ पुरुष प्रति तन्नष्टं विरतव्यापारं तथापि सर्व पुरुष-साधारणत्वादन्यान् प्रत्यनष्टव्यापारमवतिष्ठते । अतः प्रधानस्य सकलभोक्तृसाधारणत्वान्न कदाचिदपि विनाशः । एकस्य मुक्तौ वा न सर्वमुक्तिप्रसङ्ग इत्युक्तं भवति ॥ २२ ॥

दृश्यद्रष्टारौ व्याख्याय संयोगव्याख्यातुमाह ।

भो० वृ० का भा०—यद्यपि भोग विवेकख्याति अर्थात् यथार्थ ज्ञात पर्यन्त ही रहते हैं और पश्चात् नष्ट हो जाते हैं परन्तु भोग सब पुरुषों के प्रति साधारण रूप से रहते हैं इस कारण जिसके

प्रति भोग नष्ट हो जाते हैं वही मुक्त होता है और जिसके प्रति नष्ट नहीं होते हैं वह बन्धन में रहता है अर्थात् एक जीव की मुक्ति से सब जीवों की मुक्ति नहीं होती है ॥ २२ ॥ द्रष्टा और दृश्य का वर्णन करके संयोग का वर्णन करते हैं ।

स्वस्वामिशक्त्योऽस्वरूपोपलब्धिहेतु संयोगः ॥३३॥

सू० का पदा०—(स्वस्वामिशक्त्योऽ) एवं अर्थात् दृश्य और स्वामी अर्थात् द्रष्टा शक्तियों के (स्वरूपोपलब्धिहेतुः) स्वरूप की प्राप्ति का जो कारण हो (संयोगः) उसे संयोग कहते हैं ॥ २३ ॥

सू० का भा०—द्रष्टा और दृश्य शक्तियों के स्वरूप की उपलब्धि का जो हेतु है उसे संयोग कहते हैं ॥ २३ ॥

पुरुषः स्वामी दृश्येन स्वेन दर्शनार्थं संयुक्तः । तस्मात् संयोगाद्दृश्योपलब्धिर्यो स भोगः या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽप्यगम दर्शनकार्यावसानः संयोग इति दर्शनवियोगस्य कारणमुक्तम् । दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वन्द्वीत्यदर्शनं संयोगनिमित्तमुक्तम् । नात्र दर्शनं मोक्षकारणमदर्शनाभावादेन बन्धमायः स मोक्ष इति । दर्शनस्य भावे बन्धकारणस्यादर्शनस्य नाश इत्यतो दर्शनं ज्ञानहेतुवन्धकारणमुक्तम् ।

किञ्च दमदर्शनं नाम किं गुणानामधिकार आहोस्विष्ट इतिरूपस्य स्वामिनो दक्षितविषयस्य प्रधानविषयस्यानुत्पादः स्वस्मिन् दृश्य विद्यमाने यो दर्शनाभावः । किमर्थं वशात्पु-

णानाम् । अथाविद्या स्वचित्तेन सह निरुद्धा स्वचित्तस्यो-
त्पत्तिबीजम् । किं स्थितिसंस्कारक्षये गतिसंस्काराभिव्यक्तिः ।
यत्रेदमुक्तम् प्रधानं स्थित्यैववर्तमानं विकाराकरणादप्रधानं
स्यात् । तथा गत्यैव वर्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात् ।
उभयथा चास्य वृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा ।
कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेव । समानश्चः दर्शनशक्तिरेवा
दर्शनमित्येके, 'प्रधानस्याऽऽत्मख्यापनार्थाप्रवृत्तिः'-इतिश्रुतेः ।

सर्वबोध्यबोधसमर्थः प्राक्प्रवृत्तेः पुरुषो न पश्यति ।
सर्वं कार्यकरणसमर्थं दृश्यं तदा न दृश्यत् इति । उभय-
स्याप्यदर्शनं धर्म इत्येके । तत्रेदं दृश्यस्य स्वात्मभूतमपि
पुरुषप्रत्ययापेक्षं दर्शनं दृश्यधर्मत्वेन भवति । तथा पुरुषस्या-
नात्मभूतमपि दृश्यप्रत्ययापेक्षं पुरुषधर्मत्वेनैवाददर्शनमव-
भाषते । दर्शनं ज्ञानमेवाददर्शनमिति केचिदभिदधति । इत्येते
शास्त्रोक्ता विकल्पाः । तत्र विकल्पबहुत्वमेतत् सर्वपुरुषाणां
गुणानां संयोगे साधारणविषयम् ॥ २३ ॥

यस्तुप्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः ।

भा० का प०—स्वामी अपने दृश्य से देखने के लिये संयुक्त
होता है उस संयोग से जो दृश्य पदार्थों का ज्ञान होता है उसे
भोग कहते हैं और जो द्रष्टा अर्थात् आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति
होती है उसे मोक्ष कहते हैं जहाँ दर्शन के कार्य का अन्त हो जाता
है उसे संयोग कहते हैं इस प्रकार दर्शन को वियोग का कारण
कहते हैं दर्शन अदर्शन का विपक्षी है इसलिए अदर्शन को संयोग

का कारण क्या है यहाँ पर दर्शन मोक्ष का कारण नहीं है अपरान के अभाव ही से कन्धनका जो अभाव होता है उसे मोक्ष कहते हैं । दर्शन की विद्यमानता में कन्ध का कारण जो अपरान है उसका नाश हो जाता है इसलिये दर्शन ज्ञान को कैवल्य का कारण कहा है ।

क्या यह अपरान गुणों का अधिकार है अथवा द्रष्टारूप आत्मा के जिस चित्त ने विषय का देखा है उस प्रधान चित्त अर्थात् ज्ञान का कल्पन न होना है ? अपने दृश्य के विद्यमान रहते भी जो दर्शन का अभ्यास होता है वह क्या गुणों की अभिवृत्ति से होता है अथवा जो अविद्या अपने चित्त के संग निरुद्ध हो गई है वह अपने चित्त की उत्पत्ति का कारण है ? क्या स्थिति ३क संस्कार कम हो जाने पर गति के संस्कार प्रकट होते हैं ? इसपर यह कहा जाता है प्रधान स्थिति के साथ वर्तमान रहकर अविकारी होने से अप्रयाम होता है । जैसे ही गति के साथ विद्यमान नित्य विकारशील होने से अप्रयाम होता है । कुछ बानों प्रकार से इसकी प्रवृत्ति प्रधानता को प्राप्त होती है अन्यथा नहीं । और कारणों की कल्पना करने पर भी यह समान विचारणीय होगा । दर्शन शक्ति ही अपरान है ऐसा भी कोई कहता है । “प्रधान की आत्मस्यापनाथ आ प्रवृत्ति है” । ऐसा भूति का मत है ।

जानने योग्य अठम पदार्थ है उनके जानने में शक्तिमान् पुरुष प्रवृत्ति से पहले नहीं देखता सब काम्य करनेमें समय दृश्य समय उसे नहीं देखता इसलिये बानों का भी अपरान धर्म है यह किसी का मत है । यहाँ पर दृश्य का [आत्माभूतिमयि] तादात्म्य होने पर भी दर्शन पुरुष प्रत्यय की अपेक्षा रखता हुआ दृश्य माप का प्राप्त होता है तब ही [पुरुष स्थानात्ममृतमयि] पुरुष से तादात्म्य में होने पर भी अपरान दृश्यमान की अपेक्षा रखता हुआ पुरुष धर्म के समान दर्शन का अभाव माने जाना है यह दर्शन धर्म

को ही अदर्शन कहते हैं यह सब शास्त्र विकल्प हैं [तत्र विकल्प-बहुत्वम्] शास्त्र के विकल्पों का बहुत्व पुरुषों के और गुणों के संयोग से साधारण विषय है ॥ २३ ॥ और जो प्रत्यक् चैतन्य का अपनी बुद्धि से संयोग है ।

भा० का भा०—आत्मा जो अपने रूप के देखने को प्रवृत्त होता है, परन्तु मध्य में जो पदार्थान्तरों का संयोग हो जाता है और उसकी वृत्तियाँ आगे नहीं बढ़ सकती हैं, उसको भोग कहते हैं और जो पुरुष को परमात्मा के स्वरूप की प्राप्ति है उसे मोक्ष कहते हैं । और जहाँ दर्शन रूप क्रिया का अन्त हो जाय उसे संयोग कहते हैं, किन्तु दर्शन ही वियोग का कारण है क्योंकि जब किसी का संयोग होता है तो उसका वियोग भी अनश्य होता है । ऐसे ही अदर्शन संयोग का हेतु कहाता है, इस शास्त्र में दर्शन को मोक्ष का कारण नहीं कहा है, अभिप्राय यह है कि जो २० और २१ सूत्र में संयोग कहा था वह दृश्य पदार्थों के संयोग के समान नहीं है किन्तु वह एक विलक्षण ही संयोग है ॥ २३ ॥

भो० वृ०—कार्यद्वारेणास्य लक्षणं करोति, स्वशक्तिदृश्य स्वभावः । स्वाभिशक्तिर्द्रष्टुः स्वरूपं तयोर्द्वयोरपि संवेद्यसंवेदकत्वेन व्यवस्थितयोर्वा स्वरूपोपलब्धिस्तस्याः कारणं यः स संयोगः । सच सहजभोग्यभोक्तृभावस्वरूपान्नान्यः । नहि तयोर्नित्ययाव्यापकयोश्च स्वरूपादतिरिक्तः कश्चित् संयोगः । अद्वैत भोग्यस्य भोग्यत्वं भोक्तुश्च भोक्तृत्वमनादिसिद्धं स एव संयोगः ॥ २३ ॥ तस्यापि कारणमाह ।

भो० वृ० का भा०—कार्य द्वारा संयोग का लक्षण कहते हैं । दृश्य का स्वभाव स्वशक्ति अर्थात् इन्द्रियों का विषय रूप है और द्रष्टा का स्वभाव स्वामीपन वा अध्यक्षता है इन दोनों शक्तियों में संवेद्य और संवेदक भाव सम्बन्ध है । इस सम्बन्ध से जो दोनों का

ज्ञान है उसको ही संयोग कहते हैं और वह संयोग स्वाभाविक है
 मांम्य और मोक्ष दोनों ही नित्य हैं उनके स्वरूप के अतिरिक्त
 संयोग और काश्च वस्तु नहीं है, मांम्य का मोक्षत्व है और मोक्ष
 का मोक्षत्व ये दोनों अनादि सिद्ध हैं उसको ही संयोग कहते
 हैं ॥ २३ ॥ उस संयोग के कारण का स्थान करते हैं ।

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

सू० का पदार्थ—(तस्य) उस संयोग का (हेतुः)
 मूल (अविद्या) अविद्या है ॥ २४ ॥

सू० का भा०—उसका अर्थात् संयोग का हेतु अविद्या है ॥ २४ ॥

व्या० दे० का भा०—विपर्ययज्ञानवासनेत्यर्थः ।
 विपर्ययज्ञानवासनावासिता च न कार्यनिष्ठा पुरुष-
 स्याति बुद्धिः प्राप्नोति, साधिकारा पुनरावर्तते । सा तु
 पुरुषस्यातिपर्ययज्ञाना कार्यनिष्ठा प्राप्नोति, चरिताधि-
 कारा निवृत्तादर्शना बन्धकारवाभावात् पुनरावर्तते अत्र
 कश्चित् पण्डितोपास्यानेनोद्घाटयति । मुग्धयामार्ययामि-
 घोयसे-पण्डकाप्यपुत्र, अपत्यवती मे भगिनी किमर्थं नाम
 नाहमिति, स तामाह भूतस्तेऽहमपत्यमुत्पादयिष्यामीति ।
 तथेदं विद्यमान ज्ञान चित्तनिवृत्तिं न करोति, विनष्ट
 करिष्यतीति का प्रत्याशा । तत्राद्यप्यदेशोयो वक्ति-ननु
 बुद्धिनिवृत्तिरेत मोक्षोऽदृशनकारवाभावात् बुद्धिनिवृत्तिः ।
 तच्चादृशन बन्धकारस्य दर्शनान्निवृत्तत्वं । तत्र चित्तनिवृ-

तिरेरेव मोक्षः किमर्थमस्थान एवास्य मतिविभ्रमः ॥२४॥

हेयं दुःखं हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तमतः

परं हानं वक्तव्यम्—

भा० का पदा०—अविद्या अर्थात् मिथ्या ज्ञानवासना संयोग का हेतु है । मिथ्याज्ञानवासना से वासित बुद्धि कार्यनिष्ठ पुरुष ख्याति को नहीं प्राप्त होती, अधिकार सहित पुनः आवर्तित होती है वह बुद्धि कार्यनिष्ठ पुरुष ज्ञान में स्थिर होती है जो कि अधिकारिणी है और अदर्शन जिसका निवृत्त हो गया है ऐसी बुद्धि बन्ध कारण के अभाव से पुनः आवर्तित नहीं होती यहाँ कोई (षण्ढकोपाख्यानेन) नपुंसक के उपाख्यान से उद्धाटित करता है । किसी नपुंसक की भोली स्त्री अपने पति से कहती है । स्वामिन, मेरी बहन पुत्रवती है मैं क्यों नहीं ? वह उससे बोला मैं मरकर तेरे पुत्र उत्पादन करूँगा । तैसे ही विद्यमान ज्ञान चित्त की निवृत्ति नहीं करता किन्तु नष्ट हुआ करेगा, इसकी क्या प्रत्याशा है । यहाँ पर आचार्य का उपदेश दिया । शिष्य कहता है बुद्धि की निवृत्ति से ही मोक्ष होता है और अदर्शन कारण के अभाव से बुद्धि निवृत्त होती है । और वह अदर्शन बन्ध के कारण दर्शन से निवृत्त होता है तब चित्तकी निवृत्ति ही मोक्ष है तब क्यों यह अकालिक मतिभ्रम होता है ॥ २४ ॥

भा० का भा०—विपरीत ज्ञान को अविद्या कहते हैं विपरीत ज्ञानकी वासना से भरी हुई बुद्धि कार्यनिष्ठा व आत्मज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकती । अधिकार से युक्त न होने के कारण पुनः पतित हो जाती है । इस कारण से बुद्धि की वासना को निवृत्त करना योग्य है । इस स्थल पर कोई नपुंसक की कथा के अनुसार शंका करते हैं । अर्थात् नपुंसक की स्त्री ने अपने पति से पूछा कि

आयुष्य, मेरी भगिनी तो सन्तानवासी है, मैं सन्तानवासी क्यों नहीं ? तब तबु सक न उत्तर दिया कि मैं मरकर तुम्हारे सन्तान उत्पन्न करूँगा । विचारने का स्थल है कि जब वह जीते ही सन्तान उत्पन्न न कर सका तो मरकर क्या करेगा ? ऐसे ही यह बतमान ज्ञान तो चित्त की निवृत्ति न कर सका किन्तु मरकर करेगा यह केवल दुराशामात्र है । किन्तु इस विषय में एक आशय करता है कि बुद्धि की निवृत्ति ही मोक्ष है क्योंकि उसमें अदर्शन के कारणों का अभाव नहीं होता और बुद्धि की निवृत्ति अदर्शन है किन्तु सम्प्रकारण दर्शन से निवृत्त होता है इससे चित्त की निवृत्ति ही मोक्ष है । यह भाष्यकार का मत है ॥ २४ ॥

भा० सू०—या पूर्वं विपर्ययात्मिका माहस्याऽविद्या व्याख्याता सा तस्य विवेकस्यातिरूपस्य संयोगस्य कारणा देयं हानक्रियाकर्मा च्यते ॥ २४ ॥ किं पुनस्तद्धानमित्याह—

भा० सू० का मा —पहले या विपर्यय ज्ञानरूप अविद्या का वर्णन कर चुके हैं वही अविद्या विवेकस्याति रूप संयोगका कारण है और वही हानक्रिया का कर्म होने से देय है ॥ २४ ॥

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशे. कैवल्यम् २५

सू० का प —(तदभावात्) उस दर्शन के अभाव से (संयोगाभावो हानम्) संयोग का न होना ही हान है । (तद्दृशेः कैवल्यम्) वह दर्शन का एकत्व है ॥ २५ ॥

सू० का भा०—दर्शन के अभाव से संयोग का नाश जिस हान कहते हैं होता है और उससे मोक्ष होता है ॥ २५ ॥

व्या० वे० का भा०—तस्यादर्शनस्याभावात् बुद्धि-पुरुष-संयोगाभाव आस्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः एत

ज्ञानम् तद्दृशेः कैवल्यं पुरुषस्यामिश्रीभावः पुनरसंयोगो
गुणैरित्यर्थः । दुःखकारणनिवृत्तौ दुःखोपरमो हानं तदा
स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम् ॥ २५ ॥ अथ हानस्य कः
प्राप्त्युपाय इति—

भा० का प०—उस अदर्शन के अभाव से बुद्धि और आत्मा
के संयोग का अभाव होता है अर्थात् बन्धन की अत्यन्त निवृत्ति
हो जाती है उसे हान कहते हैं वही कैवल्य होता है पुरुष प्रकृति
के गुणों से पृथक् होकर संयोगरहित हो जाता है । दुःखों के
कारण के निवृत्त हो जाने से दुःखके नाश को हान- कहते हैं तब
समाधिस्थ पुरुष कहा जाता है ॥ २५ ॥

भा० का भा०—जब दर्शन का अभाव हो जाता है तब बुद्धि
और आत्मा के संयोग का भी अभाव हो जाता है और बन्धन
का नाश हो जाता है तथा पुरुष को कैवल्य अर्थात् गुणादि का
विरह होता है, अभिप्राय यह है, कि दुःख की निवृत्ति को हान
कहते हैं उसके होने से पुरुष समाधिस्थ वा कैवल्य को प्राप्त
होता है ॥ २५ ॥

भो० वृ०—तस्या अविद्यायाः स्वरूपविरुद्धेन सम्यग् ज्ञानेन
उन्मूलितायां योऽयमभावस्तस्मिन् सति तत्कार्यस्य संयोगस्याप्य-
भावस्तद्वानमित्युच्यते । अयमर्थः । नैतस्यामूर्तद्रव्यवत् परित्यागो
युज्यते किन्तु जाताया विवेकख्यातौ अविवेकनिमित्तः संयोगः ।
स्वयमेव निवर्त्तत इति तस्य हानम् यद्येव च संयोगस्य हानं तदेव
नित्यं केवलस्यापि पुरुषस्य कैवल्यं व्यपदिश्यते ॥ २५ ॥ तदेवं
संयोगस्य स्व रूपं कारणं कार्यश्चाभिहितम् अथ हानोपायकथन-
द्वारेणोपादेयकारणमाह ।

भा० वृ० का भा०—अविद्याके स्वरूप से विरुद्ध जो सम्यक्

ज्ञान है उससे अविद्या का अभाव होता है, उस अभावके होनेसे अविद्यासे उत्पन्न हुआ आ द्रष्टा और दृश्य का संयोग है उसका भी अभाव हो जाता है इस अभावको हानि कहते हैं, तात्पर्य यह है, कि अमूर्त अर्थात् स्वरहित वस्तु का विभाग नहीं हो सकता है किन्तु जब विवेकस्याति उत्पन्न होती है तब अविबक्त उत्पन्न हुआ पूर्वोक्त संयोग आप ही नष्ट हो जाता है यही हानि कहाता है जो संयोग का हानि है वही पुरुष का कैवल्य है ॥ २५ ॥ इसी रीति से दृश्य के संयोग का कारण स्वरूप और कार्य कहा गया । आगे हानोपाय के कथन से प्राप्ति के कारण का वर्णन होगा—

विवेकस्यातिरविप्सत्वा हानोपायः ॥ २६ ॥

सु० का प०—(अविप्सत्वा विवेकस्यातिः) स्थिर

विवेक ज्ञान (हानोपायः) हानि का उपाय है ॥ २६ ॥

सु० का भा०—जिस ज्ञान का कमी नारा न हो वह ज्ञानप्राप्ति हानि का उपाय है ॥ २६ ॥

व्या० वे० भा०—सत्त्वगुणान्यताप्रत्ययो विवेक-
स्यातिः सा स्थितिमिच्छाज्ञाना प्लवते । यदा मिथ्या
ज्ञान दग्धधीमार्गं बन्धप्रसवं सम्पद्यते तदा विधूतस्त्वेश-
रजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसहायां वर्त-
मानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति । सा विवेक-
स्यातिरविप्सत्वा हानोपायः । ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्ध-
धीप्रभाषोपगमः पुनर्वाप्रसव इत्येष मोक्षस्य मार्गो हानि
स्यापाय इति ॥ २६ ॥

भा० का प०—दृश्य बुद्धिसे आत्मा भिन्न है यह ज्ञान विवेक-

ख्याति कहलाता है । और वह जब तक मिथ्या ज्ञान निवृत्त नहीं होता तब तक स्थिर नहीं होता । जब मिथ्याज्ञान दग्धबीज भावको प्राप्त होकर उत्पन्न होनेके अयोग्य हो जाता है तब रजो-गुणके क्लेश नष्ट हो गये हैं जिसके सत्व गुण के परम प्रकाश में परम वशीकार सज्ञा में वर्तमान जो योगी, उसका विवेक ज्ञान का प्रवाह निर्मल हो जाता है । वह अविच्छिन्न विवेकख्याति होने का उपाय है तब मिथ्या ज्ञान के बीज भाव का नाश होता है फिर उत्पन्न नहीं होता यह मोक्ष का मार्ग हान का उपाय है ॥ २६ ॥

भा० का भा०—दृश्य पदार्थों से और बुद्धि से आत्मा भिन्न है ऐसा विचार हो जिसमें वह ज्ञान विवेकख्याति कहलाता है और वह विवेकख्याति जब तक मिथ्याज्ञान नष्ट नहीं होता, स्थिर नहीं होता जब उसका प्रकाश होता है तब मिथ्याज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है अर्थात् उसकी उत्पत्ति फिर नहीं होती । तब रजोगुण से उत्पन्न हुआ क्लेश नाश हो जाता है और सत्वगुण के प्रकाश से ज्ञान के प्रवाह में निर्मल हो जाता है, वही विवेकख्याति हान का उपाय है । जब मिथ्या ज्ञान के बीज का नाश हो जाता है वह पुनः उत्पन्न नहीं होता । यही मोक्ष का मार्ग और हानोपाय है ॥ २६ ॥

२६—इस सूत्र में विवेकख्याति विशेष्य और अविप्लवा विशेषणा है । अविप्लवा का अर्थ यह है “न विद्यते विप्लवो विच्छेदोऽन्तराऽन्तरा व्युत्थानं रूपो यस्याः सा अविप्लवा” । तात्पर्य यह है कि अविद्या के नाश हो जाने पर कर्त्ता और भोक्तापन का अभिमान बुद्धि से जाता रहता है तब वह बाह्य विषयों को त्याग कर अन्तर्मुख हो जाता है तब दृश्य का अधिकार निवृत्त हो जाता है तदनन्तर मोक्ष होता है । यही हान अर्थात् संसार त्याग का उपाय है ॥ २६ ॥

भो० वृ०—अन्ये गुणा अन्यः पुरुष इत्येव विधस्य या ख्यातिः

प्रकृष्टा ताऽस्य ह्यस्य हर्य परित्यागास्त्योपाया करस्यम् । कीदृशी,
अविष्णवा न विद्यते विप्लवा विच्छेदोऽन्तराऽन्तरा व्युत्पन्नरूपा
यस्याः साऽविष्णवा । इदमत्र तात्पर्यम् प्रतिपद्यमावमावसादविद्या-
प्रविशये निवृत्तकृतस्य भावतृष्णाभिमानाया रसस्तमासज्ञानभिन्ना
ताया बुद्धेरन्तर्मुखा या विच्छाया सम्पत्तिः स विवर्कक्याति
रूप्यत तस्या न सम्यक्तत्वेन प्रवृत्तायां तस्या हर्यस्याधिकारनिवृत्ते
मैवस्यैव कैवल्यम् ॥ २६ ॥

सू० वृ० का भा०—गुण भिन्न है और आत्मा भी एक पुरुष
परार्थ है इस विवेक ज्ञान को ज्ञान अर्थात् बुद्धिपरित्याग का उपाय
वा कारण जानना चाहिये वह विवेकक्याति कैसा है । नहीं है
विप्लव अर्थात् विनाश जिसका” । अभिप्राय यह है कि अविद्या
के विरोधी ज्ञान के उदय होने से रजोगुण और तमोगुण की जिन
वृत्तियों से कर्तृत्व और मोक्षत्व का अभिमान बुद्धि को घेर हुए
हैं उन वृत्तियों से बुद्धि रहित होकर अन्तर्मुख हो जाती है चैतन्य
के आभास रूप विचार को विवर्क क्याति कहते हैं ॥ अब वह
विवेक तत्त्वरूप विचार में प्रवृत्त रहती है तब हर्य का अधिकार
निवृत्त हो ज्ञान से पुरुष को कैवल्य होता है ॥ २६ ॥ जिसका
विवर्कक्याति अस्मत्तु है उसकी बुद्धि का वर्णन करते हुए विवे
कक्याति का रूप कहते हैं ।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

सू० का पदा० (तस्य) पूर्वोक्त ज्ञानोपाय की (सप्तधा)
७ प्रकार की (प्रान्तभूमिः) योगी के ज्ञान की भूमि
(प्रज्ञा) बुद्धि है ॥ २७ ॥

सू० का भा०—पूर्वसूत्र में कहे हुए ज्ञानोपाय प्राप्त हुए योगी

की ७ प्रकार की बुद्धि है ॥ २७ ॥

व्या० दे० का भा०—तस्येति प्रत्युदितख्यातेः प्रत्या-
म्नायः । सप्तधेति अशुद्ध्यावरणमलापगमाच्चित्तस्य प्रत्य-
यान्तरानुत्पादे सति सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति ।
तद्यथापरिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति । क्षीणा
हेयहेतवो न पुनरेतेषां हेतव्यमस्ति । साक्षात्कृतं निरोध
समाधिना हानम्भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपाय इति
एषा चतुष्टयी कार्य्या विमुक्तिः प्रज्ञायाः चित्तविमुक्तिस्तु
त्रयी चरिताधिकारा बुद्धिः । गुणा गिरिशिखरतटच्युता
इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह
तेनास्तङ्गच्छन्ति न चैषां प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयो-
जनाभावादिति । एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूप
मात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति । एतां सप्तविधा प्रान्त-
भूमिप्रज्ञामनुपश्यपुरुषः कुशलं इत्याख्यायते प्रतिप्रसवेऽपि
चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति गुणातीतत्वादिति सिद्धा
भवति विवेकख्यातिर्हानोपाय इति नच सिद्धिरन्तरेण
साधनमित्येतदारभ्यते ॥ २७ ॥

भा० का पदा०—जिस योगी का विवेक उदय होगया है, एवं
अशुद्धि, आवरण और मल के दूर होने से जिस २ का चित्त
ज्ञेय के अतिरिक्त दूसरे किसी ज्ञान को उत्पन्न करने में असमर्थ
है, उसकी ७ प्रकार की बुद्धि होती है जब ज्ञेय को इसने जान-
लिया फिर जानने योग्य कोई पदार्थ नहीं रहता है हेय के हेतु

धीया हो जाते हैं पुन धिवेकी का धीया करने योग्य कुछ नहीं रहता है निरोध समाधि से इसने ज्ञान का साक्षात्कार किया है पर धिवेकस्याति रूप ज्ञानोपाय का भी ज्ञान लिया है यह चार प्रकार की कार्य-विमुक्ति प्रज्ञा है और चित्त विमुक्ति ता तीन प्रकार की है । पहिली अविकरण बुद्धि, दूसरी में वे सत्त्वादि गुण हैं जो पर्व क शिखर से गिरे हुए समस्त गुण गिरिशिखर पत्थरों के समान स्थिर नहीं रह सकते किन्तु साधारण में तीन ज्ञान के लिये पतन किया के साथ ही नष्ट भ्रष्ट होजाते हैं । कारण में तीन हुए इनकी फिर उत्पत्ति नहीं होती । क्योंकि फिर उत्पत्ति का प्रयोजन ही नहीं रहता इस अवस्था में गुणों के सम्बन्ध से रहित शेष रहता है और यही चित्त विमुक्ति की तीसरी अवस्था है । प्रकाशरूप वाक्ता निर्मल शुद्ध आत्मा पूर्णोक्त ७ प्रकार की अवस्थाओं में बुद्धि को देखता हुआ मुख्य ज्ञानी कहाता है चित्त की पुनः उत्पत्ति ज्ञाने पर भी गुणातीत होनेसे मुक्त जीव ज्ञानी ही रहता है ॥ २७ ॥ इस रीति से सिद्ध होता है धिवेकस्याति ही ज्ञानोपाय है साधन के बिना सिद्धि नहीं होती अतएव सब साधनों का वर्णन किया जाता है ।

भा का भाषा०—उक्त ज्ञान की ७ प्रकार की अवस्था है त्रिनका भूमिका कहते हैं ज्ञान में से प्रथम वर्ग की जिसमें ४ भूमिका हैं कार्य-विमुक्तिसंज्ञा है और दूसरे वर्ग की जिसमें ३ अवस्था हैं चित्तविमुक्ति संज्ञा है । इनमें से प्रथम अवस्था जिस योगी को प्राप्त होती । उसका यह चिन्तन होता है कि पूर्व ज्ञान में मुक्त बहुत ही ज्ञातव्य था, किन्तु अब मुझे कुछ ज्ञातव्य नहीं है अर्थात् ज्ञानसूक्ष्म है दूसरी अवस्था में प्राप्त होने से योगी को यह भाव्य होता है कि पूर्वज्ञान में मुझे कामादि अनेक इय थे, परन्तु अब मुझको कुछ इय नहीं । तीसरी अवस्था में

अस्थिर होनेसे योगीको प्रतीत होता है, कि अब मुझे कोई वस्तु का प्राप्त करना अवशिष्ट नहीं है, सब कुछ मुझे प्राप्त होगया है । चतुर्थ वह भूमिका है जिसमें योगी को यह ज्ञान प्राप्त होता है, कि मैंने सम्प्रज्ञात समाधि से विवेकख्याति की भावना प्राप्त करली अब मुझे भावनीय कोई पदार्थ नहीं रहा । यह चारों कार्य विमुक्ति कहलाती हैं । चित्तविमुक्ति अवस्थाओं में स्थिर होने से योगी को यह ज्ञान होता है, कि पूर्व काल में मैं अनेक बुद्धिजन्य दुःखों से ग्रस्त था, किंतु अब सब दुःख क्षय हो गये, दूसरी भूमिका में प्राप्त होनेसे योगी को यह परिज्ञान होता है कि मेरे अन्तःकरणके गुण दग्धबीज होगये हैं अब पुनः उनकी उत्पत्ति नहीं होगी जब योगी तृतीय भूमिका अथवा सप्तम भूमिका में प्राप्त होता है तब उसका चित्त और बुद्धि लय होते हैं उस अवस्था को कैवल्य कहते हैं ॥ २७ ॥

भो० वृ०—तस्योत्पन्नविवेकज्ञानस्य ज्ञातव्यविवेकरूपा प्रज्ञा प्रान्तभूमौ सकलासालम्बनसमाधिपर्यन्ते सप्तप्रकारा भवति । तत्र कार्यविमुक्तिरूपा चतुःप्रकारा-ज्ञातं मया ज्ञेयं न ज्ञातव्यं किञ्चिदस्ति, क्षीणा मे क्लेशा न किञ्चित् हेतव्यमस्ति, अधिगतं मया ज्ञान प्राप्ता मया विवेकख्यातिरिति । प्रत्ययान्तरपरिहारेण तस्यामवस्थायामी दृश्येव प्रज्ञा जायते ईदृशी प्रज्ञा कार्यविषयं निर्मलं ज्ञान कार्यविमुक्तिरित्युच्यते । चित्तविमुक्तिस्त्रिधा-चरितार्था मे बुद्धिर्गुणा हृताधिकारा गिरिशिखिरनिपतिता इव ग्रीवाणो न पुनः स्थित यास्यन्ति, स्वकारणे प्रविलयाभिमुखानां गुणाना मोहाभिधानमूलकारणाभावान्निष्प्रयोजनत्वाच्चासीषा कुतः प्ररोहो भवेत्, सात्मी भूतश्च मे समाधिः तस्मिन् सति स्वरूपप्रतिष्ठोऽहमिति ईदृशीत्रिकारा चित्तविमुक्तिः । तदैवमीदृश्या सप्तविधप्रान्तभूमि-प्रज्ञायामुपजाताया पुरुषः केवल इत्युच्यते ॥ २७ ॥

विवेकस्यापि संयोगाभावात्तुरित्युक्तं, तस्यास्तृतीयौ चिन्ति
मित्तसित्याह ।

भा० ६० का भा०—जिसको विवेक ज्ञान उत्पन्न हुआ है उसको
चान्दन योग्य विवेक रूपी बुद्धिभूमि में सब आसम्भवन रूपी जब
स्था समाधि पर्यन्त ७ होती है उनमें से कार्यविमुक्त संज्ञक
प्रथम की चार भूमियों की प्राप्ति से योगी को यह भास्यमान होता
है कि ज्ञान को मैंने जाना है अब ज्ञातव्य कुछ सेप नहीं रहा है,
मेरे क्लेश क्षीण हो गये हैं अब हेतुव्य कुछ नहीं रहा है, मुझे
ज्ञान प्राप्त हुआ है, विवेकस्यापि मुझे प्राप्त हुई है, इस अवस्था
में पसी बुद्धि उत्पन्न होती है । इसही को निर्मल ज्ञानवासी बुद्धि
कहते हैं इसेही कार्यविमुक्ति अवस्था वा भूमिका कहते हैं ।
चित्तविमुक्ति तीन प्रकार की मेरी बुद्धि परित्याग हुई अर्थात् मेरी
बुद्धि अपने कार्य को कर चुकी है गुणों के अधिकार समाप्त
होगये अर्थात् मेरे रजो गुणादि अधिकार नष्ट होगये हैं जैसे
पहाड़ के शिखर से गिरा जो पत्थर वह फिर पहाड़ के शिखर पर
नहीं पहुँचेगा वैसे ही अपने कारण में लय होजाने वाले गुणोंका
कारण जो मोह है उसका अभाव होने से सब गुण निष्प्रयोजन
होजाते हैं फिर वह किस प्रकार से उत्पन्न हो सकते हैं । मेरी
समाधि ठीक होगई है मैं इस ही अवस्था में अपने रूपमें स्थित
हूँ इसको चित्तविमुक्ति कहते हैं । अब यह ७ प्रकार की भूमिका
प्राप्त होजाती है तब पुरुष को मुक्त वा कैवल्यप्राप्त करते हैं
॥ २७ ॥ विवेकस्यापि संयोग के अभाव का हेतु है यह क्या
परम्पु विवेकस्यापि की उत्पत्ति का क्या कारण है ? इसका अगम्य
सूत्र में उत्तर करेंगे ॥

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिर्क्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक-
ख्यातेः ॥ २८ ॥

सूत्र का पदार्थ—(योगाङ्गानुष्ठानात्) योग के जो
८ अंग हैं उनके करने से (अशुद्धिर्क्षये) मलिनता नाश
हो जाती है और उससे (ज्ञानदीप्तिः) ज्ञानका प्रकाश
होता है (आविवेकख्यातेः) विवेकख्याति प्राप्त होने
तक ॥ २८ ॥

सूत्र का भावा०—योग के अंगों का क्रमशः अनुष्ठान करने से
ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति की प्राप्ति होने तक होता है ॥२८॥

व्या० दे० का भा०—योगाङ्गान्यष्टावभिधायिष्यमाणानि तेषा-
मनुष्ठात् पञ्चवर्षणोविपर्ययस्या शुद्धिरुपस्य क्षयः नाशः तत्क्षये-
सम्यक् ज्ञानस्याभिव्यक्तिः । यथायथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा
तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते यथा यथा च क्षीयते तथा तथा क्षयक्रमा-
नुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्विवर्द्धते । सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्ष-
मनुभवत्याविवेकख्यातेः आगुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थः योगा-
ङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोग कारणम् । यथा परशुश्चेद्यस्यविवेकख्या-
तेस्तु प्राप्तिकारणं यथा धर्मःसुखस्य—नान्यथा कारणम् । कति
चैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति नववेत्याह तद्यथा उत्पत्तिस्थि-
त्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा-
स्मृतमिति ।

तत्रोत्पत्तिकारणं मनो भवति विज्ञानस्य स्थितिकारणं मनसः
पुरुषार्थता शरीरस्येवाहार इति । अभिव्यक्तिकारणं यथा रूप-
स्याऽऽनोकस्तथा रूपज्ञानं विकारकारणं मनसो विषयान्तरम्

यथारिन्ः पाप्मस्य प्रत्ययकारणं धर्मज्ञानमग्निज्ञानस्य प्राप्ति-
कारणम् योगागालुष्यं विवर्कस्याप्तः वियोगकारणं तदेवाष्टमः ।
अभ्यस्यकारणं यथा सुखस्य सुखकारणं परमेष्ठस्य श्रीप्रत्ययस्या-
पि यथा मूढस्वहेतोः कुसुमस्वेरागः सुखस्य तद्वद्वानं माभ्यस्य । वृत्ति-
कारणं शरीरमभिध्यायाम् । तानि च तस्य मदानूतानि शरीरार्था-
तानि च परस्परं सर्वेषां तैर्मन्योनमानुषवैबतानि च परस्परार्थत्वा-
दित्येवं नवकारणानि तानि च यथासम्भवमप्यवर्णयित्वापि याव्यामि-
गागालुष्यं तु द्विषेव कारणस्वै समते इति ॥ २८ ॥

सत्र योगागाम्यवधार्यन्ते ।

भा० क० प०—योगक अङ्ग त्रिनयन आगे वर्णन किया जायगा
आठ हैं उनका अनुष्ठान करने से पाँच भाग वास्तु मिथ्या ज्ञान का
नाश हो जाता है उसका नाश हो जाने से यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति
होती है और जैसे २ साधन किये जाते हैं वैसे २ मल मूल दूता
जाता है और जैसे २ अपवित्रता नाश होती जाती है वैसे ही
वैसे कृप कर्म के अनुसार ज्ञान का भी प्रकाश बढ़ता जाता है यह
ज्ञान की वृद्धि विवर्क ह्याति अर्थात् गुण और पुण्य के स्वरूप
ज्ञान होने तक उत्कृष्टता को प्राप्त होती है । योगागोका अनुष्ठान
अपवित्रता के नाश का कारण है वैसे फरसा काष्ठ के लम्बे का
कारण है । तथा विवर्क ह्यातिक प्राप्ति का कारण है जैसे
धर्मके अतिरिक्त सुख का कारण अभ्य कार्य नहीं है । शास्त्र म
चित्तन कारण होते हैं १ नो होते हैं जिनके नाम वे हैं १ उत्पत्ति
२ स्थिति ३ अभिम्यक्ति ४ विचार ५ प्रत्यय ६ प्राप्ति ७ वियोग
८ अभ्यस्य और ९ वृत्ति ।

ये नव प्रकार के कारण शास्त्र म कहे हैं कर्म से ज्ञान की
उत्पत्ति का कारण मन है मन की पुरुषार्थता स्थिति का कारण है
जैसे शरीर का कारण आहार है । अभिम्यक्ति का कारण रूप

ज्ञान है जैसे रूप का प्रकाश । विकार का कारण मन का विपर्ययान्तर में जाना है । जैसे अग्नि पाक के विकार का कारण है । धुएँ का ज्ञान अग्नि ज्ञान के प्रलय का कारण है । योगागों का अनुष्ठान विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है और वही अशुद्धि के वियोग का भी कारण है । अन्यत्व कारण है जैसे सुवर्ण का सुनार । इसही प्रकार से एक स्त्री प्रत्ययमें अविद्या मोह का कारण होती है, द्वेष दुःख का कारण होता है, राग सुख का और तत्त्व ज्ञान वैराग्य का कारण होता है । शरीर, इन्द्रियो का धृति कारण है और इन्द्रियों शरीर की तथा महामूत शरीरों के मनुष्य योनि और देवयोनि का कारण है, इस प्रकार एक दूसरे के सहायक परस्पर ये ६ हैं । जहाँ २ सम्भव हो अन्य पदार्थों में भी लगाने चाहिये योगांग के अनुष्ठान तो दो ही प्रकार के कारण भाव को प्राप्त करते हैं ॥ २८ ॥

भा० का भावा०—योग के अंग जिनका आगे वर्णन किया जायगा उनका अनुष्ठान करने से पञ्चपर्व अविद्या नष्ट होती है उससे अपवित्रताका क्षय होता है और अपवित्रता के नाश होने से ज्ञान की प्राप्ति होती है, योगी जैसे २ जपादि का अनुष्ठान करता है वैसे ही मलिनता क्षय होती है और मलिनता क्षय के क्रम से ही ज्ञानोदय होता जाता है वह ज्ञान क्रम से उत्कृष्ट होता जाता है जिस प्रकार से सुख का कारण केवल धर्म है ऐसे ही मोक्ष प्राप्ति का यह योगांग कारण है ॥ २८ ॥

भो० वृ०—योगाङ्गानि वक्ष्यमाणानि तेषामनुष्ठानात् ज्ञानपूर्वकादभ्यासाद्वाविवेकख्यातेरशुद्धिक्षये चित्तसत्त्वस्य प्रकाशावरणरूपक्लेशात्मिकाशुद्धिक्षये या ज्ञानदीप्तिस्तारतम्येन सात्त्विकः परिणामो विवेकख्यातिपर्यन्तः स तस्याः ख्यातेर्हेतुरित्यर्थः ॥ २८ ॥

योगाङ्गानामनुष्ठानादशुद्धिक्षय इत्युक्तं, कानि पुनस्तानि योगाङ्गानि

इति तपासुदेशमाह ।

सू० पू० का भा०—अनि याग के अङ्गों का बखन किया जायगा उनके साधन अर्थात् ज्ञान पूर्वक अभ्यास से विवेकक्याति प्राप्त होती है और उससे अशुद्धि का दूध हो जाता है ज्ञान का प्रकाश होने से सात्त्विक परिणाम विवेकक्याति तक रहता है वही परिणाम विवेकक्याति का हेतु है ॥ २८ ॥

इस सूत्र में यह है कि योग के अङ्गों के साधन से अशुद्धि दूध होती है परन्तु यह योग के अङ्ग कौन हैं इसका वर्णन अगले सूत्र में करेंगे ।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणा समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

सू० का पदार्थ—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान धारणा, और समाधि योग के यह ८ अंग हैं ॥ २९ ॥

सू० का भा०—यमादिक योग के ८ अंग हैं ॥ २९ ॥

व्या० दे० का भा०—यथाक्रममेतेषामनुष्ठान स्वरूपञ्चषष्ट्यामः ॥ २९ ॥ तत्र—

भाष्य का पदार्थ—क्रम से इनका अनुष्ठान और सङ्ख्य भागे करेंगे ॥ २९ ॥

भाष्य का भाष्य—यमादि योग के ८ अंगों के सङ्ख्य भागे करेंगे ॥ २९ ॥

२९—इन अंगों से कुछ अंग योग के साक्षात् साधन हैं और कुछ परम्परा सम्बन्ध में योग में सहायता देते हैं जैसे यम और

नियम चित्त मे निर्मलता उत्पन्न करते हैं और चित्त शुद्ध होने से योग मे रुचि बढ़ती है, परन्तु यम साक्षात् समाधि के साधक नहीं हैं । इस ही से इन्हें योग का बहिरंग साधन कहना उचित है और प्राणायामादिक साक्षात् योग के साधन हैं अतएव अन्तरंग साधन कहे जाते हैं ॥ २६ ॥

भो० वृ०—इह कानिचित् समाधेः साक्षादुपकारकत्वेनान्तरंगाणि यथा धारणादीनि । कानिचित् प्रतिपक्षभूतहिंसादिवितर्कान्मूलनद्वारेण समाधिमुपकुर्वन्ति । यथा यमनियमादीनितत्रासनादीनामुत्तरोत्तरसुपकारकत्वम् । तद्यथा—सत्यासनजये प्राणायामस्थैर्यमेव मुत्तत्रापियोष्यम् ॥ २६ ॥ क्रमेणैषास्वरूपमाह

भो० वृ० का भा०—इनमे से कोई अंग योग के साक्षात् उपकारक होने से अन्तरंग हैं । जैसे धारणादिक कोई हिंसादि के प्रतिपक्षी होने से वितर्क के नाशक होने के कारण योग में उपकारक होते हैं जैसे यम नियमादि आसनादिक परम्परा से योग के साधक हैं जैसे आसन के जीतने के पश्चात् प्राणायाम स्थित होता है ऐसे ही योग के और अंगों को भी समझना चाहिये ॥२६॥ योग के अंगों का क्रम से लक्षण कहते हैं ।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

सू० का पदा०—(अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः) सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह अर्थात् विषयों का संग्रह न करना यम हैं ॥ ३ ॥

सू० का भा०—यम ५ हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ॥ ३० ॥

व्या० दे० का भा०—तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्व-

भूतानामनभिद्रोहः । उत्तरे च यमनियमांस्तन्मूलास्तरिसिद्धि
परतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते । तदवदातरूपकरस्या
यैवोपादीयन्ते तथाचाक्तम्-स सुन्वयः प्राप्स्यो यथा यथा
प्रदानि बहूनि समादिस्तव तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसा
निदानभ्योनिवसमानस्तामेषावदातरूपापहिंसां करासि ।

सत्यं यथार्थं वाङ्मनसे । यथा दृष्टं यथानुमितं तथा
वाच्यमर्थेति । परत्र स्वबोधसम्क्रान्तये वागुक्ता, सा यदि
न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवर्ज्या वा भवेदिति । एषा
सर्वभूतोपकाराय प्रवृत्ता न भूतोपधाताय । यदि चैवमप्य-
मिधीयमाना भूतोपधातपरैव स्यात् सत्यं भवेत् पापमव-
मवर्त्तनेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टन्तमः प्राप्नुयात्
तस्मात् परोक्ष्य सवशूतहितं सत्यं श्रूयात् ।

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः
पुनरसूहारूपमस्तेयमिति । अश्वधर्यं गुप्तेन्द्रियस्यापेक्ष्यस्य
सयमः । विषयाणामर्जनरक्षयस्यसगहिंसादोषदर्शनादस्त्री
करणमपरिग्रह इत्येते यमा ॥ ३० ॥ ते तु

भा० अ० प०—३४ पमों म से अहिंसा पसे कहत हैं जो सब
प्रकार से सब अश्व में प्राणिमात्र का अहित चिन्तन न करे और
अश्व अम और नियम नसे ही हात हैं उसकी सिद्धि के लिए ही
और यमादि प्रतिपादित किये जाते हैं उसका नियम और निर्मल-

करने के लिए ग्रहण किये जाते हैं ऐसा ही अन्यत्र कहा है यद् ब्रह्मा को जानने वाला योगी जैसे जैसे बहुत से व्रतों को धारण करने की इच्छा करता है तैसे ही तैसे प्रमाद से किये हुए हिंसा के कारण रूप पापों से निवृत्त होकर उस ही निर्मल रूपवाली अहिंसा को धारण करता है ।

अब सत्य को कहते हैं जिसमें मन और वाणी यथार्थ रहे जैसा देखा हो जैसा अनुमान किया हो वैसा ही अपने मन और वाणी को रखना । दूसरे मनुष्य में अपने ज्ञान को जतलाने के लिए जो वचन कहा जाय वह वाक्य न छल कपट भरा, न भ्रम देने वाला और न निरर्थक हो । वह वाणी सब प्राणियों के उपकार के वास्ते कही गई हो किन्तु प्राणियों के नाश के वास्ते न कही गई हो यदि वह कहा हुआ वाक्य प्राणियों का उत्पीडक हो तो वह सत्य नहीं होगा उसके अनुसार आचरण करने से पाप ही होता है पुण्याभाव अर्थात् जो पुण्य के नाम से स्वार्थ साधन किया जाता है और अपुण्य के कृत्य से कष्ट पाता है इसलिये परीक्षा करके जिसमें सब प्राणियों का हित हो ऐसा सत्य ही बोले ।

चोरी उसको कहते हैं कि निषिद्ध रीति से दूसरे का द्रव्य लेना । उस के निषेध को अस्तेय कहते हैं । तृष्णा से भी चोरी होती है इस लिए तृष्णा का त्याग भी अस्तेय है । ब्रह्मचर्य का अर्थ यह है कि लिंगेन्द्रिय का निरोध करना अर्थात् वीर्यरक्षा । विषयों का संग्रह करने में फिर उनकी रक्षा करने में और उनके नाश में सर्वत्र हिंसारूप दोष को देख कर जो विषयों का त्याग है उसे अपरिग्रह कहते हैं ॥ ३० ॥

भा० का भा०—अहिंसा उसे कहते हैं जो किसी प्रकार किसी काल में भी किसी प्राणी की शत्रुता का न करना यह अहिंसा अन्य ४ यमों की मूल है, क्योंकि अहिंसा के सिद्ध करने को ही

पमादि किय जात है । सत्य उसे कहते हैं, कि जैसा अपना छठ वा अनुमित विषय हो वैसा ही प्रकाशित करना और जिसे जबरन करना उसे निष्कपट मित्रात्त पेस शब्दों में करना दिन से उसे बोध हो जाय, जिसमें प्राणियों का उपद्रव यह सत्य नहीं है और जो पुण्याभास है उससे धर्म नहीं होता किन्तु पाप ही होता है इसलिप सावधानी से सत्य की परीक्षा करके अपने मन को धर्म से उचित है । अस्त्य का अर्थ है कि शास्त्र विरुद्ध रीति से किसी के धर्म को प्रत्यक्ष न करना या इन्द्रियों का निरास किया जाता है उसे अस्त्य कहते हैं । विषयों का जो दोष दृष्टि से त्यागना है उस अपरिमह कहते हैं यह ५ यम हैं ॥ ३० ॥

भा० पु०—उत्र प्राणवियोगप्रयोजनव्यापारो हिंसा । सा च सर्वा-
मर्थ हेतुः । प्रथमं तदभाषोऽहिंसा । हिंसायाः सर्वप्रकारेणैव परि-
हाय्यत्वात् प्रथमं तदभाषरूपाया अहिंसाया निर्देशः । सत्यं वाङ्-
मनसोयबार्थस्यम् । स्तेयं परस्वापहरणं तदभाषोऽस्वयम् अथ
मुपस्वसंयमः । अपरिमहो मागसाधनानाममङ्गीकारः । तत्र पतेऽ-
हिंसामयं पञ्च यमशब्दवाच्या यागाङ्गत्वन निर्दिष्टाः ॥ ३ ॥ एषां
विशेषमाह —

भो पु० का भा —इसमें हिंसा का अर्थ यह है कि किसी प्राणी के शरीर को प्राण से सुषा कर देने के प्रयोजन से जो क्रिया की जाती है उसे हिंसा कहते हैं । यह हिंसा सब अनर्थों का हेतु है । उसके अभाव को अहिंसा कहते हैं क्योंकि अहिंसा में सब प्रकार की हिंसा निवृत्त हो जाती है । इस ही कारण प्रथम अहिंसा का वर्णन किया गया है । सत्य का अर्थ यह है कि वाणी और मन को ठीक रखना । चोरी का अर्थ यह है कि पराये धर्म को छीन लेना और उसके अभाव को अस्तेय कहते हैं । अस्त्य का अर्थ यह है कि सिंग इन्द्रिय को परा में रखना । अपरिमह का

अर्थ यह है, कि भोग साधन की सामग्रियों को ग्रहण न करना ।
योग के अंगों में से अहिंसादिक ५ योग के अंग कहाते हैं ॥ ३० ॥
इनका विशेष वर्णन करते हैं—तेतु

**जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमाः
महाव्रतम् ॥ ३१ ॥**

सू० का पदा०—(जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः)
जाति, देश, काल और समय से अनाव्रत (सार्वभौमाः)
सर्व पृथिवी और सब विषयों में पालन करना (महाव्रतम्)
महाव्रत है ॥ ३१ ॥

सू० का भा०—जाति, देश, काल और समय में आवद्ध न
होकर इन चारों का सर्वथा परिपालन करना महाव्रत कहाता है ॥३१

व्या० दे० का भा०—तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना
मत्स्यवधकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा । सैव देशाव-
च्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामीति । सैव कालावच्छिन्ना न
चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनि हनिष्यामीति । सैव त्रिभिरुपरतस्य
समयावच्छिन्ना देवब्रह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति ।
यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति । एभिर्जाति-
देशकालसमयैरनवच्छिन्ना आहसादयः सर्वथैव परिपाल-
नीयाः । सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविदितव्यभिचाराः
सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्ते ॥ ३१ ॥

भा० का पदा०—(तत्राहिंसाजात्यवच्छिन्नाः) उनमें से जाति

के अनुसार अहिंसा यह है कि मछली पकड़ने वाले की हिंसा केवल मछलियों के मारने में है अन्यत्र नहीं। वही हिंसा देश-सम्बन्धिनी होती है, (न तीर्थे इतिप्यासीति) तीर्थ स्थापनमें हिंसा न करेगा वही काशसम्बन्धिनी होती है चतुर्वर्गी को या और किसी पुण्यतिथि में हत्या न करेगा इन तीनोंसे विरक्त है उसे समय सम्बन्धिनी। दशता ब्राह्मण के वास्तव हिंसा करेगा और ऐसे ही क्षत्रियों की युद्ध ही में हिंसा होती है अन्यत्र नहीं। इन जाति, वंश, काश और समयोंसे असम्बन्धित अहिंसादि यम सप्त प्रकार से पाक्षन करने योग्य हैं। सब अवस्थाओं में सब विषयों में सब प्रकारसे जिसमें व्यभिचार न हो, यह सार्वभौम महाव्रत कहाता है ॥ ३१ ॥

भा० का भा०—जातिवर्णभेद हिंसा यह कहाती है जो जाति से सम्बन्ध रखती है जैसे मछुआ जाति में मछली मारना वंश सम्बन्धिनी हिंसा यह है जो किसी वंश के सदस्यों की आय ऐसे ही काश और समय सम्बन्धिनी भी हैं इनसे सर्वथा निवृत्त होने का सार्वभौम महाव्रत कहते हैं ॥ ३१ ॥

३१ सूत्र—जाति ब्राह्मणस्य अर्वात् ब्राह्मणों को न मारुगा, ऐसे ही अन्यत्र तीर्थ या चतुर्वर्गीके दिन हत्या न करेगा अथवा देशताओं के निमित्त ही हत्या करेगा इस पक्षपात को त्याग कर पसी प्रतिष्ठा करना कि मैं कभी किसी प्रयोजन के वास्ते भी हिंसा का नहीं मार्गगा ऐसे ही सत्त्व वालन चारी न करने अर्थात् प्रण को सार्वभौम महाव्रत कहते हैं। यहाँ पर सार्वभौमका अर्थ उक्त ७ प्रकार की भूमियों में स्थिर रहने वाला है ॥ ३१ ॥

भा० ३०—जातिर्ब्राह्मणत्वादिः। वंशस्तोर्वादिः। अक्षय्यतु-
र्वश्यादिः समया ब्राह्मणप्रयोजनादिः। क्षीय्यतुर्भिरन्यथिभ्यः
पूर्वोक्त्य अहिंसान्या यमाः सवासु विज्ञादिषु चित्तभूमिषु मया

महाव्रतमित्युच्यते । तद्यथा ब्राह्मणं न हनिष्यामि तीर्थे न कचन हनिष्यामि । चतुर्दश्या न हनिष्यामि । देवब्राह्मणप्रयोजनव्यतिरेकेण कमपि न हनिष्यामीति । एतच्चतुर्विधावच्छेदव्यतिरेकेण किञ्चित् क्वचित् कदाचित् कस्मिंश्चिदर्थे न हनिष्यामीत्यवच्छिन्ना । एवं सत्यादिषु यथायोग्यं योज्यम् । इत्यमनियतीकृताः सामान्येनैव प्रवृत्ता महाव्रतमित्युच्यते न पुनः नियमानाह-परिच्छिन्नावधारणम् ॥ ३१ ॥

भो० वृ० का भा०—जाति का अर्थ ब्राह्मणत्व आदि है न्याय दर्शन में जाति के दो लक्षण लिखे हैं एक “समानप्रसवात्मिका जातिः” अर्थात् जिन समस्त व्यक्तियों में किसी विशेष गुण के कारण देखने वालों को समान बुद्धि उत्पन्न हो उसे जाति कहते हैं । जैसे गोत्वधर्मावच्छिन्न समस्त व्यक्ति गौ कहलाती हैं ऐसे ब्राह्मणत्व गुणविशिष्ट मनुष्य ब्राह्मण जाति के कहलाते हैं । दूसरा लक्षण “साधर्म्यवैधर्म्याभ्या प्रत्यवस्थानं जातिः” लिखा है इसका अर्थ भी यही है कि साधर्म्य और वैधर्म्य से जिसका निर्णय होता है उसे जाति कहते हैं । देश का अर्थ स्थान विशेष जैसे काशी आदि है, काल का अर्थ चतुर्दशी आदि है समय का अर्थ दिन का कोई भाग सन्ध्या आदि है इन सबके सम्बन्ध से रहित जो अहिंसादि यमों का पालन करना है उसे सार्वभौम महाव्रत कहते हैं अर्थात् क्षिप्त वा मूढ आदि किसी अवस्था में भी इनका परित्याग न करना, तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण का न मारूँगा, तीर्थ में हत्या न करूँगा, चतुर्दशी को किसी प्राणी का वध न करूँगा, देवता ब्राह्मण के हित साधन के अतिरिक्त हत्या न करूँगा इत्यादि चार प्रकार के प्रयोजन से युक्त जो हत्या है उनको जात्यवच्छिन्न, देशावच्छिन्न, कालावच्छिन्न और समयावच्छिन्न हत्या कहते हैं और किसी प्राणी का वध न करूँगा, किसी स्थान

में भी इत्या न करूँगा किसी दिन या समय में भी इत्या न करूँगा और किसी प्रयोजन से भी इत्या न करूँगा इस व्रत के धारण करने को सार्धमौम कहते हैं, ऐसे ही यमोंको भी सम्मत्ता चाहिये ॥ ३१ ॥

अगले सूत्र में नियमों का वर्णन करेंगे ।

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

सू० का पदा०—[शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि] शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान [नियमाः] ये ५ नियम कहाते हैं ॥३२॥

सू० का भा०—शौच आदि नियम कहाते हैं ॥ ॥ ३२ ॥

व्या० दे० का भा०—तत्र शौच मृगमृदादिजनित मेघ्याम्यषहरणादि च वायम् । आभ्यन्तरविषमस्नानामा वासनम् । सन्तोषः—सन्निहितसाधनदधिक्रम्यानुपादि-त्सा तपो—इन्द्रसहनमृगन्दाश्च विषस्त्रापिपासे शीताप्या स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च । व्रतानि चैषा यथायोगं कृच्छ्रघ्नान्त्रायश्चसान्तपनादीति स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणां मध्ययन प्रश्वस्रपो वा ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सुवर्कर्मपथम् ।

शुभ्यासनस्थोऽथ पथि मज्जन्वा, स्वस्यः परिषीकृतिकेवातः

ससारबोधयमीषमाणः स्यान्नित्यपुक्तोऽमृतमागमागो ॥

यत्रदमुक्तततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तराया भावरचति ३२

भा० का प०—अथ शौच का अर्थ करते हैं । मट्टीजलादि से अथवा पवित्र आहारादि से बाह्य शौच होता है और चित्त मलों के प्रक्षालन से आभ्यन्तर प्राप्त साधन से अधिक की इच्छा न करना सतोष कहाता है । द्वन्द्व सहनका नाम तप है । भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, स्थान, आसन, काष्ठ मौन आकार मौनः को द्वन्द्व कहते हैं यथा कृच्छ्रचान्द्रायण और सान्तपन आदि व्रत कहलाते हैं । मोक्षशास्त्रों का पढ़ना अथवा प्रणव का जप स्वाध्याय कहलाता है । ईश्वर में सब कर्मों का अर्पण कर देना ईश्वर प्रणिधान है । शय्या वा आसन पर बैठा वा चलता वा स्वस्थ, गत-वितर्कजाल ससारके बीजको नष्ट देखता हुआ नित्य मुक्त और मोक्षभागी होता है जहाँ यह कहा जाता है वहाँ परमात्मा के ज्ञानकी प्राप्ति होती है और विघ्नो का नाश होता है ॥ ३२ ॥

भा० का भा०—मट्टी और जलादि से स्नान और शोधन बाह्यशौच सत्यादि के आचरण से चित्त शुद्धि करना अन्तःशौच कहाता है । सन्निहितसाधन की अनिच्छा सन्तोष कहाती है । सर्दी, गर्मी, भूख, प्यासका सहना मौन, कृच्छ्रचान्द्रायण आदिका करना तप कहाता है मोक्षनिरूपक शास्त्रों के पढ़ने तथा प्रणव के जप को स्वाध्याय कहते हैं । जो कर्म करे उसको ईश्वर में अर्पण करदे इसको ईश्वरप्रणिधान कहते हैं । सोता, बैठता, चलता, स्वस्थ, निवृत्तवितर्क—संसारबीज को ग्रहण न कर जो पुरुष रहता है वह मोक्षपदको प्राप्त होता ॥ ३२ ॥

भो० वृ०—शौचं द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरञ्च । बाह्यं मृज्जलादिभिः कायादिप्रक्षालनम् । आभ्यन्तरम् मैत्र्यादिभिश्चित्तमलाना

ॐ संकेत से भी अपने अभिप्राय को प्रकट न करना काष्ठमौन और मुँह से न बोलना आकार मौन कहलाता है ।

अष्टाङ्गनम् सम्प्रोपस्तुष्टिः शेषाः प्रागेव कृतव्याख्याना एते शौचा
व्यो नियम शब्दवाच्या ॥ ३२ ॥ कथमेवा योगागत्वमित्याह ।

भा० सू० का भा०—शौच वा शुद्धता दो प्रकार की है एक
बाह्य और दूसरी आभ्यन्तर । सही और सज्ज आदिसे जो स्फुट
शरीर का घटना है उसे बाह्यशुद्धि कहते हैं मैत्री और मुदिता
आदि से जो चित्तके मल्लों को दूर करना है उसे आभ्यन्तरशुद्धि
कहते हैं सम्प्रोप शुद्धि का अर्थ है और नियमोंका व्याख्यान
प्रथम ही कर चुके हैं यह शौच आवि नियम कहाव हैं ॥ ३२ ॥
यह योग के अङ्ग क्योंकर हैं इसका घटन भागे किया आसगा—

वितर्कवाघनेप्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

सू० का पदा०—(वितर्कवाघन) विघ्नों की वाघा
होने पर (प्रतिपक्षभावनम्) प्रतिकूल भावना करे ॥ ३३ ॥

सू० का भा०—हिंसादि विघ्नों की वाघा होनेपर उनके विरुद्ध
भाषना करे ॥ ३३ ॥

व्या० दे० का भा०—यदास्य मासस्य हिंसादयो
वितर्का आयेरन्निष्पाम्यदमपकारिणमनृतमपि वचयामि
द्रव्यमप्यस्य स्वाकरिष्यामि दारेषु चास्य अपवायीमविष्यामि
परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामीति एवमु मार्गप्रवक्ष्यति
कञ्चरणातिदीप्तेन वाप्यमानस्तत्प्रतिषान् भाषयेत् । चोरेषु
ससारांगारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपागतः सर्वमृताभय-
प्रदानेन योगधर्मः स स्वच्छं त्यक्त्वा वितर्कान् पुनस्ताना
तदानस्तुष्यः श्वपुत्तनेति भाषयत् यथा श्वा वान्तावलेही

तथा त्यक्तस्य पुनराददान इति । एवमादिसूत्रान्तरेष्वपि
योज्यम् ॥ ३३ ॥

भा० का पदा०—जब इस योगीको हिसादिक वितर्क उत्पन्न हो तब मैं शत्रु को मारूँगा, भूँठ भी वोल्छूँगा, इसका द्रव्य भी छीन लूँगा, इसकी स्त्री से कुकर्म करूँगा और इसके धनका स्वामी हूँगा इत्यादि कुमार्ग में लेजानेवाले उद्धीत वितर्क उबर से बाध्यमान उनके प्रतिपक्ष की हृदय में भावना करे । घोर संसार अंगारों में पकते हुये मैंने प्राणिमात्र का अभयदान देने के लिये योगधर्म की शरण ली है सो मैं इसको छोड़ कर पुनः वितर्कों को ग्रहण करके कुत्तेके समान प्रवृत्त होता हूँ ऐसी भावना करे । जैसे कुत्ता वमन कियेको खाता है तैसे ही छोड़े हुये को फिर ग्रहण करनेसे मेरी वैसे ही दशा होगी ॥ ३३ ॥

भा० का भा०—जब इस ब्राह्मण की हिसादि कुकर्मों में बुद्धि जाय और ये मति होय कि मैं इसको मार डालूँगा, गाली दूँगा, द्रव्य ले लूँगा, स्त्री छीन लूँगा, इसके संसार का स्वामी हो जाऊँगा इत्यादि तब जाने कि कुमार्ग के अतितीक्ष्ण उबर से बाधित हूँ और घोर संसार के अंगारों से पकता हूँ अब मुझको समस्त प्राणियों को निर्भय दानपूर्वक योगधर्म ही की शरण लेना चाहिये सो मैं वितर्कों को त्यागके (योग धर्मों को) ग्रहण करूँ ऐसी भावना करे ॥ ३३ ॥

३३ सू०—योगी को जब जान पड़े कि मेरा चित्त वितर्क अर्थात् योग के विरुद्ध चल रहा है तब उसे चाहिये कि वितर्कों को ओर से अपने चित्त को रोके और समझे कि संसार के विषयों को मैंने त्याग दिया है अब उनको ग्रहण करना ऐसा है जैसे उगले हुए को खाना ।

भो० वृ०—वितर्क्यन्ते इति वितर्काः । योग परिपन्थिनो हिंसा
दयस्तेषां प्रतिपक्षमाचने सति यदा वाचा मयसि तदा योगः सुकरा
मयस्येष यमनियमात्मा योगांगत्वेन ॥ ३२ ॥ इदानीं वितर्काणां
स्वरूपं मदप्रकारं कारणं फलं च क्रमेणाह ।

भा० वृ० का मा०—वितर्क किया जाय जिनके द्वारा उनको
वितर्क कहते हैं योग के शत्रु हिंसादिक वितर्क कहात हैं उन
वितर्कों के यह यम नियम शत्रु हैं इनके द्वारा योग सुगम होता है
इस कारण यम और नियमादि योग के अङ्ग कहात है ॥ ३३ ॥
आगे वितर्कों के लक्षण भेद प्रकार, कारण और फल का वर्णन
करेंगे—

हिंसादय कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोध
मोह पूर्वका वितर्का सुदुमभ्याधिमात्रा दुःखाज्ञा
नानन्त फला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

वृ० का पदा —(वितर्क हिंसादय) वितर्क हिंसादि
हैं (कृतकारितानुमोदिता) स्वयं किये वा दूसरे से कराये
वा जिनके करने में सम्मति दी हो (लोभ क्रोधमोहपूर्वका)
लोभ से क्रोध से माह से (सुदुमभ्याधिमात्रा) सुदु मध्य
आर मात्र (दुःखाज्ञानानन्तफलाः) अनन्तदुःख और

हों । ये सब दुःख अज्ञान के अनन्त फल देनेवाले हैं यही योग में प्रतिपक्षभावना कहाती है ॥ ३४ ॥

व्या० भा०—तत्र हिंसा तात्कृतावकारिताऽनुमोदि-
तेति त्रिधा । एकैका पुनस्त्रिधा लोभेन मांसचर्मार्थेन क्रोधे-
नापकृतमनेनेति मोहेन धर्मो मे भविष्यतीति । लोभक्रोध-
मोहाः पुनस्त्रिविधा मृदुमध्याधिमात्रा इति । एवं सप्तविंश-
तिर्भेदा भवन्ति हिंसायाः । मृदु मध्याधिमात्राः पुनस्त्रिधा
मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुरिति । तथा मृदुमध्यो मध्यमध्य-
स्तीव्रमध्य इति । तथा मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र
इति । एवमेकाशीति भेदा हिंसा भवति । सा पुनर्नियमवि-
कल्प समुच्चयभेदादसंख्येया, प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येय-
त्वादिति । एवमनृतादिष्वपि योज्यम् ।

ते खल्वमी वितर्का दुःखाज्ञानानन्त फला इति प्रति-
पक्षभावनम् । दुःखमज्ञानञ्चानन्तं फलं येषामिति प्रतिपक्ष-
भावनम् । तथा च हिंसाकस्तावत् प्रथमं वक्ष्यस्य वीर्यमाक्षि-
पति । ततश्च शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति । ततो जीविता-
दपि मोचयति । ततो वीर्याक्षेपादस्य चेतनचितनमुपकरणं
क्षीणवीर्यं भवति । दुःखोत्पादान्नरकतिर्यक्प्रेतादिषु दुःख-
मनुभवति जीवितव्यपरोपणात्प्रतिक्षणञ्च जीवितात्यये
वर्त्तमानो मरणमिच्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियतविपाक-
वेदनीयत्वात् कथञ्चिदेवोच्छ्वसिति । यदि च कथञ्चित्पु-

यथावायव्यगता हिंसा भवेत् तत्र सुखप्राप्तौ भवेदस्यायुरिति ।
एवमनृतादिष्वपि योज्यं यथासम्भवं । एवं वितर्काणाञ्चा-
मुमेवानुगतं विपाकमनिष्टं माषयन्न वितर्केषु मनः प्रणि-
दधीत ॥ ३४ ॥

भा० का प०—यहाँ हिंसा १-कृता-स्वयम् अपन शरीर द्वारा की गई २-करिता दूसरेके द्वारा कराई गई ३-अनुभाविता जिसमें अनुमति दी जाय इन भदोंसे हिंसा तीन प्रकार की है । फिर एक एक तीक्ष्ण प्रकार की है क्षाम से मांस और चमड़े के निमित्त क्रोध से इसमें मरणा अपकार किया है । मैं भी इसे मारूँ । मांस से सुमृक्क बलिदान चढ़ाने से घम होगा क्षाम, क्रोध और मांस ये भी पुनः ३ प्रकार के हैं मृदु मध्य और तीक्ष्ण इस प्रकार हिंसा के २७ भेद होते हैं । मृदु, मध्य और तीक्ष्ण फिर तीन प्रकार के हैं । १ मृदु २ मध्य मृदु और ३ तीक्ष्ण मृदु । १ मृदुमध्य २ मध्यमध्य, ३ तीक्ष्णमध्य । ऐसे ही १ ऐसे ही १ मृदुतीक्ष्ण २ मध्यतीक्ष्ण ३ तीक्ष्ण तीक्ष्ण । इस रीति से ८१ भेदवाली हिंसा होती है फिर बड़ी हिंसा नियम विकल्प और संप्रद के भेद से असंख्य भेद वाली है क्योंकि प्राणियोंके असंख्य भेद हैं । ऐसे ही असत्यापि के भी भेद समस्त पादिय । य वितर्क दुःख और अज्ञान आदि अनन्त फलों के सम शक्ति । ऐसी नापना करना ही प्रतिपक्षभाषना कहलाती है । जमे ही हिंसा करने वाला प्रथम तो जिसका घम करने की इच्छा करता है उसके घम की मित्रता या तिरस्कार करता है उसके पश्चात् शत्रुतादि में मार कर उसे दुःख देता है उसके अनन्तर प्रीति में उसे प्यारा देता है इसके पश्चात् उस इत्याकारी में जा पथ्य के घम कीय का तिरस्कार किया या इससे इसका भी जा कीय प्रद और चेतन का प्रीति की जा सामग्री है बड़ी पीछ

होजाता है जो हत्याकारी ने बध्य को शस्त्रादि से दुःख दिया था उससे हिंसक को भी नरक अर्थात् जन्म जन्मान्तरमें दुःख भोगना पड़ता है । जो हिंसकने जीव घात किया है जिस समय हत्याकारी का प्राणान्त होगा उस समय मरने की इच्छा करने पर भी दुःख का फल अवश्य भोग्य होने के कारण बड़े कष्टसे ऊर्ध्वश्वास होता है यदि किसी प्रकारकी पुण्ययुक्त हिंसा हो, उसमें सुख प्राप्त होकर मनुष्य अल्पायु होता है ऐसे ही मिथ्याभाषणादि के फल समझना जैसा सम्भव हो । इस से वितर्कोंके अनिष्ट फलको विचारकर वितर्कोंमें मनको न लगावे ॥ २४ ॥

भा० का भा०—हिंसा तीन प्रकार की होती है—१ अपने से की हुई २ और से कराई ३ सलाह से कराई पुनः एक २ तीन २ प्रकार की होती है एक लोभ से—अर्थात् इसके मारने से मुझे इतना मांस और चर्म मिलेगा, दो क्रोध से—अर्थात् इससे मेरा अपमान किया है मैं भी इसे मारूँ । तीसरे मोह से अर्थात् मुझे इसके मारने से धर्म होगा । लोभ, क्रोध, मोह से करी हिंसा पुनः ३, तीन प्रकार की होती है मृदु २ मध्य ३ तीव्र ऐसे हिंसा ७ प्रकार की है पुनः मृदु मध्य और तीव्र भी तीन २ प्रकार के हैं । १ मृदु मृदु, २ मध्यमृदु, ३ तीव्रमृदु । १ मृदुमध्य, २ मध्यमध्य, ३ मध्यतीव्र तैसे ही १ मृदुतीव्र, २ मध्यतीव्र, ३ तीव्रतीव्र । ये इस प्रकार हिंसाके ८१ भेद होते हैं । फिर नियम, विकल्प और समुच्चय भेद से असंख्य भेद होते हैं क्योंकि प्राणियों के असंख्य भेद हैं ऐसे ही असत्यादि के भेद भी जानना । ये हिंसादि वितर्क दुःख अज्ञादि अनन्त फल देने वाले हैं । हिंसा करने वाला पहले जिसके वध की इच्छा करता है तब उसके बल की निन्दा करता है फिर शस्त्रादि से उसे दुःख देता है इसके पश्चात् मार डालता है अतएव जैसे इसने उसके वीर्यादि का तिरस्कार किया था वैसे ही

यथावापगता हिंसा मवेत् तत्र सुखप्राप्तौ मवेदन्त्यापुरिति ।
एवमनृतादिष्वपि योज्य यथासम्भवम् । एवं वितर्काबाध्या
सुमेधानुपपत्तिरविपाकमनिष्टमावयन्न वितर्केषु मनः प्रवि-
दधीत ॥ ३४ ॥

भा० का प०—बर्णो हिंसा १—कृता-स्वयम् अपने शरीर द्वारा की गई २—कारिता दूसरेके द्वारा कराई गई ३—अनुमादिता जिसमें अनुमति दी जाय इस संबंधसे हिंसा तीन प्रकार की है । फिर एक एक तीन प्रकार की है लाभ से मांस और चमड़े के निमित्त क्रोध से इसमें मरग अपकार किया है । मैं भी इसे मारूँ । मांस से मुझको बलिदान चढ़ाने से घमं हागा सोम, क्रोध और मांस ये भी पुनः ३ प्रकार के हैं मृदु, मध्य और तीव्र इस प्रकार हिंसा के २७ भेद होते हैं । मृदु, मध्य और तीव्र फिर तीन प्रकार के हैं । १ मृदु २ मध्य मृदु और ३ तीव्र मृदु । १ मृदुमध्य २ मध्यमध्य, ३ तीव्रमध्य । ऐसे ही १ ऐसे ही १ मृदुतीव्र २ मध्यतीव्र ३ तीव्र तीव्र । इस रीति से ८१ भेदवाली हिंसा होती है फिर बड़ी हिंसा नियम, विकल्प और संग्रह के भेद से असंख्य भेद वाली है क्योंकि प्राणियोंके असंख्य भेद हैं । ऐसे ही असत्यादि के भी भेद असंख्य आदिय । ये वितर्क दुष्प्रकार और अज्ञान आदि अनन्त फलों के देन वाले हैं । ऐसी भावना करना ही प्रतिपक्षभाषमा कहलाती है । ऐसे ही हिंसा करने वाला प्रथम तो जिसका बल करने की इच्छा करता है उसका बल की सिद्धि या तिरस्कार करता है उसके पश्चात् शास्त्रादि से मार कर उसे दुःख देता है उसके अनन्तर जीवन से उसे दूरा देता है इसके पश्चात् उस हत्याकारी न जो बध्य के बल वीर्य का तिरस्कार किया या इससे इच्छा भी जो वीर्य अह और बेतम को जीने की जो सामग्री है बड़ी वीर्य

होजाता है जो हत्याकारी ने बध्य को शस्त्रादि से दुःख दिया था उससे हिंसक को भी नरक अर्थात् जन्म जन्मान्तरमें दुःख भोगना पड़ता है । जो हिंसकने जीव घात किया है जिस समय हत्याकारी का प्राणान्त होगा उस समय मरने की इच्छा करने पर भी दुःख का फल अवश्य भोग्य होने के कारण बड़े कष्टसे ऊर्ध्वश्वास होता है यदि किसी प्रकारकी पुण्ययुक्त हिंसा हो, उसमें सुख प्राप्त होकर मनुष्य अल्पायु होता है ऐसे ही मिथ्याभाषणादि के फल समझना जैसा सम्भव हो । इस से वितर्कोंके अनिष्ट फलको विचारकर वितर्कोंमें मनको न लगावे ॥ ३४ ॥

भा० का भा०—हिंसा तीन प्रकार की होती है—१ अपने से की हुई २ और से कराई ३ सलाह से कराई पुनः एक २ तीन २ प्रकार की होती है एक लोभ से—अर्थात् इसके मारने से मुझे इतना मांस और चर्म मिलेगा, दो क्रोध से—अर्थात् इससे मेरा अपमान किया है मैं भी इसे मारूँ । तीसरे मोह से अर्थात् मुझे इसके मारने से धर्म होगा । लोभ, क्रोध, मोह से करी हिंसा पुनः ३, तीन प्रकार की होती है मृदु २ मध्य ३ तीव्र ऐसे हिंसा ७ प्रकार की है पुनः मृदु मध्य और तीव्र भी तीन २ प्रकार के हैं । १ मृदु मृदु, २ मध्यमृदु, ३ तीव्रमृदु । १ मृदुमध्य, २ मध्यमध्य, ३ मध्यतीव्र तैसे ही १ मृदुतीव्र, २ मध्यतीव्र, ३ तीव्रतीव्र । ये इस प्रकार हिंसाके ८१ भेद होते हैं । फिर नियम, विकल्प और समुच्चय भेद से असंख्य भेद होते हैं क्योंकि प्राणियों के असंख्य भेद हैं ऐसे ही असत्यादि के भेद भी जानना । ये हिंसादि वितर्क दुःख अज्ञादि अनन्त फल देने वाले हैं । हिंसा करने वाला पहले जिसके बध की इच्छा करता है तब उसके बल की निन्दा करता है फिर शस्त्रादि से उसे दुःख देता है इसके पश्चात् मार डालता है अतएव जैसे इसने उसके वीर्यादि का तिरस्कार किया था वैसे ही

इसका बीघन पीछे बीघ होता है फिर बम्माभर में इसे अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं और मरणकाल में य मरना चाहता भी रहासापक्षेप करने से बड़ा खेद पाता है यदि किसी प्रकार से कोई हिंसा पुण्ययुक्त होय तो हिंसक का बम्माभर में सुख मिलेगा परन्तु अस्वायु होगा ऐसे ही असत्यादि में भी जानना । ऐसे वितर्कों के फल विचार कर इनमें मन न लगाव ॥ ३४ ॥

भाष्यवृत्तिः—एते पूर्वोक्त हिंसादयाः प्रथम त्रिधा मिथस्ते कृत-
कारितानुमोदनमेवेन । एतच्च स्वयं निष्पादिताः कृताः कुरु कुरीति
प्रयासकव्यापारेण्य ससुत्पादिताः कारिताः । अन्येन क्रियमाणाः
साभिस्त्यक्तीकृता अनुमादिताः । एतच्च त्रैविध्यं परस्परव्यामाह
निवारणायाच्यते । अग्यज्ञा मग्दमतिरेषं सम्पत् न मया स्वयं
हिंसा कृतंति नास्ति मे दोष इति । एतेषां कारणप्रतिपादनाय लोम
क्षेपमाह पूर्वेक इति । यद्यपि सामः प्रथमं निर्दिष्टस्तथापि सर्व-
कलेशानां मोहस्यानात्मनि आत्माभिमानसङ्गस्य निदानत्वात् ।
तस्मिन् सति स्वपरविभागपूर्वकरेण सामकोपाधीनामुद्भवात्
भूतस्वमवसेयम् । मोहपूर्विकसर्वाद्योपशान्तिरित्यर्थः । सामस्त्वध्या ।
क्रोध-कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलकं प्रवृत्तनात्मकमिश्रधर्मः प्रत्येकं कृता-
दिभेदेन त्रिप्रकारा अपि हिंसादया माहादिकारणत्वेन त्रिधा
मिथस्ते पयामेव पुनरवस्थामेवेन त्रैविध्यमाह । सुदुमभ्याधि
मात्राः । सुदुमो मन्दा म तीव्रा नापि मध्याः । मध्या मारि मन्दा
नापि तीव्राः । अधिमात्रास्तीव्राः पाश्चात्या नव भेदाः इत्थं त्रैविध्ये
सति सप्तविंशतिर्भवेति । सुदुमतीनामपि प्रत्येकं सुदुमभ्याधिमात्रमे
वाम् त्रैविध्यं सम्भवति । तद्यथायोगं यावन्म तद्यथा सुदुमदुमदु
मध्या सुदुतीव्र इति । एषां फलमाह । दुःखाद्यमानम्वकञ्चा । दुःखं
प्रतिदुःखतयाऽवमासमाना रात्रसमिश्रधर्मः । अद्यानं मिथ्याज्ञानं
संशयविषययत्नं च दुःखज्ञानं असन्तमपरिच्छिन्नं फलं यथा ते

तथोक्ताः । इत्थ तेषा स्वरूपकारणादिभेदेन ज्ञाताना प्रतिपत्तभाव-
नया योगिना परिहारः कर्त्तव्य इत्युपदिष्टं भवति ॥ ३४ ॥ एषा-
मभ्यासवसात् प्रकर्षमागच्छतामनुनिष्पादिन्यः सिद्धयो यथा
भवन्ति तथाक्रमेण प्रतिपादयितुमाह—

भो० वृ० का भा०—पूर्व कहे हुए हिंसादि के पहिले ३ भेद हैं,
एक कृत, दूसरा कारित, तीसरा अनुमोदित, जो हिंसादिक स्वयम्
किये जाते हैं उनको कृत कहते हैं, दूसरे से तुम करो तुम करो
ऐसा कहकर जो कराये जाते हैं उन हिंसादि वितर्कों को कारित
कहते हैं, अनुमोदित उसे कहते हैं जो दूसरा मनुष्य हिंसा करता
हो उसे अच्छा कहना व उसके उत्साह को बढ़ाना । हिंसा आदिके
यह तीन भेद इस वास्ते किये गये हैं जिससे हिंसक को यह भ्रम
न रहे कि मैंने हिंसा नहीं की वा इस हिंसा में मेरा क्या दोष है
क्योंकि मैंने हिंसा नहीं की ऐसा मन्दमति लोग कह सकते हैं । इन
हिंसादि के कारण लोभ, मोह और क्रोध हैं, यद्यपि सूत्र में लोभ
को पहले लिखा है परन्तु मोहसे ही सब क्लेश आत्मामें मान होते
हैं और मोह ही मनुष्य को अपने पराये के भेद में फंसाता है
और उससे ही लोभ और क्रोध की उत्पत्ति होती है इस कारण
मोह ही सब दोषों की जड़ है । तृष्णा को लोभ कहते हैं कर्त्तव्य
और अकर्त्तव्य के विवेक को नाश करने वाला अग्नि रूप जो
चित्त का गुण विशेष है उसे क्रोध कहते हैं । हिंसादिके जो कृत
आदि के भेद से तीन प्रकार हैं उनमें से प्रत्येक लोभ, मोह और
क्रोध के भेदसे फिर तीन तीन प्रकार के होते हैं, इन्हीं के फिर
अवस्था भेदसे तीन २ भेद होते हैं मृदु अर्थात् मन्द, मध्य
अर्थात् न मन्द और न तीव्र तीसरा भेद तीव्र है, पूर्व कहे ६ भेद
इन मृदु आदि के भेद से २७ प्रकार के होजाते हैं फिर मृदु आदि
के परस्पर भेद से ८१ होते हैं जैसे मृदुमृदु, मृदुमध्य और मृदु-

तीज, ऐसे ही मध्यमवु मध्यमव्य और मध्यतीज पथम् तीज सुवु, तीज मध्य और तीज तीज इत्यादि अब इन हिंसादि वितर्कों का फल कहते हैं दुःख और अज्ञान स्वी अनन्त फल को देते हैं दुःख उस कहते हैं, जो आत्मा के प्रतिकूल ज्ञान पदे वह खोखला स स्वप्न हुआ चित का धर्म दुःख कहाता है, संशय और विषय्यरूप ज्ञान को अज्ञान कहते हैं दुःख और अज्ञान है अनन्त अर्थात् असीम फल सिनका ऐसे उपयुक्त वितर्कों का सब स्वप्न और फल माद्वय हाशाय सब योगी का चाहिय कि ज्ञानका परि- त्याग कर पड़ी इस सूत्र का तात्पर्य है ॥ ३४ ॥

अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

सू० का पदा०—(अहिंसाप्रतिष्ठायाम्) अहिंसा की प्रतिष्ठा में (तत्सन्निधौ) उसके समीप (वैरत्यागः) वैरका त्याग होता है ॥ ३५ ॥

सू० का भा०—योगी का चित जब अहिंसा में स्थिर हाजाता है तब वह किसीसे वैर नहीं करता और न उससे कोई वैर करता है ॥ ३५ ॥

व्या० कु० भा०—प्रतिपक्षयावनात् हेतोर्हेयावितर्का यदास्य स्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिप्रदकं भवति । तद्यथा—

भा० का प०—विरुद्ध भावना से जब विर्क अनुसृष्टि धमक होकर त्यागने के योग्य हाते हैं तब अहिंसादि से स्वप्न वैश्वर्य योगी की सिद्धि का सूचित करता है ।

व्या० भा०—सर्वप्राणिनां भवति ॥ ३५ ॥

भाष्य का प०—अहिंसा की प्रतिष्ठामे सब प्राणियों से वैर होता है ।

भा० का भावार्थ—जब योगी क्रोध से विरत हो अहिंसा में सयम करता है तब उसका यह फल प्राप्त होता है कि कोई भी प्राणी उसके साथ वैर नहीं करता और न वह किसी से वैर करता है ॥ ३५ ॥

३५ सू० का वि०—जब योगी को अहिंसा सिद्ध हो जाती है तब उसके समीप जितने प्राणी आते हैं वह भी सब परस्पर के वैर को त्याग देते हैं, यहाँ पर यह सन्देह हो सकता है कि सिंहादि हिंसक जन्तुओं का स्वाभाविक वैर क्यों कर दूर हो सक्ता है ? इसका उत्तर यह है कि वैर किसी का भी स्वाभाविक गुण नहीं है क्योंकि जिस जन्तुका वैर स्वाभाविक गुण हो तो उसे अपने स्त्री पुत्र में भी प्रीति नहीं हो सक्ता है परन्तु ऐसा कोई जन्तु नहीं है जिसे अपने सजातीय से प्रीति न हो इससे सिद्ध होता है कि वैर वा प्रीति किसी का भी स्वाभाविक गुण नहीं है योगीमें विशेषता यही होजाती है कि वह अपने मन की शुद्धता के बल से दूसरे प्राणी के मन को शुद्ध बना देता है जिससे उसके समीप जाके सब प्राणी वैर को त्याग देते हैं । यह अनेक बार देखा गया है कि मिसमरेजिम के द्वारा दूसरे प्राणी के चित्त को खींच कर मूर्च्छित करके उसको स्वभावविरुद्ध कर्मों में लगा दिया गया है जब कि बालक्रीडनवत् क्रिया से ऐसा होना प्रत्यक्ष देखा गया है तो साक्षात् योगसे अपने समीप आये प्राणियों को वैर रहित कर देना क्या आश्चर्य है ? किसी २ का तो मत इस विषयमें ऐसा है कि “मन एव मनुष्याणाङ्गारणं बन्धमोक्षयोः” । बन्ध अर्थात् सांसारिक विषयों में आसक्ति और मोक्ष अर्थात् सांसारिक विषयों में विराग इन दोनों का कारण मन ही है एवम् किसी

विद्यान न सृष्टि ही को मनोमय माना है । इस सिद्धांतों का सविस्तर गूढ़वत्त्व प्रकाशित करने से प्रस्थ बहुत बड़ आयगा इस भयसे यहाँ पर हम उसे नहीं लिख सकते हैं ।

मो० ५०—तस्यार्हिसा भावयतः सन्निधौ सख्यपिराभिनाम
प्यद्भिज्जुलादीनां वैरत्यागा निम्नस्तरतयावऽस्त्वानं भवति । हिंसा
अपि हिंसस्य परित्यज्यन्तास्यचः ॥ ३५ ॥ सत्याभ्यासवतः किं
भवतीत्याह—

मो० ५० का मा०—जब यागी अहिंसा की याचना का संयम
करता है तब उसके समीप स्वाभाविक वैर रखने वाले सर्प और
भक्षु आदि भी वैरभाव को त्याग देते हैं अर्थात् मत्सरता का
त्याग कर रहते हैं । फलितार्थ यह हुआ कि हिंसा करना ही जिन
जन्तुओं का स्वभाव है वह भी हिंसारहित हो जाते हैं ॥ ३५ ॥
सत्य की प्रतिष्ठा से क्या लाभ होता है ? इसका उत्तर आगे
लिखा है ।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाभयत्वम् ॥ ३६ ॥

सू० का प०—(सत्यप्रतिष्ठायाम्) सत्यकी प्रतिष्ठा
में (क्रियाफलाभयत्वम्) क्रियाफल का आभय होता
है ॥ ३६ ॥

सू० का मा०—सत्यप्रतिष्ठा में क्रिया के फलका आभयभाव
होता है ॥ ३६ ॥

व्या० कृ मा०—धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः
स्वगप्राप्नुहीति स्वगप्राप्नोति अमोघास्य वागूभवति ॥ ३६ ॥

मा० का प०—तू धार्मिक होजा धार्मिक हो जाता है ।

स्वर्ग को प्राप्त हो, स्वर्गको प्राप्त होता है; इसकी वाणी अमोघ, अव्यर्थ होती है ॥ ३६ ॥

भा० का भा०—जब योगी सत्य के संयम में दृढ़ हो जाता है तब यह जो वचन कहता है वह निष्फल नहीं जाता ॥ ३६ ॥

वि०—इस सूत्र का यह अभिप्राय नहीं है कि योगी यदि पापी से कहे कि तू स्वर्ग को चला जा तो वह स्वर्ग पहुँच जाय, वरन इसका अभिप्राय यह है कि सत्य में प्रतिष्ठ होने से योगी को सत्य क्रियाओंका फल प्राप्त होता है अर्थात् योगी जिस मनुष्य को उपदेश करे कि तू धर्मात्मा हो तो वह पाप को छोड़ कर धर्म करने लगेगा और जिससे कहे कि तू स्वर्गको जा तो वह भी स्वर्गप्राप्ति के कार्य करने लगेगा और उन कर्मों से स्वर्गप्राप्त होगा । सूत्रकार और भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि सत्य प्रतिष्ठा से योगी के वचन निष्फल नहीं होते हैं ॥ ३६ ॥

भा० वृ०—क्रियमाणा हि क्रिया योगादिकाः फल स्वर्गादिकं प्रयच्छन्ति । तस्य तु सत्याभ्यासवतो योगिनस्तथा सत्य प्रवृष्यते यथा क्रियायामकृतायामपि योगी फलमाप्नोति । तद्वचनात् यस्य कस्यचित् क्रियामकुर्वतोऽपि क्रियाफल भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

अस्तेयाभ्यासवतः फलमाह ।

भो० वृ० का भा०—जो यज्ञादिक क्रिया की जाती हैं उनसे स्वर्गादिक फल प्राप्त होते हैं । जो योगी सत्य का अभ्यास करता है उसके सत्य की ऐसी प्रतिष्ठा होती है यज्ञादि क्रियाओं के बिना किये ही उनके फलरूप स्वर्ग को योगी पाजाता है, सत्याचारी योगी के वचन से और लोगों को भी स्वर्गादि का फल प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥ अस्तेय के अभ्यास का फल कहते हैं ।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

सू० का पदा०—(अस्तेयप्रतिष्ठायाम्) चोरी न करने से (सर्वरत्नोपस्थानम्) सब रत्नों की प्राप्ति होती है ॥ ३७ ॥

सू० का भा०—चोरी न करने से सब रत्नों की प्राप्ति होती है ॥ ३७ ॥

मा०—सर्वदिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि ॥ ३७ ॥

मा० का प०—सब दिशाओं के रत्न इसको प्राप्त होते हैं ॥ ३७ ॥

मा० का भा०—सब दिशाओं के रत्न इसका मिलते हैं ॥ ३७ ॥

३७ सू० वि०—अथ यागी अस्तेय अर्थात् चोरी न करने के अभ्यास में अपने चित्त को लगाता है तब उस सब रत्नों की प्राप्ति होती है अर्थात् जगत् के सब प्राणी उसका विश्वास करते हैं ।

मा० वृ०—अस्तेय यदाभ्यस्यति तदास्य तत् प्रकर्षाभिरभिज्ञाप स्यापि सर्वतो विभ्यामि रत्नानि उपतिष्ठन्ते ॥ ३७ ॥ ब्रह्मचर्य्यासस्य फलमाह—

मो० वृ० का मा०—अथ योगी अस्तेय अर्थात् चोरी (कायिक या मानसिक) न करने का अभ्यास करता है तब अभिज्ञाप न रहने पर भी विषय रत्नों की प्राप्ति होती है ॥ ३७ ॥ ब्रह्मचर्य्य के अभ्यास का फल कहते हैं ।

ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः ॥ ३८ ॥

सू० का मा०—(ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायाम्) ब्रह्मचर्य्य की स्थापना में (वीर्य्यलाभः) वीर्य का लाभ होता है ।

सू० का भा०—ब्रह्मचर्य्य स्थिर होनेसे वीर्य का लाभ होता है ॥ ३८ ॥

व्या० वे० का मा०—यस्य लाभोदप्रतिषान् गुणा

नुत्कर्षयति सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भव-
तीति ॥ ३८ ॥

भा० पदा०—जिसके लाभसे अप्रतिघ गुणों का उत्कर्ष और सिद्ध होता है शिक्षा करने योग्य विद्यार्थियोंको ज्ञान देनेमें समर्थ होता है ॥ ३८ ॥

भ० का भा०—जिस वीर्य के लाभसे पुरुष अप्रतिघ गुणों को प्राप्त कर सकता है और सिद्ध होने पर विनेय अर्थात् शिक्षा करने योग्य मनुष्यों को ज्ञान देने में समर्थ होता है ॥ ३८ ॥

भो० वृ०—यः किल ब्रह्मचर्यमभ्यस्यति तस्य तत् प्रकर्षान्ति-
रतिशयं वीर्यं सामर्थ्यमाविर्भवति । वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्यतस्य
प्रकर्षाच्छरीरेन्द्रियमनःसुवीर्यं प्रकर्षमागच्छति ॥ ३८ ॥ अपरि-
ग्रहाभ्यासस्य फलमाह—

भो० वृ० का भा०—जो योगी ब्रह्मचर्य का अभ्यास करता है उसको ब्रह्मचर्य के प्रकर्ष से अधिक सामर्थ्य उत्पन्न होती है वीर्य के निरोध से और ब्रह्मचर्य के बल से इन्द्रिय और मन का उत्साह बहुत बढ़ जाता है ॥ ३८ ॥

अपरिग्रह के अभ्यास से जन्म कथन्ता का ज्ञान होता है, कथन्ता का अर्थ यह है कि प्रकारार्थक कथम् शब्दसे भावमें 'तल्' प्रत्यय करने से 'कथन्ता' शब्द सिद्ध हुआ है ? योगी को पूर्व-जन्म की कथन्ता का ज्ञान होता है अर्थात् पूर्वजन्म कैसा था और परजन्म कैसा होगा ? योगी इस बातको जानता है ॥ ३९ ॥

अपरिग्रह के अभ्यास के फल कहते हैं ।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥

सू० का प०—(अपरिग्रहस्थैर्ये) अपरिग्रह के स्थिर

होने पर (जन्मकपन्तासम्बोधः) जन्म क्यों हुआ इस का बोध होता है ॥ ३८ ॥

सू० का भा०—प्रतिपद न करना अपरिग्रह कहा जाता है उसका स्थिर ज्ञानसे जन्म क्यों हुआ इसका बोध होता है ॥ ३८ ॥

व्या० का भा०—अस्य भवति । कोऽहमासं कथमहमासं किं स्विदिदं कथस्विदिदं के वा भविष्यामः कथं वा भविष्याम इत्येवमस्य पूर्वान्तपरास्तमप्येष्वात्मभावविज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते । एता यमस्यैर्येसिद्धयः ॥ ३९ ॥ नियमेषु धर्म्ममाः—

भा० का पदार्थ०—यागीका यह ज्ञान होता है कि मैं पूर्वजन्ममें कौन था कैसे मैं था, क्या यह है कैसे यह है, या जागे हम क्या होंगे या कैसे होंगे । इस प्रकारसे इस पुरुषके पूर्वजन्म परजन्म और मध्य में आत्म स्मभावके ज्ञानन की इच्छा स्वरूप से उपावर्तित होती है (यह सिद्धया) यमों की स्थिरतासे ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ३९ ॥

अथ नियमों की सिद्धियाँ कहते हैं—

भा० का भा०—इसको अर्थात् जिसको अपरिग्रह स्थिर है यह विज्ञासा होती है कि मैं पूर्व जन्म में कौन था कैसे था, यह वर्तमान जन्म क्या है, कैसे है । जागे क्या होंगे कैसे होंगे ? पूर्व पर और मध्यमें आत्मभाव ज्ञानन की इच्छा अपने रूपसे उपावर्तित होती है । ये सब स्थिर सिद्धियाँ यमों के सेवन से प्राप्त होती हैं । तात्पर्य यह है कि त्यागी का अनेक जन्मों का ज्ञान होता है ॥ ३९ ॥

३९ सू० वि०—त्याग का अभ्यास होनेसे यागी का भूत और भविष्यत् जन्मों का ज्ञान होता है इस ही योगशास्त्र के माध्यम से

अणिमाण्डव्य ऋषि का उदाहरण लिखा है कि उनको अपने १२ जन्मों का ज्ञान था ॥ ३६ ॥

भो० वृ०—कथमित्यस्य भावः कथन्ता जन्मनः कथन्ता जन्मकथन्ता तस्याः संबोधः सम्यक् ज्ञानजन्मान्तरेकोऽहकासं कीदृशः किं कार्यकारीति जिज्ञासायां सर्वमेव सम्यग्जानातीत्यर्थः । न केवलं भोगसाधनपरिग्रह एवपरिग्रहो यावदात्मनः शरीरपरिग्रहोऽपि परिग्रहः भोगसाधनत्वाच्छरीरस्य । तस्मिन् सति रागानुबन्धाद्विर्मुखायामेव प्रवृत्तौ न तात्त्विकज्ञानप्रादुर्भावः । यदा पुनः शरीरादिपरिग्रहनेरपेक्षेण माध्यस्थ्यमवलम्बने तदा मध्यस्थस्य रागादित्यागात्सम्यग् ज्ञानहेतुर्भवत्येव पूर्वाऽपरजन्मसंबोधः ॥३६॥ उक्ता यमाना तद्वयः ।

होने पर (अन्मकथन्तासम्भोषः) अन्म क्यों हुआ इस का बोध होता है ॥ ३६ ॥

सु० का मा०—प्रतिग्रह न करना अपरिग्रह कहा जाता है उसके स्थिर ज्ञानसे अन्म क्यों हुआ इसका बोध होता है ॥ ३६ ॥

व्या० का मा०—अस्य भवति । कोऽहमासं कथमहमासं किं स्थितिद कथस्थितिद के वा मविष्यामः कथं वा मविष्याम इत्येवमस्य पूर्वान्तपरान्तमभ्येष्टात्मभाव विज्ञाता स्वरूपेणोपावर्तते । एता यमस्यैर्येसिद्धयः ॥ ३६ ॥ नियमेषु वक्ष्यामः—

मा० का पदा०—योगीको यह ज्ञान होता है कि मैं पूर्वजन्ममें कौन था, कैसे मैं था, क्या यह है कैसे यह है या जागे इस क्या होंगे या कैसे होंगे । इस प्रकारसे इस पुरुषके पूर्वजन्म, परजन्म और मध्य में आत्मभाव के ज्ञान की इच्छा स्वरूप से उपावर्तित होती है (एते सिद्धयः) यमों की स्थिरतासे ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ३६ ॥

अब नियमों की सिद्धियाँ कहते हैं—

मा० का मा०—इसके अर्थान् जिसको अपरिग्रह स्थिर है यह विज्ञाता होती है कि मैं पूर्व जन्म में कौन था, कैसे था, यह वर्तमान जन्म क्या है कैसे है । जागे क्या होंगे कैसे होंगे ? पूर्व पर और मध्यमें आत्मभाव ज्ञान की इच्छा अपने रूपसे उपावर्तित होती है । ये सब स्थिर सिद्धियाँ यमों के सेवन से प्राप्त होती हैं । तात्पर्य यह है कि त्यागी का अमक जन्मों का ज्ञान होता है ॥ ३६ ॥

३६ सु० वि०—त्याग का अभ्यास ज्ञानसे योगी का भूत और मविष्यम् जन्मों का ज्ञान होता है इस ही योगशास्त्र के माध्य में

अणिमाण्डव्य ऋषि का उदाहरण लिखा है कि उनको अपने १२ जन्मों का ज्ञान था ॥ ३६ ॥

भो० वृ०—कथमित्यस्य भावः कथन्ता जन्मनःकथन्ता जन्मकथन्ता तस्याः संबोधः सम्यक् ज्ञानजन्मान्तरेकोऽहकासं कीदृशः किं कार्यकारीति जिज्ञासाया सर्वमेव सम्यग्जानातीत्यर्थः । न केवलं भोगसाधनपरिग्रह एवपरिग्रहो यावदात्मनः शरीरपरिग्रहोऽपि परिग्रहः भोगसाधनत्वाच्छरीरस्य । तस्मिन् सति रागानुबन्धाद्विमुखायामेव प्रवृत्तौ न तात्त्विकज्ञानप्रादुर्भावः । यदा पुनःशरीरादिपरिग्रहनैरपेक्ष्येण माध्यस्थ्यमवलम्बने तदा मध्यस्थस्य रागादित्यागात्सम्यग् ज्ञानहेतुर्भवत्येव पूर्वाऽपरजन्मसंबोधः ॥३६॥ उक्ता यमाना सिद्धयः ।

अथनियमानाह—

भो० वृ० का भा०—अर्थात् उसे यह सब ज्ञान हो जाता है कि मैं पूर्व जन्म में कौन था, कैसा था और मैंने कैसे कर्म किये थे, केवल भोगसाधनों को त्यागना ही अपरिग्रह नहीं कहाता है, वरन भोग का साधन जो शरीर है उसमें यदि अनुराग बना रहेगा तो योगी की बाह्यवृत्ति नष्ट न होगी इस कारण शरीर के मोह को त्यागना और राग द्वेष से रहित होने को अपरिग्रह कहना चाहिये । यही अपरिग्रह ज्ञान का हेतु है और इस ही के साधन से पूर्वजन्मों का ज्ञान होता है ॥ ३६ ॥

यमों की सिद्धियों कही कई अब नियमों के फल वा सिद्धि का वर्णन करते हैं—

शौचास्वांगजुगुप्सापरैरसंसर्गः ॥४०॥

सू० का पदा—(शौचात्) शौच से (स्वांगजुगुप्सा)

अपने अंगों की निन्दा (परैरससर्गः) औरों से अससर्ग होता है ॥ ४० ॥

सू० का भा०—अन्तः शौच से अपने शरीर की अशुद्धि देखकर निन्दा और दूसरे अशुद्धों से अससर्ग होता है ॥ ४० ॥

व्या० वे० का भा०—स्वांगे शुगुप्सायां शौचमारम मास्यः कायावपदशीं कायानभिर्भंगी यतिर्मवति । किंच परैरससर्गः कायस्वमावावलोक्ते स्वमपि कायचिदासुमूर्ध्न सादिमिरावाप्तयन्नपि । कायशुद्धिमभ्यन् कथम् परकायैर स्यन्तमेवाप्रयतैः संसृज्येत ॥ ४० ॥ किंच

भा० का पदा०—स्वांग निन्दा से शौच का आरम्भ करता है काया में दोष देखने वाला कायामें अनासक्त पति होता है कामा के स्वभाव को देखने वाला अपने शरीर को भी त्यागन की इच्छा वाला मही अन्नादि से इसकी शुद्धि करता हुआ भी काया की शुद्धि को न देखता हुआ कैसे अत्यन्त मग्न दूसरे के शरीरों से संसर्ग करेगा ॥ ४० ॥

भा० का भा०—स्वांग निन्दा से अपने शरीर में शौच का आरम्भ करता हुआ काया को नष्टर जान कर उसमें आसक्त नहीं होता । काया के स्वभाव को देखने वाला जो अपने अशुद्ध शरीर से संसर्ग करेगा ॥ ४० ॥

४० सू० बि०—शौच का अभ्यास करने से योगी को अपने शरीर का कारण ही अशुद्ध दीखने लगता है । जब कारण ही अशुद्ध है तो कार्य शुद्ध कैसे हो सकता है इस ही से वह अपने शरीर को निम्नित समझता है तथा दूसरों के शरीर का भी अशुद्ध समझ कर सबका संग त्याग देता है इससे योगी को संगशेष

लिप्त नहीं होता है । और इस ही कारण से योगी निर्विघ्नता के साथ योग साधन में तत्पर रहता है किन्तु आज कल के आचारी जैसा मिथ्या शौच करते हैं वैसा करने से केवल आढम्बर और पाखण्ड की वृद्धि होती है अतएव योगी को ऐसा शौच करना चाहिये जिससे यथार्थ रूप से योग साधन होते हैं ॥ ४० ॥

भो० वृ०—यः शौचं भावयति तस्य स्वांगेष्वपि कारणस्वरूपपर्यालोचनद्वारेण जुगुप्सा घृणा समुपजायते । अशुचिरयम् कायो नात्राऽऽग्रहः कार्य इति । अमुनैव हेतुना परैरन्यश्च कायवद्भिरसंसर्गः संसर्गाभावः संसर्गपरिवर्जनमित्यर्थः । यः किल स्वमेव कार्यं जुगुप्सते तत्तदवद्यदर्शं नात् स कथम् परकीयैस्तथानूतैः कायैः संसर्गमनुभवति ॥ ४० ॥ शौचस्यैव फलान्तरमाह ।

भो० वृ० का भा०—जो योगी शौच में संयम करता है वह अपने शरीरके घृणित उपादान कारणको विचारकर अपने शरीरसे भी घृणा करने लगता है अर्थात् उसको यह निश्चय होजाता है कि यह शरीर अशुद्ध है इसमें प्रीति न रखनी चाहिये इस ही विचार से वह दूसरे शरीरधारियों के साथ सम्बन्ध छोड़ देता है वास्तव में जो योगी अपने शरीर से प्रीति नहीं रखता है वह दूसरे शरीर धारी से सम्बन्ध क्योंकर रख सकता है ।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

सू० का पदा०—(सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च) सत्त्वशुद्धि, सुमनसत्व, इन्द्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता शौच से होती है ॥ ४१ ॥

सू० का मा०—सर्वशुद्धि, शुद्ध मनसा पञ्चाप्रता इन्द्रियत्रय और आत्मदर्शन की योग्यता शौच से प्राप्त होती है ॥ ४१ ॥

व्या० दे० का मा०—भवन्तीति वाक्यशेषः शुचैः सत्त्वशुद्धिस्ततः सौमनस्य तत पञ्चाग्रय तत इन्द्रियत्रयस्त तद्वात्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिसत्त्वस्य भवतीति एतच्छौचस्यै व्यादधिगम्यत इति ॥ ४१ ॥

मा० का० प०—शौच से सर्वशुद्धि फिर सुमानसता तब पञ्चाप्रता तब इन्द्रियत्रय तब आत्मदर्शन की योग्यता बुद्धिसत्त्व को होती है ये शौच की स्थिरता से होते हैं ॥ ४१ ॥

मा० का मा०—शुद्ध का क्रम से सत्त्वशुद्धि, शुद्ध मानसता, पञ्चाप्रता, इन्द्रियत्रय और आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है ॥ ४१ ॥

सू० वि०—शौचाभ्यासी योगी का सर्वशुद्धि, यहाँ पर सत्त्व राग के अर्थ अनेक टीकाकार अनेक भाँति से करते हैं परन्तु हमारी समझ में सत्त्व का अर्थ बुद्धि ही पुच्छ है अर्थात् शौच से बुद्धि शुद्ध होती है, मन प्रसन्न रहता है चित्त पञ्चाग्र अर्थात् एक ही ध्येय विषयमें लगा रहता है बचसताको त्याग देता है इन्द्रियाँ विषयों से विरक्त हो जाती हैं आत्मदर्शन अर्थात् योग सिद्धि में शक्ति प्राप्त होती है ॥ ४१ ॥

मो० वृ०—भवन्तीति वाक्यशेषः । सत्त्वं प्रकाशसुखाद्यारमकं तस्यशुद्धी रजस्तमोभ्यामनमिमयः । सौमनस्यंशेदान्तमुमबनमामसी प्रीति । पञ्चाप्रतानियतमिन्द्रियविषये चेतसः स्थैर्यम् । इन्द्रियत्रयो विषयपरासुखाद्यामिन्द्रियाणामात्मनि अवस्थामम् । आत्मदर्शने चित्तकल्याणिरूपे चित्तस्य योग्यत्वं समर्थत्वम् । शौचाभ्यासवत एतं सर्वशुद्ध्यादयः क्रमेण प्रादुर्भवन्ति । तयादि-सर्वशुद्धः सौमन

स्य सौमनस्यावेकाग्रता एकाग्रताया इन्द्रियजयस्ततश्चात्मदर्शनयोग्य
तेति ॥ ४१ ॥

सन्तोषाभ्यासस्य फलमाह ।

भो० वृ० का भा०—प्रकाशात्मक सुख और बुद्धि को सत्त्व
कहते हैं । शौच से बुद्धि की शुद्धि होती है । सौमनस्य का अर्थ
यह है कि खेद का अनुभव न होने से मन में जो प्रीति उत्पन्न
होती है उसको सौमनस्य कहते हैं, एकाग्रता का अर्थ यह है कि
किसी विषय में चित्त का स्थिर कर देना । इन्द्रियजय का अर्थ
यह है कि विषयो से इन्द्रियों को हटाके आत्मा के विचार में लगा
देना, विवेकख्यातिरूप आत्मदर्शन के योग्य अर्थात् समर्थवान्
होना आत्मदर्शन योग्यत्व कहाता है । शौच संयम करने से योगी
को यह सब फल क्रम से प्राप्त होते हैं अर्थात् शौच से प्रथम सत्त्व-
शुद्धि उससे सौमनस्य, उससे एकाग्रता, एकाग्रता से इन्द्रियजय
और इन्द्रियजय से आत्मदर्शन योग्यता प्राप्त होती है ॥ ४१ ॥
आगे सन्तोष का फल कहेंगे ।

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥ ४२ ॥

सू० का प०—(सन्तोषात्) सन्तोष से (अनुत्तमः
सुखलाभः) सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है ॥ ४२ ॥

सू० का भा०—सन्तोष से उत्तम सुख मिलता है ॥ ४२ ॥

व्या० दे० का भा०—तथाचोक्तम्—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलापिति ॥४२॥

भा० का प०—तैसा ही अन्यत्र कहा है लोक में जो काम सुख
है और जो दिव्य महासुख हैं वे तृष्णाक्षयसुख की सोलहवीं कला

का भी नहीं प्राप्त होते ॥ ४२ ॥

भा० का मा०—सूत्र के अनुसार ही अभ्यस भी सिखा कि जो साक में काम सुख हैं तथा महत् विन्यसुख हैं व सब तुष्णाद्य की पाइशी कला के समान भी नहीं हैं ॥ ४२ ॥

भा० ५०—सन्तापप्रकर्षेण यागिनः तवापिधमाम्तरं सुखमापिर्भवति । यस्य वाङ्ग विषयासुखं शतांसेनापि न समम् ॥ ४२ ॥ तपस्य फलमाह ।

भा० ५० का मा०—सन्ताप का जब योगी के हृदय में प्रकर्ष होता है तब योगी का ऐसा सुख प्राप्त होता है जिसके सौ भाग में से एक भाग के बराबर भी विषय सुख नहीं है ॥ ४२ ॥ तब का फल कहते हैं—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिद्वयात्तपसः ॥ ४३ ॥

सू० का प०—(तपसः) तप से (अशुद्धिद्वयात्) अशुद्धि के क्षय होने से (कायेन्द्रियसिद्धिः) कायसिद्धि और इन्द्रियसिद्धि होती है ॥ ४३ ॥

सू० का मा०—तपसे अशुद्धिद्वय होनेसे कायेन्द्रिय सिद्धि होती है ॥ ४३ ॥

व्या० ६० का मा०—निर्वर्त्यमानमेव तपो दिनस्तप-शुद्ध्या परममर्त्तं तदावरणमन्तापगमारकायसिद्धिरवि-माद्या । तयेन्द्रियसिद्धिर्ब्रह्मवैवर्धनाद्येति ॥ ४३ ॥

भा० का पदा०—अनुष्ठित तप अशुद्धि से आच्छादित मनुष्य को नाश करता है तबसे आहत मनुष्य होनेसे अविमोक्ष कार्य सिद्धि प्राप्त होती है । वैसे ही दूर से मलय और वरान्गदि इन्द्रिय-सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ४३ ॥

भा० का भा०—अनुष्ठित तप मलों का नाश करता है उसके नाश होने से अणिमादिक कार्यसिद्धि और दूर से श्रवण दर्शनादि इन्द्रियसिद्धि प्राप्त होती है ॥ ४३ ॥

४३ सू०—तप का अभ्यास करने से अशुद्धता नाश हो जाती है फिर अशुद्धता नाश होने से शरीर इन्द्रियों की सिद्धि अर्थात् उत्कृष्टता प्राप्त होती है ॥ ४३ ॥

भो० वृ०—तपः समभ्यस्यमानं चेतसः क्लेशादिलक्षणाशुद्धि क्षय-द्वारेण कायेन्द्रियाणां सिद्धिमुत्कर्षमादधाति । अपभय । चान्द्रायणादिनाचित्तक्लेशक्षयस्तत्तत्क्षयादिन्द्रियाणां सूक्ष्मव्यवहित-विप्रकृष्टदर्शनादिसामर्थ्यमाविर्भवति । कायस्य यथेजमणुत्वमहत्वादीनि ॥ ४३ ॥

स्वाध्यायस्य फलमाह ।

भो० वृ० भा०—जो योगी तपका अभ्यास करता है उसकी क्लेशरूप अशुद्धि क्षय हो जाती है, फिर शरीर और इन्द्रियों में उत्तम शक्ति उत्पन्न होती है । अभिप्राय यह है कि चान्द्रायणादि करने से चित्त के क्लेश दूर हो जाते हैं तब इन्द्रियों में सूक्ष्म गुण तथा उत्तम पदार्थों को देखने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है और शरीर को अणुत्व और महत्व आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ४३ ॥ आगे स्वाध्याय का फल कहेंगे ।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

सू० का पदा०—(स्वाध्यायात्) स्वाध्याय से (इष्ट-देवतासम्प्रयोगः) इष्ट देवता की प्राप्ति होती है ॥ ४४ ॥

सू० का भा०—स्वाध्याय से अभिलषित देवता की प्राप्ति होती है ॥ ४४ ॥

व्या० दे० का मा०—देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्या-
यशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्ये चास्य पर्वन्त इति ॥४४॥

मा० का पदा०—देवता, ऋषि और सिद्ध स्वाध्यायशील के
दर्शन का बात है और इसके कार्य में प्रवृत्त होते हैं ॥ ४४ ॥

मा० का भाषा०—स्वाध्यायशील को देवता और ऋषि दीखते
हैं और इसके कार्य में प्रवृत्त होते हैं ॥ ४४ ॥

४४ सू०—वक्षपाठादि स्वाध्याय से वाञ्छित देवता अर्थात्
तत्त्वज्ञानी महात्माओं का सुग प्राप्त होता है । इस सूत्र से जो
आनुमानिक या अस्मिन् देवताओं का अर्थ करते हैं वह भ्रान्त है
क्योंकि महापि व्यासदेव न अपने भाष्य में देवता शब्द का अर्थ
देव (दिव्य गुणवान् पित्रान्) ऋषि और सिद्ध किया है । ऋषि
और सिद्धों के साहचर्य से देवता शब्द वाच्य पित्रान् ही सिद्ध
होते हैं जबकि योगी को व्यवहारसिद्धि के वास्तविक वस्तु आदि
३३ देवता अर्थात् प्रकाशक सूर्यादि की अत्यन्त इच्छा रहती है
उनका योगी को स्वार्थज्ञान होता है और वह देवता योगी के
कार्यसाधक होते हैं अर्थात् वृष्टि आदि से योगी को विघ्न प्राप्त
नहीं होता है ॥ ४४ ॥

मा० पु०—अभिप्रेतमन्त्ररूपाविसृज्यो स्वाध्याये प्रकृष्यमाणे
यागिन इत्यादि अभिप्रेतया देवतया संप्रयोगा भवति । सा देवता
प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥ ईश्वरप्रणिधानस्य फलमाह ।

मा० पु० का मा०—अमीश्वर मन्त्र गात्री के स्वाध्याय अर्थात्
वच से योगी को ईश्वर अर्थात् ईश्वर का मानसिक संयोग होता
है । फिर उस ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ॥ ४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

सू० का पदा०—(समाधिसिद्धिः) समाधि की सिद्धि
(ईश्वरप्रणिधानात्) ईश्वरप्रणिधान से होती है ॥ ४५ ॥

सू० का भावा०—ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है ।

व्या० दे० का भा०—ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधि-
सिद्धिर्यथा सर्वमोप्सितमवितथं जानाति देशान्तरे देहान्तरे
कालान्तरे च । ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानातीति ॥४५
उक्ताः सह सिद्धिभिर्यमनियमाः, आसनादीनि वक्ष्यामः । तत्र

भा० का पदा०—ईश्वर में अर्पित किये हैं सर्वभाव जिसने
ऐसे योगी को समाधिसिद्धि प्राप्त होती है जिससे जिन पदार्थों के
जानने की इच्छा होती है उन सबको यथोचित जानता है । देशा-
न्तर में, देहान्तर में और कालान्तर में तब इसकी बुद्धि सब
जानती है ॥ ४५ ॥

भा० का भावा०—जो पुरुष सब कर्मों को ईश्वर में अर्पित
कर देता है उसको समाधिसिद्धि प्राप्त होती है उससे अन्य
देशस्थ, देहस्थ और कालस्थ पदार्थों को जानता है ॥ ४५ ॥

सू०—ईश्वर की भक्ति से योगी को देशान्तर, देहान्तर तथा
कालान्तर की सब बातें यथार्थरूप से मालूम हो जाती हैं ।

भो० वृ०—ईश्वरे यत्प्रणिधानं भक्तिविशेषस्तस्मात् समावेरु-
क्तलक्षणस्याऽऽविर्भावो भवति यस्मात् स भगवानीश्वरः प्रसन्नः
सन् अन्तरायरूपापान् क्लेशान् परिहृत्य समाधिं संवोधयति ॥४५॥
यमनियमानुक्तं वाऽऽसनमाह ।

भो० वृ० का भा०—ईश्वरमें जो प्रणिधान अर्थात् भक्ति की
जाती है उससे समाधि का प्रकाश होता है उससे सकलैश्वर्यवान्
भगवान् प्रसन्न होकर योग में विघ्न करने वाले क्लेशों को दूर करके

सम्पत्ति को उद्घाटित कर देता है ॥ ४५ ॥

यम और नियमों का धर्मान करके आगे आसनों का धर्मान करेंगे ।

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

सू० का पदा०—(स्थिरसुखम्) जिसमें स्थिर सुख हो (आसनम्) वह आसन कहा जाता है ॥ ४६ ॥

सू०का मा०— जिसमें स्थिर सुख होता है वह आसन कहा जाता है ॥ ४६ ॥

व्या० वे० का मा०—तद्यथा पद्मासन वीरासन मद्रासनासनं स्वस्तिकं दण्डासन सोपाभय पर्यङ्क क्रौञ्चनिपदनं हस्तिनिपदनमुष्ट्रनिपदन समसम्मान स्थिरसुख चेत्थेव माद्रीनि ॥ ४६ ॥

मा० का पदा०—आसन भेद कहत हैं—पद्मासन, वीरासन, मद्रासन स्वस्तिक, दण्डासन सोपाभय पर्यङ्क क्रौञ्चनिपदन हस्तिनिपदन उष्ट्रनिपदन समसम्मान, स्थिर सुख और यथा सुख इत्यादि आसन भेद हैं ॥ ४६ ॥

भा० का मा०—आसनों के भेद ये हैं—पद्मासन प्रसिद्ध है वीरासन—एक पैर पृथिवी में दूसरा आसु के ऊपर, मद्रासन—दोनों पैरों के तले घुबल के समीप ऊपर करके उसके ऊपर डबेली रखना, स्वस्तिक बायाँ पैर दाहिनी घुबल के ऊपर और दाहिना पैर बाईं घुबल के ऊपर रखना दण्डासन दोनों पैरों की हँगाधियाँ और गुच्छ को मिलाकर भूमिस्पृष्ट बांध, आसु और पैरों को फैलाकर बैठना सोपाभयपदसं पर बैठना पर्यङ्क—बाय और आसु को फैलाकर सोना, क्रौञ्च निपदन क्रौञ्च पक्षी के समान बैठना हस्तिनिप-

दन-हाथी के समान बैठना, उष्ट्र निषदन-ऊँट के समान बैठना, समसस्थान-आकुञ्चित और दोनों पैरों को परस्पर संपीडन, स्थिर सुख-जिस बैठक से स्थिरता और सुख हो ॥ ४६ ॥

भो० वृ०—आस्यतेऽनेनेत्यासणं पद्मासनदण्डासयस्वस्तिका-सनादि तद्यदा स्थिर निष्कम्प सुखभनुद्वेजनीयञ्च भवति तदा यो-गाङ्गतां भजते ॥ ४६ ॥ तस्यैव स्थिरसुखत्वप्राप्त्यर्थमुपायमाह—

भो० वृ० का भा०—आसन का अर्थ यह है कि आस उपवेश ने इस धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करके फिर “युवोरनाकौ” इस सूत्र से अन आदेश करके आसन शब्द बनाया है । भली भौति बैठा जाय जिसकी सहायता से उसे आसन कहते हैं । वह पद्मासन, दण्डासन और स्वस्तिक आदि हैं । यह आसन जब स्थिर, कम्परहित और योगी को सुखदायक होते हैं तब योग के अङ्ग कहे जाते हैं ॥ ४६ ॥

इन आसनों से स्थिर सुख प्राप्त करने का उपाय अगले सूत्र में कहेंगे ।

प्रयत्नशैथिल्यावनन्त्यसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

सू० का पदा०—(प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम्) प्रयत्न को शिथिलता और अनन्त में चित्त लगाने से आसन सिद्ध होता है ॥ ४७ ॥

सू० का भा०—प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त के ज्ञान से आसन सिद्ध होती है ॥ ४७ ॥

व्या० दे० का भा०—भवतीति वाक्यशेषः । प्रय-त्नोपरमात्सिद्धयत्यासनं येनर्नागमेजयो भवति अनन्ते वा-समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति ॥ ४७ ॥

मा० का प०—प्रयत्न के उपरत होने से आसन सिद्ध होता है, जिससे अंग कम्पित नहीं होता । व अनन्त परब्रह्म में लगा हुआ चित्त आसन को सिद्ध करता है ॥ ४७ ॥

मा० का मा०—प्रयत्न के शिथिल होने से आसन सिद्ध होता है और अंग निष्कृत होते हैं एवम् आसन से चित्त की पञ्चसता बच हो जाती है ॥ ४७ ॥

मो० वृ०—तदासनं प्रयत्नसैधिल्येनामन्तसमापत्त्या च स्थिरं सुखं भवतीति सम्बन्धः । यदा यदा आसनं वृणामीति इच्छा करोति प्रयत्नसैधिल्येऽपि अवसरेनैव तदा तदा आसनं सम्पद्यत । यदा आकाशादिगत आनन्दस्य चेतसः समापत्तिः क्रियतेऽवधानं तादात्म्यमापद्यते तदा वेदाद्वयतामाप्तासनं दुःखद्वन्द्वं भवति । अस्मिन्नासमग्र्यं सति समाध्यन्तरापमूता विज्ञानं प्रभवति अङ्गमेवयत्वाद्यः ॥ ४७ ॥

तस्यैवानुनिष्पादितं फलमाह

मा० वृ० का मा०—यह आसन प्रयत्न की शिथिलता से तथा अनन्त आकाशादि में मन लगाने से स्थिर सुख देनेवाला होता है । अर्थात् योगी जब चाहे कि मैं आसन भगाऊँ तब ही बिना अधिक परिश्रम के आसन को समा सके एवं योगी का चित्त जब अनन्त आकाश में वा अनन्त व्योम में चला जाता है तब योगी को अपने शरीर का संसाधन का ज्ञान नहीं रहता जब वेदाम्यास नहीं रहता तब योग के विभिन्न अंगमेवयत्वा (अंगों का चर्पना) आदि नहीं होते किन्तु आसन के बच से यह समाधि क विभिन्न अंगमेवयत्वा आदि को भी जीत लेता है ॥ ४७ ॥ आसन बच का और फल कहते हैं—

ततो ह्यन्धानभिधात ॥ ४८ ॥

सू० पदार्थ—(ततः) तदनन्तर (द्वन्द्वानभिघातः) सुख दुःखादि द्वन्द्वों से अभिघात नहीं होता ॥ ४८ ॥

भावार्थ—आसन स्थिर होने पर सुख दुःखादि द्वन्द्व योगी को नहीं सताते ॥ ४८ ॥

व्या० भा०—शीतोष्णादिद्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥ ४८ ॥

भा० का प०—आसन के जीतने से शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों से पराजित नहीं होता ॥ ४८ ॥

भा० का भा०—जो मनुष्य आसन सिद्ध नहीं कर सकता उसको द्वन्द्वे दुःख देते हैं और आसन सिद्ध होने पर ये दुःख नहीं देते ॥ ४८ ॥

भो० वृ०—तस्मिन्नासनजये सति द्वन्द्वैः शीतोष्णक्षुत्तृष्णादिभिर्योगी नाभि हन्यत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

आसनजयानन्तर प्राणायाममाह

भो० वृ० का भा०—उस आसन के जीत लेने पर शीत, उष्ण और भूख, प्यास आदि द्वन्द्वों से योगी सताया नहीं जाता ॥ ४८ ॥

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोगतिविच्छेदः
प्राणायामः ॥ ४९ ॥

सू० का पदार्थ—(तस्मिन्सति) स्थिर आसन हो जाने से (श्वासप्रश्वासयोगतिविच्छेदः) जो श्वास और प्रश्वास की गति का अवरोध होता है (प्राणायामः) उसे प्राणायाम कहते हैं ॥ ४९ ॥

सू० का भा०—आसन स्थिर होने से जो प्राण की गति का अवरोध होता है उसे प्राणायाम करते हैं ॥ ४६ ॥

व्या० भा०—सुत्यासनश्च वायस्य वायोराधमनं स तु श्वासः । कोष्ठस्य प्रायनिःसारणं प्रश्वाससतयोर्गतिविच्छेद उभयामासः प्राणायामः ॥ ४६ ॥

भा० का प०—आसन स्थिर हो आस पर बाह्य वायु को आ प्रवेश किया जाता है उसे श्वास कहते हैं तथा भीतर की वायु को जो बाहर निकालना है उसे प्रश्वास कहते हैं उन दोनों की गति का जो अवरोध है अर्थात् दोनों का अग्रहण उसे प्राणायाम कहते हैं ॥ ४६ ॥

भा० का भा०—बाह्य वायु का जो आचमन किया जाता है उसे श्वास और ऊपर की वायु को बाहर निकाला जाता है उसे प्रश्वास कहते हैं और दोनों की गति के अवरोध को प्राणायाम कहते हैं ॥ ४६ ॥

भा० पु०—आसनस्थैर्ज्यै सति तन्निमित्तकः । प्राणायामसङ्ख्यो योगाङ्गविशेषोऽनुष्ठेयो भवति । कीदृशः श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदस्तद्वयः । श्वासप्रश्वासी निरुच्ये । तयोर्विधा रचनस्तस्मिन् पूरणद्वारेण बाह्यान्तरेण स्वामेण गतेऽप्यबाहस्यविच्छेदो धारणं प्राणायाम उच्यते ॥ ४६ ॥

भा० पु० का भा०—आसन ज्य हो आस पर उसके आग्रह से योगांग प्राणायाम का अनुष्ठान करना चाहिये । उस प्राणायाम का सङ्ख्य यह है कि श्वास और प्रश्वास की गति को रोक देना, श्वास और प्रश्वास के सङ्ख्य पहिले कह चुके हैं, उस श्वास और प्रश्वास को रोकने की ३ रीति हैं रचन (कोष्ठस्थ वायु को बाहर निकालना) स्तम्भन (रोकना) पूरण (फिर खींचना) बाहर और भीतर उनकी गति को रोक देना प्राणायाम कहा जाता है ॥ ४६ ॥

सहज से प्राणायाम को समझाने के वास्ते प्राणायाम के विभाग कहते हैं—

स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृतिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

सू० का प०—(सः तु) वह प्राणायाम (बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृतिः) बाह्य आभ्यन्तर तथा स्तम्भवृति से तीन प्रकार का (देशकालसंख्याभिः) देश, काल और संख्याओं से (परिदृष्टः) देखा गया है (दीर्घसूक्ष्मः) दीर्घ और सूक्ष्म है ॥ ५० ॥

सू० का भा०—वह प्राणायाम ३ प्रकार का है—१ बाह्य, २ आभ्यन्तर और ३ स्तम्भवृति ॥ ५० ॥

व्या० भा०—यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः । यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः तृतीयः स्तम्भवृतिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति । यथा तप्ते न्यस्तमुपले जल सर्वतः सङ्कोचमापद्यते तथा द्वयोर्गुणपद्गत्यभाव इति । त्रयोऽप्येते देशेन परिदृष्टा इयानस्य विषयो देश इति । कालेन परिदृष्टाः क्षणानापियत्तावधारणेनावच्छिन्ना इत्यर्थः । संख्याभिः परिदृष्टा एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्धातस्तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्धात एवं तृतीयः । एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्र इति संख्यापरिदृष्टः । स खल्वयमेवमभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

सू० का मा०—आसन स्थिर होने से जो प्राण की गति अ
वरोध होता है उसे प्राणायाम कहते हैं ॥ ४६ ॥

प्या० मा०—सत्यासनस्य वायस्य वायोराचमन स
तु रवास* । कोष्ठस्य प्रायनि सारणं प्रश्वाससतयोर्गति-
विच्छेद उभयामाधः प्राणायामः ॥ ४६ ॥

मा० का प०—आसन स्थिर हो जान पर वाय वायु को जो
भरवा किया जाता है उसे रवास करते हैं तथा भीतर की वायु को
जो बाहर निकालना है उसे प्रश्वास कहते हैं इन दोनों की गति का
जो अवरोध है अर्थात् दोनों का अभाव उसे प्राणायाम कहते हैं ४६

मा० का भाषा०—वाय वायु का जो आचमन किया जाता है
उसे रवास और ऊपर की वायु को बाहर निकाला जाता है उसे
प्रश्वास कहते हैं और दोनों की गति के अवरोध का प्राणायाम
कहते हैं ॥ ४६ ॥

मा० सू०—आसनस्यैव्यै सति सन्निमित्तकः । प्राणायामसङ्घयो
योगाङ्गविधेर्बोद्धव्येयं भवति । कीदृशः रवासप्रश्वासयौर्गतिवि-
च्छेदश्चक्ष्यः । रवासप्रश्वासौ निरुच्ये । तयोस्त्रिषा रचनस्तन्मन-
पूरणद्वारेण बाह्याभ्यन्तरेषु स्थानेषु गतःप्रवाहस्यविच्छेदो धारण
प्राणायाम उच्यते ॥ ४६ ॥

मो० सू० का मा०—आसन सत्य हो जान पर उसके आश्रय से
योगांग प्राणायाम का अनुष्ठान करना चाहिये । इस प्राणायाम का
लक्षण यह है कि रवास और प्रश्वास की गति का रोक देना,
रवास और प्रश्वास के लक्षण पहिले कह चुके हैं इस रवास और
प्रश्वास को रोकने की ३ रीति हैं रचन (कोष्ठस्य वायु को बाहर
निकालना) स्तम्भन (रोकना) पूरण (फिर जीबना) बाहर
और भीतर उनकी गति को रोक देना प्राणायाम कहा जाता है ॥ ४६ ॥

सहज में प्राणायाम को समझाने के वास्ते प्राणायाम के विभाग कहते हैं—

स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृतिर्देशकालसंख्या-
भिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

सू० का प०—(सः तु) वह प्राणायाम (बाह्या-
भ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः) बाह्य आभ्यन्तर तथा स्तम्भवृत्ति से
तीन प्रकार का (देशकालसंख्याभिः) देश, काल और
संख्याओं से (परिदृष्टः) देखा गया है (दीर्घसूक्ष्मः)
दीर्घ और सूक्ष्म है ॥ ५० ॥

सू० का भा०—वह प्राणायाम ३ प्रकार का है—१ बाह्य, २
आभ्यन्तर और ३ स्तम्भवृत्ति ॥ ५० ॥

व्या० भा०—यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः ।
यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः तृतीयः स्तम्भ-
वृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति । यथा तप्ते न्यस्त-
मुपले जलं सर्वतः सङ्कोचमापद्यते तथा द्वयोर्गुणपद्गत्य-
भाव इति । त्रयोऽप्येते देशेन परिदृष्टा इयानस्य विषयो
देश इति । कालेन परिदृष्टाः क्षणानापियत्तावधारणेनाव-
च्छिन्ना इत्यर्थः । संख्याभिः परिदृष्टा एतावद्भिः श्वासप्र-
श्वासैः प्रथम उद्धातस्तद्वनिगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्धात
एवं तृतीयः । एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्र इति संख्यापरि-
दृष्टः । स खल्वयमेवमभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

भा० का पक्ष०—अहाँ प्रवासपूर्वक गति का अभाव हो वह बाह्य और अहाँ प्रवासपूर्वक गति का अभाव हो वह आभ्यन्तर है तीसरा स्तम्भ वृत्ति यह है अहाँ एक बार के प्रयत्न से दोनों का अभाव हो जैसे तपे हुये पत्थर पर बाला हुआ अन्न मध्य तरफ से संकुचित हो जाता है वैसे ही उनमें एक साथ गति का अभाव हो जाता है । वे तीनों देशदृष्ट, कालदृष्ट और संख्यादृष्ट कहलाते हैं । देश की सीमा से जो परिमित हो वह कालदृष्ट, समय की सीमा से जो परिमित हो वह कालदृष्ट कहलाता है । संख्यादृष्ट वह है कि जिसमें यह भाव धारण किया जाय कि इतने प्रवासों के रोकने से पहला ऊर्धात और इतनों के रोकने से दूसरा ऊर्धात होता है । ऐसे ही तीसरा ऐसे ही मध्य, ऐसे ही तीसरे में प्रवास प्रवासों की संख्या की जाती है । ये संख्या परिदृष्ट कहलाते हैं सो निश्चय किया हुआ यह अभ्यास दीर्घ और सूक्ष्म कहाता है ॥ ५० ॥

भा० का भा०—जिसमें प्रवास अर्थात् भीतर के प्रवास को बाहर निष्कृत कर प्रवास को रोक्य जाता है उसे बाह्य प्राणायाम कहते हैं अहाँ वायु के अन्तर्गमन का अभाव हो वह आभ्यन्तर है । तीसरा वह प्राणायाम है अहाँ दोनों का स्तम्भ हो, उसे स्तम्भ वृत्ति कहते हैं । यहाँ दृष्टान्त है—जैसे अग्नि में तपे पत्थर पर पानी बालने से संकुचित हो जाता है वैसे ही इसमें दोनों का स्तम्भ हो जाता है सो अभ्यास किया हुए पुरुष से हो सकता है यही इसका विषय है इसे देश परिदृष्ट कहते हैं यही इसका काल है इसको काल परिदृष्ट कहते हैं । इसमें प्रवास प्रवास का प्रयत्न इतने ही का दूसरा इतने ही का तीसरा ऊर्धात है । ऐसे ही मध्य तीसरे का समय का जिससे निर्धारण किया जाय उसे संख्या परिदृष्ट कहते हैं ॥ ५० ॥

भो० वृ०—वाह्यवृत्तिः श्वासो रेचकः । अन्तःवृत्तिः प्रश्वामः पूरकः आभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः कुम्भकः । तस्मिन् जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणा अवस्थाप्यन्त इति कुम्भकः । त्रिविधोऽयं प्राणायामो देशेन कालेन सख्यया चोपलक्षितो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञो भवति । देशोपलक्षितो यथा नासाप्रदेशान्तादिः । कालोपलक्षितो यथा—षट्त्रिंशन्मात्रादिप्रमाणः संख्ययोपलक्षितो यथा—इयतो वारान् कृत एतावद्भिः श्वास प्रशवासैः प्रथम उद्घातो भवतीति । एतद् ज्ञानाय सख्याग्रहणमुपात्तम् उद्घातो नाम नाभिमूलात् प्रेरितस्य वायोः शिरसि अभिहननम् ॥ ५० ॥

त्रीन् प्राणायामानमिधाय चतुर्थमभिधातुमाह—

भो० वृ० का भा०—कोष्ठस्थ वायु को जो बाहर निकाला जाता है उस श्वास को रेचक कहते हैं, प्रशवास को जो भीतर खींचा जाता है उसे पूरक कहते हैं और भीतर जो श्वास को रोका जाता है वह कुम्भक कहाता है । यह तीन प्रकार का प्राणायाम देश, काल और सख्या के उपलक्षण से दीर्घ प्राणायाम और सूक्ष्म प्राणायाम नामक दो भेदवाला हो जाता है । देशोपलक्षित प्राणायाम उसे कहते हैं जिसमें नाभिदेश वा हृदयदेश में प्राणों को स्थिर करने का उद्देश रहता है अथवा एकान्त वन आदि के उपलक्ष से जो प्राणायाम होता है । कालोपेक्षित वह प्राणायाम है जिसमें काल का नियम रक्खा जाता है । जितने काल में पलक लगती है उसको पल कहते हैं और जितने काल में ३ बार चुटकी बजाई जाय उसे मात्रा कहते हैं, किन्तु महर्षि पाणिनि के मत में एक मात्रा उतने काल की संज्ञा है जितने काल में हाथ की नाडी एक बार फुदकती वा चलती है इस मात्रा के हिसाब से जो प्राणायाम किया जाता है उसे कालोपेक्षित प्राणायाम कहते हैं । संख्योपलक्षित वह प्राणायाम है जिसमें यह नियम किया जाय कि इतनी

बार प्राणायाम करूँगा वा इतने श्वास से पहिला श्वासास होगा इस ज्ञान की रक्षा के वास्ते सूत्रकार ने संख्या शब्द लिखा है, श्वासास का अर्थ यह है कि नाभि स्थान से आ वायु प्रयत्न द्वारा प्रेरित होती है उसका सिर में बलपूर्वक सगन्ता ॥ ५० ॥

तीन प्राणायामों का स्थान करके अब चौथे प्राणायाम को करेंगे—

वायाम्यन्तरविषयाच्चेपो चतुर्थं ॥ ५१ ॥

सू० का पदा०—(वायाम्यन्तरविषयाच्चेपो) वायु विषय और आभ्यान्तर विषयों का जिसमें परिस्वाग किया किया जाता है (चतुर्थः) वह चतुर्थ प्राणायाम है ॥ ५१ ॥

सू० का भा०—जिसमें वायु विषय और आभ्यान्तर विषयों का परिस्वाग हो वह चौथा प्राणायाम है ॥ ५१ ॥

व्या० भा०—देशकालसंख्यामिर्षाद्यविषयपरिष्ट आ-
चिप्तः त्वाम्यन्तरविषयपरिष्ट आचिप्तः । तस्यया दीर्घ
सूक्ष्मः तत्पूर्वको भूमिजयात्क्रमेणोभयोगस्यभामभतुर्बः
प्राणायामः । तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यमाधः सक-
दारम्भ एव देशकालसंख्यामिः परिष्टो दीर्घसूक्ष्मः । चतु-
र्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात्क्रमेण भूमिजयादुभ-
याच्चेपपूर्वको गत्यमाधश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेष
इति ॥ ५१ ॥

भा का प०—देश काल और संख्या के द्वारा वायु विषयों का बलकर परिस्वाग करना ऐसे ही आभ्यान्तर विषयों का अर्थ

प्रकार से देखकर त्याग करना दोनों प्रकार से दीर्घ और सूक्ष्म होता है । जो क्रम से दोनों की गति का अभाव होता है वह चतुर्थ प्राणायाम है और तीसरा तो जिसका विषय सोचा नहीं गया है जिसमें एक बार आरम्भ करने ही से देश काल और संख्या के द्वारा प्राणों की गति का अभाव देखा गया है वह दीर्घ सूक्ष्म है । चौथा प्राणायाम वह है श्वास और प्रश्वास के विषय को निर्वहण करने से क्रम से भूमिका के जय से दोनों के निरोधपूर्वक जो गति का निरोध किया जाता है वह चौथा प्राणायाम है ॥ ५१ ॥

भा० का भा०—चौथा प्राणायाम वह है जो दीर्घ और सूक्ष्म से भिन्न हो और जिसमें श्वास और प्रश्वास की गति का अवरोध हो जाय और क्रम से जिसमें भूमिकाओं का जय हो जाय ॥ ५१ ॥

भो० वृ०—प्राणस्य बाह्यो विषयो नासाद्वादशान्तादिः । आभ्यन्तरो विषयो हृदयनाभिचक्रादिः । तौ द्वौ विषवौ आक्षिप्य पर्यालोच्य यः स्तम्भरूपो गतिविच्छेदः स चतुर्थः प्राणायामः । तृतीयस्मात् कुम्भकात् अयमस्य विशेषः । स बाह्याभ्यन्तरविषयौ अपर्यालोच्यैव सहसा तप्तोपलनिपतितजलन्यायेन युगपत्स्तम्भवृत्त्या निष्पद्यते । अस्य तु विषयद्वयापेक्षको निरोधः । अयमपि पूर्वदेशकालसंख्याभिरुपलक्षितो दृष्टव्यः ॥ ५१ ॥

यतेर्विषयास्य फलमाह—

भो० वृ० का भा०—(देशबन्धश्चित्तस्य धारणा) सूत्र के विवरण में कह चुके हैं कि प्राण धारण का बाह्य विषय नासिका आदि है और आभ्यन्तर विषय हृदय और नाभिचक्र आदि हैं इन दोनों विषयों की आलोचना अर्थात् कालोपलक्षित और संख्योपलक्षित पूर्वोक्त प्राणायामों के द्वारा क्रम से योग भूमियों को जीतकर जो स्तम्भ रूप श्वास प्रश्वास की गति को रोका जाता है वह चौथा प्राणायाम है । पूर्व सूत्र में कहा जो कुम्भक

प्राणायाम है उससे इसका इष्टता मेव है कि कुम्भक में बाह्य और आभ्यन्तर विषयों का बिना विचारे ही प्राणों की गति को ऐसे रोक दिया जाता है जैसे बलुत हुये पथर पर पानी बालन से बल धावही चारों ओर से स्मित्त जाता है और इस पदुम प्राणायाम में बाह्य और आभ्यन्तर विषय की आलोचना पूर्वक निराप किया जाता है इसके मी देश कल और सख्या के उपलक्षण से ऐसे ही मर समझने चाहिये जैसे पहिल सूष में कह आय है ॥ ५१ ॥

आगे चारों प्रकार के प्राणायामों का फल कहत है—

तच्च, क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

सू० का प०—(ततः) प्राणायाम सिद्धि के अनन्तर (क्षीयते) नाश होता है (प्रकाशावरणम्) ज्ञान का आच्छादन ॥ ५२ ॥

सू का भा०—प्राणायाम सिद्धि के अनन्तर ज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है ॥ ५२ ॥

व्या०—प्राणायामानम्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म यत्तदापद्यते महामोक्षयेनेन्द्रबालेन प्रकाशशीलं सच्चमाहृत्य तदेवाकार्ये नियुक्त इति । तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धन प्राणायामाभ्यासात् दूर्यस्तं भवति प्रतिपद्यते क्षीयते । तथाचोक्तम्—तपो न पर प्राणायामाद्यतो विमुक्तिर्नृणां दीप्तिमं ज्ञानस्येति ॥ ५२ ॥
किंच

भा० का पदा०—प्राणायाम का अभ्यास करने वाले योगी के विवेक ज्ञान को आच्छादन करने वाला अर्थात् जिससे ज्ञान ढका है वह कर्म नाश होता है जैसा कि कहा जाता है महामोहमय इन्द्रजाल के द्वारा प्रकाशशील सत्व को ढक कर वही आवरण अकार्य में प्रयुक्त करता है । वही इस योगी के प्रकाश को आवरण करने वाला कर्म संसार का निबन्धक है । वह प्राणायामो के अभ्यास से दुर्बल होता है और प्रतिक्षण क्षीण होता है तैसा भी अन्यत्र भी कहा है प्राणायाम से अधिक कोई तप नहीं, क्योंकि उससे मलादि की शुद्धि और ज्ञान की दीप्ति होती है ॥ ५२ ॥

भा० का भा०—प्राणायामो का अभ्यास करने वाले योगी का विवेक ज्ञान को आच्छादन करने वाला कर्म क्षीण होता है । जो कर्म महामोहमय इन्द्रजाल से प्रकाश का आच्छादन कहाता है वही इसको अकार्य में प्रयुक्त करता है, प्राणायाम करने से वही कर्म क्षीण होता है तैसा ही अन्यत्र भी कहा है कि प्राणायाम से अधिक तप नहीं है, क्योंकि उससे मलादि की शुद्धि और ज्ञान का प्रकाश हाता है ॥ ५२ ॥

भो० वृ०—ततस्तस्मात् प्राणायामात् प्रकाशस्य चित्तसत्त्वगतस्य यदावरणं क्लेशरूपं तत्क्षीयते विनश्यतीत्यर्थः ॥ ५२ ॥
फलान्तरमाह ।

भो० वृ० का भा०—उस प्राणायाम से चित्त के प्रकाश पर जो क्लेश आवरण अर्थात् ढकना लगा हुआ है वह दूर हो जाता है ॥५२॥ दूसरा फल कहते हैं ।

धारणासु च योग्यता मनसः ॥५३॥

सू० का पदा०—(धारणासु च) और धारणाओं में (मनसः) मन की (योग्यता) योग्यता होती है ॥ ५३ ॥

सू० का भाषा०—और प्राणायाम से धारणाओं में मन की योम्यता होती है ॥ ५२ ॥

व्या० वे० का भा०—प्राणायामाभ्यासादेव । “प्रच्छ-
र्दनविधारणाम्या वा प्राणस्य” इति वचनात् ॥ ५३ ॥ अथ
का प्रत्याहारः ?

भा० पद्मा०—प्राणायाम के अभ्यास से ही धारणा में मन की योम्यता होती है । क्योंकि “प्रच्छर्दनविधारणाम्या वा प्राणस्य” इस सूत्र में प्राण के प्रच्छर्दन और विधारण से चित्त की प्रसन्नता वर्णन की गई है ॥ ५३ ॥

भा० का भाषा०—“इवास के बहिर्गमन और धारणा से” ऐसा विज्ञान से तात्पर्य यह है कि प्राणायाम के अभ्यास से जब हृत्त को आचरण करनेवाला मन व्यर्थ हो जाता है तब प्राणायाम का दूसरा फल यह होता है कि योगी का चित्त धारणाओं में स्थिर होने के योग्य हो जाता है ॥ ५३ ॥

भो० वृ०—धारणा वक्ष्यमाणवक्ष्यास्तु प्राणायामौ कीच-
दोर्ध्व भनो यत्र यत्र चायत्त तत्र तत्र स्थिरीभवति न विकल्पं भवति ॥ ५४ ॥
प्रत्याहारस्य लक्षणमाह—

भो० वृ० का भा०—जिस धारणाओं का संक्षेप आगे कहा जायगा उनमें प्राणायामों से मन के सब बाध दूर होकर सर्वत्र मन को लगाया जाता है यही २ वह स्थिर हो जाता है अर्थात् फिर मन पूर्वोक्त विकल्पों में नहीं पड़ता है ॥ ५४ ॥ आगे प्रत्याहार का संक्षेप करते हैं—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवे-
न्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

सू० का पदा०—(स्वविषयासम्प्रयोगे) अपने विषय का जो असम्प्रयोग अर्थात् ग्रहण को न करना (चित्तस्य स्वरूपानुकार इव इन्द्रियाणाम्) चित्त के स्वरूप को अनुकरण करने के समान इन्द्रियों का भाव जिसमें हो जाय (प्रत्याहारः) वह प्रत्याहार कहाता है ॥ ५४ ॥

सू० का भावा०—जिसमें चित्त इन्द्रियों के सहित अपने विषय को त्याग कर केवल ध्यानावस्थित हो जाय उसे प्रत्याहार कहते हैं ॥ ५४ ॥

व्या० दे० का भा०—स्वविषयसम्प्रयोगाभावे चित्त-स्वरूपानुकार इवेति, चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते । यथा—मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनुपतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येष प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

भा० का पदा०—अपने विषय का योग न होने से चित्त स्वरूप के समान इन्द्रियों भी हो जाती हैं चित्त के समान जिसमें इन्द्रियों का निरोध हो जाय इतर इन्द्रियों के जीतने में जब दूसरे उपायों की अपेक्षा न रहे जैसे रानी मक्खी के पीछे जब वह उड़ती है तब सब मक्खियाँ उड़ती हैं जब वह छाते में प्रविष्ट होती है तब सब मक्खियाँ भी बैठ जाती हैं इस ही प्रकार से इन्द्रियाँ भी चित्त के निरोध होने से निरुद्ध हो जाती हैं यह प्रत्याहार है ॥ ५४ ॥

सू० का भावा०—जब चित्त विषयों के चिन्तन से उपरत हो कर स्वस्थ हो जाता है तब इन्द्रियाँ भी चञ्चलता रहित हो जाती हैं । उस शान्त अवस्था को प्रत्याहार कहते हैं ॥ ५४ ॥

सू० का भाषा०—और प्राणायाम से धारणाओं में मन की योग्यता हासी है ॥ ५२ ॥

ध्या० वे० का भा०—प्राणायामाभ्यासादेव । “प्रच्छ-
र्दनविधारणाभ्यां वा प्राप्स्य” इति वचनात् ॥ ५३ ॥ अथ
का प्रत्याहारः ?

भा० पदा०—प्राणायाम के अभ्यास से ही धारणा में मन की योग्यता होती है । क्योंकि “प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राप्स्य” इस सूत्र में प्राण के प्रच्छर्दन और विधारण से चित्त की प्रसन्नता वर्णन की गई है ॥ ५३ ॥

भा० का भाषा०—“इष्टास के बहिर्गमन और धारणा से” इस सिद्धि से साध्य यह है कि प्राणायाम के अभ्यास से जब ध्यान की आवरण करनेवाला मन दृढ़ हो जाता है सब प्राणायाम का वृत्त फल यह होता है कि योगी का चित्त धारणाओं में स्थिर होने के योग्य हो जाता है ॥ ५३ ॥

भा० सू०—धारणा वक्ष्यमाणस्तु प्राणायामैः शीघ्र
बोधं मनो यत्र यत्र धायते तत्र तत्र स्थिरीभवति न बिभ्रपे भजत । ५३
प्रत्याहारस्य लक्षणमाह—

भा० सू० का भा०—जिन धारणाओं का लक्षण आगे कहा जायगा उनमें प्राणायामों से मन के सब बाध दूर होकर अर्द्ध २ मन का लगाया जाता है वहीं २ वह स्थिर हो जाता है अर्थात् फिर मन पूर्वोक्त बिभ्रपों में नहीं फँसता है ॥ ५३ ॥ आगे प्रत्याहार का लक्षण कहन है—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवे
न्द्रियाणां प्रत्याहार ॥ ५४ ॥

सू० का पदा०—(स्वविषयासम्प्रयोगे) अपने विषय का जो असम्प्रयोग अर्थात् ग्रहण को न करना (चित्तस्य स्वरूपानुकार इव इन्द्रियाणाम्) चित्त के स्वरूप को अनुकरण करने के समान इन्द्रियों का भाव जिसमें हो जाय (प्रत्याहारः) वह प्रत्याहार कहाता है ॥ ५४ ॥

सू० का भावा०—जिसमें चित्त इन्द्रियों के सहित अपने विषय को त्याग कर केवल ध्यानावस्थित हो जाय उसे प्रत्याहार कहते हैं ॥ ५४ ॥

व्या० दे० का भा०—स्वविषयसम्प्रयोगाभावे चित्त-स्वरूपानुकार इवेति, चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते । यथा—मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनुपतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येष प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

भा० का पदा०—अपने विषय का योग न होने से चित्त स्वरूप के समान इन्द्रियों भी हो जाती हैं चित्त के समान जिसमें इन्द्रियों का निरोध हो जाय इतर इन्द्रियों के जीतने में जब दूसरे उपायों की अपेक्षा न रहे जैसे रानी मक्खी के पीछे जब वह उड़ती है तब सब मक्खियाँ उड़ती हैं जब वह छाते में प्रविष्ट होती है तब सब मक्खियाँ भी बैठ जाती हैं इस ही प्रकार से इन्द्रियों भी चित्त के निरोध होने से निरुद्ध हो जाती हैं यह प्रत्याहार है ॥ ५४ ॥

सू० का भावा०—जब चित्त विषयों के चिन्तन से उपरत हो कर स्वस्थ हो जाता है तब इन्द्रियों भी चञ्चलता रहित हो जाती हैं । उस शान्त अवस्था को प्रत्याहार कहते हैं ॥ ५४ ॥

भो० वृ०—इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रतीयमादियन्तेऽस्मिन् इति प्रत्याहारः । स च कथं निष्पद्यत इत्याह । चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां स्वविषयोरूपादिस्तेन सम्प्रयागस्तद्वामिमुख्यमवस्थं तदभावास्तद्वामिमुख्यं परित्यज्य स्वरूपमात्रेऽवस्थानं, तस्मिन् सति चित्तस्वरूपमात्रानुकारीणीन्द्रियाणि भवन्ति । यतश्चित्तमनुवर्तमानानि मधुकरराजमिव मणिकः सर्वाणीन्द्रियाणि प्रतीयन्ते यतश्चित्तनिरोधे तानि प्रत्याहृतानि भवन्ति । तेषां तत्स्वरूपानुकारः प्रत्याहारस्तु ॥ ५४ ॥

प्रत्याहारफलमाह—

भा० वृ० का भा०—प्रत्याहार का अर्थ यह है कि इन्द्रियों विषयों के चिन्हमात्र संस्कार को लेकर जिसमें आदिमें वह प्रत्याहार है । प्रत्याहार किस प्रकार से प्राप्त होता है इसका वर्णन करते हैं, मन आदि इन्द्रियों अपने रूपादि विषयों में आमुख्य भाव से लगी हुई हैं उन विषयों को परित्याग कर अपने स्वरूपमात्र से आस्थिर रहना है वह इन्द्रियों का स्थिरभाव है उसके पश्चात् इन्द्रियों चित्त का अनुकरण करने लगेंगी क्योंकि सब इन्द्रियों चित्त के पीछे चलनेवाली आआधीन रहती हैं । जैसे रानी मन्त्री के आधीन सब मधुमन्त्री होती हैं इस कारण चित्त के निरुद्ध होने से सब इन्द्रियों विषयों को त्याग कर चित्त के साथ निरुद्ध हो जाती हैं । इन्द्रियों की इस निरुद्धावस्था का प्रत्याहार करते हैं ॥ ५४ ॥

आगे प्रत्याहार के फल को करते हैं—

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

सू० का पदा०—(ततः) उस प्रत्याहार से (परमा वश्यता) अत्यन्त वश में हो जाना (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों का ॥ ५५ ॥

सू० का भावा०—प्रत्याहार से इन्द्रियों अत्यन्त वश होती हैं । ५५

व्या० का भा०—शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति के चित्सक्तिर्व्यसनं व्यस्यत्येनं श्रेयस इति । अविरुद्धा प्रतिपत्तिर्न्याया । शब्दादिसम्प्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये । रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित् । चित्तैकाग्रयादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः । ततश्च परमात्त्रियं वश्यता यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानोन्द्रियजयवत्प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ॥ ५५ ॥

भा० का पदा०—शब्दादि विषयों में आसक्ति का होना ही इन्द्रियों का जीतना कहाता है ऐसा कोई २ भाष्यकार कहते हैं । आसक्ति को ही व्यसन कहते हैं क्योंकि वह योगी को कल्याण से दूर फेंकता है । कोई २ शास्त्र के अविरुद्ध आसक्ति को अनुचित नहीं बतलाते । शब्दादि विषयों का अनुष्ठान स्वाभाविक ही होता है यह भी किसी २ मन्तव्य है । राग द्वेष के अभाव में सुख और दुःख से शून्यका शब्दादि ज्ञान इन्द्रियजय है ऐसा कोई २ कहते हैं । चित्त की एकाग्रता से विषयों का ध्यान न करना ऐसा जैगीषव्य ऋषि का मत है तब यह परम वश्यता होती है । जो चित्त के निरोध में सब इन्द्रियों निरुद्ध होती हैं और इन्द्रियजय के समान प्रयत्न से किये हुए उपायान्तर की अपेक्षा करता है ॥

भा० का भा०—शब्दादि विषयों में विरक्ति होना ही इन्द्रियों का जीतना कहाता है ऐसा कोई मुनि कहते हैं, इन्द्रियों की विषयों में आसक्ति व्यसन कहाती है क्योंकि वह योगी को कल्याण से दूर फेंकती है । शब्दादि विषयों का अनुष्ठान स्वाभाविक होता है यह किसी का मत है । पूर्वोक्त राग द्वेष के अभाव में सुख दुःख शून्य

ज्ञाना यह किसी का मत है। चित्त की एकप्रता से शब्दादि बाह्य विषयों का महण न करना ही इन्द्रियजय है यह वैगीश्वर्य महर्षि का मत है। निज इन्द्रियजय से जो चित्त के निरोध में इन्द्रिय निरोध होता है उससे अन्य यागी ज्ञाग यत्न नहीं हूँ इसे अर्थात् उस ही से याग सिद्ध होता है ॥ ५५ ॥

भो० पु०—अभ्यस्यमाने हि प्रत्याहारे तथा वरयानि आसत्ता मीन्द्रियाणि सम्पद्यन्ते यथा बाह्यविषयाभिमुखता नीयमानान्यपि न शान्तीत्यर्थः ।

तदेवं प्रथमपादोक्तवचनस्य । योगस्यांगभूतक्लेशात्तनुकरणफलं क्रियायोगमभिधाय क्लेशानामुद्देशं स्वरूपं कारणं क्षेत्रं फलं याच्यते कर्मणापि मेव कारणं स्वरूपं फलं चाभिधाय विपाकस्य कारणं स्वरूपञ्चाभिहितम् । ततस्तथाभ्यस्यात् क्लेशादीनां ज्ञानव्यतिरेकेण स्यागस्याशक्यत्वात् ज्ञानस्य च शास्त्रयच्छब्दाश्चाद्यस्य च इव ज्ञान-करणोपादेयोपादानकारणबोधकत्वेन चतुर्थ्युद्देशात् इयस्य च ज्ञानव्यतिरेकेण स्वरूपानिष्पन्नज्ञानसहितं चतुर्थ्युद्देशं स्वरूपकारणं सहितमभिधायापादेयकारणमूलाया मिनेकक्यासः कारणमूतानाम-भतरंगबहिरंगभावम स्थितानां यागाज्ञानां यमादीनां स्वरूपं फलं सहितं व्याकृत्यासनादीनां धारणापर्ष्यस्तानां परस्परमुपकार्योपकारकभावनावस्थितानामुद्देशमभिधाय प्रत्येकं लक्षणकारणपूर्वकं फल-मभिहितम् तद्वच यागा यमनियमादिभिः प्राप्तपीडभाषासन्धाया यामैरङ्कुरित प्रत्याहारेण पुष्पिता ध्यानधारणासमाधिभिः फलसिध्य-तीति व्याख्यातः साधनपादः ।

भा० पु० का मा —प्रत्याहार का अभ्यास करने से इन्द्रियाँ बंध में हो जाती हैं, फिर उसका यदि बाह्य विषयों में लगाया भी जाय तो भी वह विषयों को महण नहीं करती हैं अर्थात् स्वयम् पाप में प्रीतिमयी हो जाती है ॥ ५६ ॥

उपसंहार ।

प्रथम पाद में जिस योग का वर्णन किया था उसके ही अंग क्लेश नाशक क्रियायोग का इस द्वितीय पाद में वर्णन किया है । क्लेशों के उद्देश, क्लेशों के स्वरूप, क्लेशों के कारण, क्लेशों के उत्पत्तिस्थान और क्लेशों के फल का भी विधिवत् वर्णन किया है पश्चात् कर्मों के भेद, कारण, स्वरूप और फल का भी वर्णन कर चुके, फिर कर्मविपाक (फल वासना) का कारण और स्वरूप भी कहा इसके अनन्तर क्लेशों का हेयत्व (त्याग) और क्लेश विना ज्ञान के नहीं छूटते हैं और ज्ञान शास्त्र से प्राप्त होता है और शास्त्र इन चारों बातों का बोधक है । (त्यागने योग्य) हेयहेतु, उपादेय और उपादान कारण जिससे उपादेय का ज्ञान होता है इन्हीं चारों बातों का योगशास्त्र में वर्णन है इस कारण शास्त्र भी चतुर्व्यूह कहाता है, हेय का स्वरूप हानि के अतिरिक्त सिद्ध नहीं हो सकता है इसलिये हानि के सहित उक्त चारों बातों का कारणों के सहित वर्णन करके उपादेय का कारण जो विवेकख्याति है उसके कारण अर्थात् योग के अंतरंग और बहिरंग साधन स्वरूप यम आदि के लक्षण और फल का भी वर्णन किया, फिर आसन और धारणादि के परस्पर उपकार्योपकारक (जो एक दूसरे के उपकार को करते हैं अर्थात् परस्पर सहायकारी हैं) भाव कह कर उनमें से प्रत्येक के लक्षण, कारण और फल का वर्णन आदि इस ही पाद में किया गया है । इससे सिद्ध है कि यह नियमादिसे योगी के चित्त में योग का बीज बोया जाता है, आसन और प्राणायाम से उस बीज में अंकुर उत्पन्न होता है । प्रत्याहार से उसपर पुष्प आता है और ध्यान, धारणा तथा समाधि से उस वृक्ष पर फल लगता है यही इस साधनपाद का सन्निप्त फलितार्थ है ।

इति पार्तवसूत्रे सविस्मयवचनं योगशास्त्रे
द्वितीयं पादं समाप्तम् ।

अथ विभूतिपादः ।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

सू० का पदा०—(देशबन्धः) देशबन्ध (चित्तस्य)
चित्त की (धारणा) धारणा कहलाती है ॥ १ ॥

सू० का भाषा०—चित्त का नाभि स्थानों में स्थिर करने को
धारणा कहते हैं ॥ १ ॥

व्या० हे० का भा०—नाभिषक्के हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि
न्योतिषि नासिकाग्रे बिम्बाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाधे वा
विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा ॥ १ ॥

भा० का पदा०—नाभिषक्में, हृदय कमलमें नासिका के अग्र-
भागमें, बिम्बा के अग्रभाग में इत्यादि स्थानों में बाध वा
विषयों में चित्त का वृत्तियों के द्वारा स्थिर होना धारणा कह
लायी है ।

भा० का भा०—नाभि आदि अन्तर्देशों वा बाह्य देशों में वृत्ति
के द्वारा वा चित्त को स्थिर किया जाता है वह धारणा कहलाती
है ॥ १ ॥

१ सू चि —बाह्य विषय का अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों के
वा रुपादि स्पर्श अर्थात् तन्मात्र हैं उनमें चित्त को लगाना भी

धारणा शब्द का वाच्य है, आजकल जो हठयोग वाले घट्चक्र भेदन का अभ्यास किया करते हैं वह भी इस ही सूत्र के आभास से करते हैं और थियोसोफिष्ट लोग इस ही सूत्र से बाह्य विषय अर्थात् किसी बिन्दु विशेष वा वस्तु विशेष में चित्त को लगाने का अभ्यास किया करते हैं परन्तु ये सब क्रियायें योगी को हानि पहुँचाती हैं ॥ १ ॥

भो० वृ०—तदेवं पूर्वोद्दिष्टं धारणाद्यङ्गत्रय निर्णेतुं संयमसंज्ञा-
भिधानपूर्वकं बाह्याभ्यन्तरादिसिद्धिप्रतिपादनाय लक्षयितुमुपक्रमते ।
तत्र धारणायाः स्वरूपमाह-देशेनाभिचक्रनासाग्रादौ चित्तस्य बन्धो,
विषयान्तरपरिहारेण यत् स्थिरीकरणं सा चित्तस्य धारणोच्यते,
अयमर्थः । मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मवासितान्तःकरणेन यमनियमवता
जितासनेन परिहृतप्राणविक्षेपेण प्रत्याहृतेन्द्रियग्राभेण निर्वाधे
प्रदेश ऋजुकायेन जितद्वन्द्वेन योगिना नासाग्रादौ संप्रज्ञातस्य
समाधेरभ्यासाय चित्तस्य स्थिरीकरणं कर्तव्यमिति ॥ १ ॥ धारणा
मभिधाय ध्यानमभिधातुमाह—

भो० वृ० का भा०—इस रीति से पूर्वपाद में कहे धारणादि योग के तीन अङ्गों के निर्णय के निमित्त संयम संज्ञा का वर्णन पूर्वक बाह्यसिद्धि और आभ्यान्तरसिद्धि को वर्णन करने का उद्योग करते हैं । उन तीनों में से प्रथम धारणा का स्वरूप कहते हैं—

देश अर्थात् नाभिचक्र और नासिका के अग्रभाग आदि में जो चित्त का बन्ध अर्थात् विषयों को त्यागकर स्थिर करना है वह धारणा कहाती है । अभिप्राय यह है कि मुदिता और मैत्री आदि जिस योगी के अन्तःकरण में पूरित हो गये हैं, यम नियम को जिसने धारण किया है, आसन को जिसने जीता है जिसके चित्त के मल, विक्षेप दूर होगये हैं प्राणों के विक्षेप जिसके दूर हो

गये हैं, इन्द्रियों जिसकी वश हागइ हैं, विघ्नरहित स्थान में योग सेवन से जिसके इन्द्र दूर हो गये हैं उस योगी को नासिक्य के अप्रमाण या नाभि आदि में संप्रज्ञात समाधि का अभ्यास करने के निमित्त अपन चित्त को स्थिर करना चाहिये ॥ १ ॥ धारणा कहकर ध्यान का वर्णन करते हैं ।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ ३ ॥

सू० का पदा०—(तत्र) नाभि आदि स्थानों में (प्रत्ययैकतानता) ज्ञान की स्थिरता (ध्यानम्) ध्यान कहाती है ॥ २ ॥

सू० का भा०—नाभि आदि देशों में जो ध्येय का ज्ञान होता है उसे ध्यान कहते हैं ॥ २ ॥

ध्या० भा०—तस्मिन् देशे ध्येयावस्तुम्यनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामुष्टो ध्यानम् ॥ २ ॥

भा० का पदार्थ—जब नाभि आदि स्थानों में ध्येयावस्तुम्यन रूप ज्ञान की स्थिरता अर्थात् सदृश ज्ञान का प्रवाह और ज्ञानों से जो सम्बन्ध न रहता हो उसे ध्यान कहते हैं ॥ २ ॥

भा० का भा०—नाभि आदि स्थानों में ध्येय के ज्ञान में चित्तका लय हो जाना और उसमें दूसरे ज्ञान का अभ्यास हो जाना ध्यान कहाता है ॥ २ ॥

भा० सू०—तत्र तस्मिन् प्रदेष्टो यत्र चित्तं धृतं तत्र प्रत्ययस्य ज्ञानस्य या एकतानता विसदृशपरिहारद्वारेण यद्यपि धारणा यामात्मन्वनीकृतं तदावस्तुम्यनस्यैव निरन्तरमुत्पत्तिः सा ध्यानमुच्यते ॥ २ ॥ अरम यमार्गं समाधिमाह—

भो० वृ० भा०—जिस स्थान में चित्तको वारण किया था उसमें जो ज्ञान की एकतानता अर्थात् विसदृश परिणाम त्याग द्वारा जो धारणा में आलम्बन होता है उसे व्यान कहते हैं ॥ २ ॥

अब अन्तिम योग के अङ्ग समाधि को कहते हैं:

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३

सू० का पदा०—(तदेव) वही ध्यान (अर्थमात्र-निर्भासम्) अर्थमात्र संस्कारमात्र रह जाय (स्वरूप-शून्यमिव) स्वरूपशून्य सा प्रतीत हो (समाधिः) उसे समाधि कहते हैं ॥ ३ ॥

सू० का भा०—जिसमें ध्यान का संस्कार मात्र रह जाय और स्वरूप शून्य के समान हो जाय उसे समाधि कहते हैं ॥ ३ ॥

व्या० भा०—इदमत्र बोध्यम्—ध्यातृध्येयध्यानकल-नावत् ध्यानं तद्रहितं समाधिरिति । ध्यानसमाध्योर्वि-भागः । अस्य च समाधिरूपस्यांगस्यांगिनियोगः सम्प्रज्ञात-योगादयं भेदो यदत्र चिन्तारूपतया निःशेषतो ध्येयस्वरूपं न भासते अङ्गिनि तु सम्प्रज्ञाते साक्षात्कारोदये समाध्य-विषया अपि विषया भासन्त इति । तथा च साक्षात्कार-युक्तैकाग्रकाले सम्प्रज्ञातयोगः । अन्यदा तु समाधिमात्र-मिति विभागः समाधिः । ध्यानमेव ध्येयाकार निर्भासं प्रत्ययाऽत्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्व-भावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते ॥ ३ ॥

भा० का प०—यहाँ ऐसा जानना चाहिये ध्याता-ध्यान करने-

होनेसे संयम कहा जाता है । एक विषय वाले तीन साधनोंको संयम कहा है सो इस शास्त्र में इन तीनों की संयम सखा है ॥ ४ ॥

भा० का भा०—किसी एक ही ध्येय में धारणा, ध्यान और समाधि का करना संयम कहा जाता है ॥ ४ ॥

सो० सू०—एकस्मिन् विषये धारणाध्यानसमाधिप्रयं प्रवर्तमानं संयमसंज्ञया शास्त्रे व्यवहियत ॥ ४ ॥ तस्य पञ्चमाह—

सो० सू० का भा०—एक ही विषय में जो धारणा ध्यान समाधि की जाती है उसका नाम संयम है ॥ ४ ॥ आगे संयम का पक्ष कहते हैं—

तज्जयात् प्रज्ञात्सोकः ॥ ५ ॥

सू० का प०—(तज्जयात्) उस संयम के जय से (प्रज्ञात्सोकः) बुद्धि का प्रकाश होता है ॥ ५ ॥

सू० का भा०—संयम के जय से बुद्धि का प्रकाश होता है ॥५॥

ध्या०—तस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञाया भवत्य-
त्सोको यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा
समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति ॥ ५ ॥

भा० का प०—उस संयम के जीतने से समाधिविषयिणी बुद्धि का प्रकाश होता है जैसे २ संयम स्थिर होता है । ऐसे २ इश्वर कृपा से समाधि विषयिणी बुद्धि निपुण होती जाती है ॥ ५ ॥

भा० का भा०—जैसे २ संयम स्थिर होता है वैसे २ समाधि विषयिणी बुद्धि निर्मल होती जाती है ॥ ५ ॥

५ सू०—अर्थात् जो पदार्थ बुद्धि द्वारा जानने योग्य हैं उनका प्रकाश होता है । यहाँ पर यह शंका होती है कि योग के आ पूर्व पाद में आठ अंग हैं उन सबका एक स्थान में वर्णन करके फिर

भिन्न-भिन्न स्थलों में वर्णन क्यों किया ? इसका उत्तर अगले सूत्र में लिखते हैं ॥ ५ ॥

भो० वृ०—तस्य संयमस्य जयादभ्यासेन सात्म्योत्पादनात् प्रज्ञाया विवेकख्यातेरालोकः प्रसवो भवति । प्रज्ञा ज्ञेयं सम्यगवभासतीत्यर्थः ॥ ५ ॥ तस्योपयोगमाह—

भो० वृ० का भा०—संयम के जय अर्थात् अभ्यास से प्रज्ञा अर्थात् विवेकख्याति का प्रकाश होता है अर्थात् बुद्धि से जानने योग्य जो पदार्थ वा विषय हैं वे अच्छी भाँति प्रकाशित होजाते हैं ॥ ५ ॥ संयम का उपयोग (लाभ) कहते हैं—

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

सू० का प०—(तस्य) उस संयम को (भूमिषु विनियोगः) योगकी भूमियोंमें स्थिर किया जाता है ॥६॥

सू० का भा०—संयम की स्थिरता योग की भूमियों में क्रम से करनी चाहिये ॥ ६ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—तस्य संयमस्य जितभूमेर्याऽनन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः । न ह्यजिताधरभूमिनन्तरभूमिं विलंघ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते तदभावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञालोकः । ईश्वरप्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः कस्मात्—तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वात् भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः । कथम् एवं युक्तम्—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्तते ।

योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरमिति ॥ ६ ॥

वाक्या ध्येय—विसर्ग ध्यान किया जाए तथा ध्यान इन तीनों का प्रभेद जिसमें प्रतीत हो वह ध्यान कहा जाता है । उस भेद से यद्विष को समाधि कहते हैं । यही ध्यान और समाधि में भेद है । इस समाधि रूप योगी अंगी सम्प्रज्ञातयाग से यही भेद है कि समाधि में चिन्ता विनष्ट होजाने के कारण ध्येय का स्वरूप प्रकटित नहीं होता सम्प्रज्ञात में साक्षात्कार के लय ज्ञान से समाधि के अगम्य विषय भी प्रतीत होते हैं तथा साक्षात्कार से युक्त एकप्र अवस्था में सम्प्रज्ञातयोग होता है यही विभाग है । ध्यान ही ध्येय के आकार में परिणत होकर अब ज्ञान स्वरूप से धूम्य के समान होजाता है अर्थात् व्याता में अब ध्येय के स्वभाव का आवेश हो जाता है तब समाधि होती है ॥ ३ ॥

भा० का भा०—पूर्व लिखे लक्षणों में सम्येह होता है कि ध्यान और समाधि में क्या भेद है ? इसका उत्तर यह है कि ध्यान में व्यात ध्येय ध्यान की त्रिपुटि का ज्ञान बना रहता है किन्तु समाधि में वह नहीं रहता । अब यह सम्येह हुआ कि पूर्वलिखित सम्प्रज्ञात योग और समाधि में क्या प्रभेद है ? इसका उत्तर यह है कि समाधि में योगी निर्बिकल्प हो जाता है इससे ध्येय का स्वरूप ज्ञान नहीं होता किन्तु सम्प्रज्ञात योग में साक्षात्कार के लय होने से समाधि में जो विषय ज्ञात नहीं होते वे विषय भी प्रकटित होते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि साक्षात्कारयुक्त एकप्र अवस्था में सम्प्रज्ञात योग और अन्य समय में समाधि योग होता है अर्थात् समाधि का लक्षण यही है कि ध्यान में ध्येय के स्वभाव का आवेश होजाने को समाधि सिद्ध कहते हैं ॥ ३ ॥

३ सू०—‘सम्यगाधीयत एकप्रीक्रियते विषयान् परिहृत्य समा यत्र सः समाधिः’ । विज्ञों को निवारण करके जिसमें मनको एकप्र किया जाय उसे समाधि कहते हैं ॥ ३ ॥

भो० वृ०—तदेवोक्तलक्षणं ध्यानं यत्रार्थमात्रनिर्भासमर्थाकार
समावेशादुद्भूतार्थरूपं न्यग्भूतज्ञानस्वरूपत्वेन स्वरूपशून्यतामिवा-
पद्यते समाधिरित्युच्यते । सम्यगाधीयत एकाग्रीक्रियते विक्षेपान
परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः ॥ ३ ॥

उक्तलक्षणस्य योगागत्रस्य व्यवहाराय स्वशास्त्रे तान्त्रिकीं
संज्ञां कर्तुमाह—

भो० वृ० का भा०—जिस ध्यान का लक्षण पूर्व कह आये हैं
वहीं ध्यान अर्थाकार अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से अर्थों का ज्ञान जिसमें
हो और ध्यान का स्वरूप जिसमें शून्य के समान हो जाय उसे
समाधि कहते हैं । इसमें ध्याता, ध्यान, ध्येय की त्रिपुटि का ज्ञान
नहीं रहता है । समाधि का शब्दार्थ यह है कि भली भाँति धारण
किया जाय मनको जिसमें अर्थात् मन विक्षेपोंको त्याग कर जिसमें
एकाग्र होजाता है उसे समाधि कहते हैं ॥३॥ योग के जो यह तीन
अङ्ग ध्यान, धारणा और समाधि हैं इन तीनों का एक शब्द से
व्यवहार करने के लिये योगशास्त्र की तान्त्रिकी संज्ञा कहते हैं:—

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

सू० का प०—(त्रयम्) तीनों का (एकत्र) एक
जगह में होना (संयमः) संयम कहाता है ॥ ४ ॥

सू० का भा०—ध्यान, धारणा, समाधि इन तीनों के एकत्र
होने को संयम कहते हैं ॥ ४ ॥

व्या० भा०—तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र
संयमः । एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते ।
तदस्यत्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति ॥ ४ ॥

भा० का प०—सो यह ध्यान, धारणा, समाधि तीनों एकत्र

होनेसे संयम कहा जाता है । एक विषय बाते तीन साधनोंके संयम करते हैं सो इस शास्त्र में इन तीनों की संयम संज्ञा है ॥ ४ ॥

भा० का भा०—किसी एक ही ध्येय में धारणा, ध्यान और समाधि का करना संयम कहा जाता है ॥ ४ ॥

भा० वृ०—एकस्मिन् विषये धारणाध्यानसमाधिश्च प्रवर्तमानं संयमसंज्ञया शास्त्रे व्यपदिश्यते ॥ ४ ॥ तस्य फलमाह—

मो० वृ० का भा०—एक ही विषय में जो धारणा ध्यान समाधि की जाती है उसका नाम संयम है ॥ ४ ॥ आगे संयम का फल कहते हैं—

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

सू० का प०—(तज्जयात्) उस संयम के अय से (प्रज्ञालोकः) बुद्धि का प्रकाश होता है ॥ ५ ॥

सू० का भा०—संयम के अय से बुद्धि का प्रकाश होता है ॥ ५ ॥

व्या०—तस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञाया मवस्था-
लोको यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा
समाधिप्रज्ञा विहारदी भवति ॥ ५ ॥

भा० का प०—उस संयम के जीतने से समाधिविषयिणी बुद्धि का प्रकाश होता है जैसे २ संयम स्थिर होता है । ऐसे २ इष्टर कृपा से समाधि विषयिणी बुद्धि निपुण होती आती है ॥ ५ ॥

भा० का भा०—जैसे २ संयम स्थिर होता है वैसे २ समाधि-विषयिणी बुद्धि निर्मल होती आती है ॥ ५ ॥

५ सू —अर्थात् जो पदार्थ बुद्धि द्वारा जानने योग्य हैं उनका प्रकाश होता है । यहाँ पर यह शंका होती है कि योग के आ पूर्व पाद में आठ अंग हैं उन सबका एक स्थान में बर्तन करके फिर

भिन्न-भिन्न स्थलों में वर्णन क्यों किया ? इसका उत्तर अगले सूत्र में लिखते हैं ॥ ५ ॥

भो० वृ०—तस्य संयमस्य जयादभ्यासेन सात्म्योत्पादनात् प्रज्ञाया विवेकख्यातेरालोकः प्रसवो भवति । प्रज्ञा ज्ञेयं सम्यगवभासतीत्यर्थः ॥ ५ ॥ तस्योपयोगमाह—

भो० वृ० का भा०—संयम के जय अर्थात् अभ्यास से प्रज्ञा अर्थात् विवेकख्याति का प्रकाश होता है अर्थात् बुद्धि से जानने योग्य जो पदार्थ वा विषय हैं वे अच्छी भाँति प्रकाशित होजाते हैं ॥ ५ ॥ संयम का उपयोग (लाभ) कहते हैं—

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

सू० का प०—(तस्य) उस संयम को (भूमिषु विनियोगः) योगकी भूमियोंमें स्थिर किया जाता है ॥६॥

सू० का भा०—संयम की स्थिरता योग की भूमियों में क्रम से करनी चाहिये ॥ ६ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—तस्य संयमस्य जितभूमेर्याऽनन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः । न ह्यजिताधरभूमिनन्तरभूमिं विलंघ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते तदभावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञालोकः । ईश्वरप्रसादाब्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः कस्मात्—तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वात् भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः । कथम् एवं युक्तम्—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्तते ।

योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरमिति ॥ ६ ॥

भा० का प०—पूर्वोक्त संयम का बीठा हुई भूमि के अनन्तर वा भूमि है उसमें विनियोग किया जाता है नीचे की सीढ़ियों को क्रम से बिना उत्सर्जन किये प्राप्तभूमि में संयम प्राप्त नहीं होता बिना प्राप्तभूमि में संयम किये बुद्धि का प्रक्षर कहां ? और जिस योगी ने ईश्वर की कृपा से उत्तरभूमि को जीता है उसका नीची भूमि और परीक्षित ज्ञान में संयम करना युक्त नहीं है क्योंकि इस सीढ़ी के पश्चात् यह सीढ़ी है इसका वनान वाला उन विषयों का यागी स्वरूप ही जानता है योग ही उपाध्याय है । जैसा कि कहा है—योग को योग से जानना चाहिये, योग से योग प्राप्त होता है, जो योग में अप्रमत्त है वही योग से चिरकाल तक रमण करता है ॥ ६ ॥

भा० का भा०—संयम का याग की भूमियों के द्वारा सिद्ध करे अर्थात् क्रमशः उसमें अभ्यास बढ़ाता जाय, उन सीढ़ियों का यागभूमि कहते हैं बिना प्रथमभूमि के सिद्ध किये द्वितीय में कोश नहीं आ सकता । ईश्वर की कृपा से जिसको उत्तरभूमियों में संयम प्राप्त हुआ है उन्हें अधोभूमि में संयम करने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनको भूमियों का परिणाम हो जाता है । योग से योग प्रवृत्त होता है, जो याग में सावधान रहता है वही याग में चिरकाल तक आनन्द भागता है । तात्पर्य यह है कि याग की आ ४ कार्यविमुक्ति और ३ चित्तविमुक्ति सप्तभूमिका कहीं भी जगह में यागी का क्रमसे संयम करना चाहिये ॥ ६ ॥

भा० पु०—तस्य संयमस्य भूमिषु स्थूलसूक्ष्माक्षमभेदन स्थितासु चित्तपुच्छिषु विनियोगः कर्तव्यः, अधरामधरी चित्तभूमिं जित्वा जित्वा आस्थावरस्या भूमौ संयमः काव्यः । न एनास्मिन्नुपाय रभूमिगन्तरस्या भूमौ संयमे कुत्रापि फलमागमवति ॥ ६ ॥

साधनपादे यागांगानि यष्टौ चरित्य पञ्चानां सप्तण विधाय

त्रयाणां कथं न कृतमित्याशंक्याह—

भो० वृ० का भा०—संयम का पूर्व कही भूमिकाओं में अभ्यास करने से, स्थिर हुई जो चित्त की वृत्ति है उसमें विनियोग अर्थात् अनुष्ठान करना चाहिये अभिप्राय यह है कि प्रथम योग सम्बन्धि-नी नीची चित्तभूमि में पूरा अधिकार जमा के उससे ऊँची भूमि में संयम करना चाहिये । क्योंकि नीची भूमि में बिना पूरा अधिकार प्राप्त किये जो ऊँची भूमि में संयम करता है वह योग के फल को प्राप्त नहीं होता है ॥ ३ ॥

साधनपाद में योग के आठ अंकों का वर्णन करके पाँच के लक्षण कहे और तीन को क्यों छोड़ दिया ? इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं—

त्रयमन्तरंगं पूर्वैभ्यः ॥ ७ ॥

सू० का प०—(त्रयम्) ध्यान, धारणा और समाधि (अन्तरंगम्) अन्तरंग हैं (पूर्वैभ्यः) पहिले यमादिकों से ॥ ७ ॥

सू० का भा०—यमादिकों की अपेक्षा ध्यान, धारणा और समाधि अन्तरंग हैं ॥ ७ ॥

व्या० दे० का भा०—तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रय-मन्तरंगं सम्प्रज्ञातस्य समाधेःपूर्वैभ्यो यमादिभ्यः पञ्चभ्यः साधनेभ्य इति ॥ ७ ॥

भा० का प०—सो यह धारणा, ध्यान, समाधि तीनों अन्तरंग साधन हैं । सम्प्रज्ञात समाधि के पूर्वोक्त यमादिक पाँच साधनों से ॥ ७ ॥

भा० का भा०—धारणा, ध्यान समाधि, यह तीनों पूर्व कहे

सम्प्रज्ञात योग के यमादि पाँच साधनों से अन्तरंग साधन हैं, अर्थात् इनसे प्रत्यक्ष सम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है ॥ ७ ॥

७ सू०—तात्पर्य यह है यमादि ५ अंग सम्प्रज्ञात योग के बहिरंग साधन हैं और धारणा, यह तीनों सम्प्रज्ञात योग के अन्तरंग साधन हैं ॥ ७ ॥

मो० वृ०—पूर्वभ्यो यमादिभ्यो योगाङ्गभ्यः पारम्पर्येण समाधेस्मृकारकेभ्यो धारणादियोगाङ्गत्रयं सम्प्रज्ञातस्य समाधेरुत्तरं समाधिदृढरूपनिष्पादनात् ॥ ७ ॥

तस्यापि समाभ्यन्तरापेक्षया बहिरङ्गत्वमाह—

मो० वृ० का भा०—पूर्व कहे यम आदि योग के अंग परम्परा अर्थात् हिसाबिबितर्कों को नारा करने से योग के सहायक हैं परन्तु धारणा आदिक तीन सम्प्रज्ञात समाधि में सञ्ज्ञात् सहायक हैं इस कारण वे योगके अन्तरंग साधन हैं और यमादिक बहिरंग हैं ॥ ७ ॥

निर्वीज समाधि के वे भी बहिरंग हैं इस बात को अगले सूत्र में कहते हैं ।

तदपि बहिरंग निर्वीजस्य ॥ ८ ॥

सू० का प०—(तदपि) यह धारणादिक तीन भी (बहिरङ्गम्) बहिरंग साधन हैं (निर्वीजस्य) निर्वीज समाधि के ॥ ८ ॥

सू० का भा०—निर्वीज समाधि के व्यानादिक भी बहिरंग साधन हैं ॥ ८ ॥

व्या० वे० कु० भा०—तदप्यन्तरंगं साधनत्रयं निर्वीजस्य यागस्य बहिरंगैर्मपति कस्माच्चदमाधे मावादिति ॥ ८ ॥

अथ निरोधचित्तक्षणेषु चलं गुणवृत्तमिति कीदृशम्-
तदा चित्तपरिणामः ?

भा० का प०—पूर्वोक्त तीनों अन्तरंग साधन निर्वाज योग के बहिरंग होते हैं क्योंकि उनके बिना भी निर्वाज योग होता है ॥८॥

भा० का भा०—ध्यानादि असम्प्रज्ञात योग के बहिरंग साधन हैं, अन्तरंग नहीं ॥८॥

भो० वृ०—निर्वाजस्य निरालम्बनस्य शून्यभावनापरपट्या-
यस्य समाधेरेतदपि योगागत्रय बहिरंगं पारंपर्येणोपकारक
त्वात् ॥८॥

इदानीं योगसिद्धिराख्यातुकामः संयमस्य विषयविशुद्धिं कर्तुं-
क्रमेण परिणामत्रयमाह—

भो० वृ० का भा०—जो समाधि शून्य के समान निरालम्ब
वानिर्वाज (असम्प्रज्ञात) होती है उसके धारणादि तीनों बहिरंग
साधन हैं क्योंकि ये भी परम्परासे उसके सहायक हैं ॥८॥

योग से जो सिद्धि प्राप्त होती है उनका वर्णन करनेके अभिप्राय
से संयम के विषय को स्पष्ट करनेके निमित्त तीन प्रकार के परि-
णाद कहते हैं ।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ
निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥९॥

सू० का पदा०—(व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः) चंच-
लता और एकाग्रता के संस्कारों का (अभिभवप्रादुर्भावौ)
जो गुप्त और प्रकट होना (निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोध-

परिणामः) निरोधक्षय में जो चित्त का अन्वय उसे निरोधपरिणाम कहते हैं ॥६॥

सू० का भा०—चित्तादिक चित्त की चञ्चलता और निरोधपुत्तियों के जो संस्कार उन संस्कारों का जो प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है उस क्षण में निरोध के अनुसार जो चित्त का परिणाम होता है उसे निरोधपरिणाम कहते हैं ॥६॥

व्या० वे० कु० भा०—अप्युत्थानसंस्काराविचक्षमा न ते प्रत्ययारम्भा इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धा निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्मास्तयोरभिमप्रादुर्भावौ अप्युत्थानसंस्काराहीयन्ते निरोधसंस्कारा आधीयन्ते । निरोधवर्षचित्तमन्वेति तदेकस्य चित्तस्य प्रतिषण्णमिदं संस्कारान्यथा स्व निरोधपरिणामः तदा संस्कारक्षेपं चित्तमिति निरोधसमाधौ व्याख्यातम् ॥ ६ ॥

भा० का प०—अप्युत्थानादिसंस्कार जो चित्तके धर्म हैं वे ज्ञानात्मक नहीं होते ज्ञान के निरोध में नहीं रुकते हैं अर्थात् परिणामी हैं निरोधसंस्कार भी चित्त के धर्म हैं व जब गुप्त वा प्रकट होते हैं तब अप्युत्थान संस्कार नष्ट हो जाते हैं और निरोधसंस्कार धारण किये जाते हैं निरोध का अनुयायी चित्त को मान कर उस एक चित्तका प्रतिषण्ण संस्कार निर्णय निरोध का परिणाम है यह निरोधसमाधि में चित्तका व्याख्यान किया गया है ॥ ६ ॥

भा० का भा०—अप्युत्थान संस्कार और निरोध संस्कार यह दोनों चित्त के धर्म हैं । अप्युत्थान संस्कार अज्ञानकृत होता है जिस समय निरोध संस्कारों का प्रवृत्ति होता है उस समय अप्युत्थान संस्कार अस्त हो जाता है निरोध क्षण में जो चित्त का परिणाम

होता है उसी संस्कारशेष चित्त को निरोधसंस्कृत चित्त कहते हैं ६

६ सू०—इस सूत्र का भावार्थ यह है कि यद्यपि चित्त का धर्म स्वाभाविक ही व्युत्थान अर्थात् चंचलता है तो भी जिस क्षण में व्युत्थान के धर्मों का तिरोभाव और निरोध के धर्मों का प्रादु-
प्रादुर्भाव होता है उस ही अवस्था को निरुद्धावस्था कहते हैं ॥६॥

भो० वृ०—व्युत्थानं क्षिप्तमूढं विक्षिप्ताख्यं भूमित्रयम् । निरोधः
प्रकृष्टसत्त्वस्याङ्गितया चेतसः परिणामः । ताभ्यां व्युत्थाननिरो-
धाभ्यां यौ जनितौ संस्कारौ तयोर्यथाक्रममभिभवप्रादुर्भावौ यदा
भवतः । अभिभवो न्यग्भूततया कार्य्यकरणासायर्थ्येनावस्थानम् ।
प्रादुर्भावो वर्त्तमानेऽध्वनि अभिव्यक्तरूपतया आविर्भावः । तदा
निरोधक्षणे चित्तस्योभयलक्षणवृत्तित्वादन्वयो यः स निरोधपरि-
णाम उच्यते । अयमर्थः—यदा व्युत्थानसंस्काररूपो धर्मस्तिरोभूतो
भवति, निरोध संस्काररूपश्च आविर्भवति, धर्मरूपतया च चित्त
मुभयान्वयित्वेऽपि निरोधात्मनावस्थितं प्रतीयते, तदा स निरोध-
परिणामशब्देन व्यवह्रियते । चलत्वाद्गुणवृत्तस्य यद्यपि चेतसो
निश्चलत्वं नास्ति तथापि एवंभूतः परिणामः स्थैर्यमुच्यते ॥ ६ ॥
तस्यैव फलमाह—

भो० वृ० का भा०—व्युत्थान शब्द से क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त
इन तीन अवस्थाओं का ग्रहण होता है, निरोध शब्द से बुद्धि
और चित्त के उत्तम परिणाम का ग्रहण होता है । इन दोनों व्यु-
त्थान और निरोध से उत्पन्न हुए जो संस्कार उनके क्रम से अभि-
भव और प्रादुर्भाव जब होते हैं, अभिभव का अर्थ शिथिल होनेसे
कार्य करनेमें असमर्थ होना है और प्रादुर्भाव का अर्थ यह है कि
वर्त्तमान मार्ग में स्पष्ट रूप से प्रकाशित हो जाना, जब निरोध के
लक्षण प्रकट होते हैं तब जो व्युत्थान से सम्बन्ध रहता है उसे
निरोध परिणाम कहते हैं । अभिप्राय यह है कि जब व्युत्थान के

संस्कार विपत्ते हैं और निरोध के संस्कार प्रकट होते हैं तब चित्त वाना संस्कारों से युक्त होन पर भी निरोध स्वरूप ज्ञान पड़ता है चित्त की इस दशा का निरोधपरिणाम कहते हैं । यद्यपि चित्त गुणों के प्रभाव से कभी अशक्त नहीं होता चा भी निरोधपरिणाम चित्त का स्थिर भाव कहलाता है ॥ ६ ॥ निरोध परिणाम के फल को कहते हैं—

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

सू०—का प०—(संस्कारात्) उत्तम संस्कारों से (तस्य) चित्त का (प्रशान्तवाहिता) शान्त प्रभाव होता है ॥ १० ॥

सू० का भा०—उत्तम संस्कारों से चित्त का शान्त प्रभाव होता है ॥ १० ॥

व्या० दे० कु० भा०—निरोधसंस्कारान्निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षा प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति । तद् संस्कारमान्ये व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मसंस्कारोऽभिभूयत इति ॥ १० ॥

भा० का प०—निरोध संस्कार से निरोध संस्कारों के अभ्यास की पटुता की अपेक्षा चित्त की प्रशान्तवाहिता होती है निरोध संस्कार के मध्य होन पर व्युत्थान संस्कारों के द्वारा निरोधधर्म वाता संस्कार विराभूत अर्थात् दबा हुआ रहता है ॥ १० ॥

भा० का भा०—चित्त की वृत्तियों को निरोध करने वाले संस्कार के अभ्यास से चित्त की प्रशान्तवाहिता अर्थात् निर्मल-स्थिरता होती है और उससे पूर्व चित्तमें चञ्चलता रहती है ॥ १० ॥

भो० वृ०—तस्य चेतसो निरुक्कान्निरोवसंस्कारात् प्रशान्त-
याहिता भवति । परिहृतविक्षेपतया । सदृशप्रवाहपरिणामि चित्तं
भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

निरोधपरिणाममभिधाय समाधिपरिणाममाह—

भो० वृ० का भा०—चित्त की उक्त निरोधसंस्कार से प्रशान्त-
चाहिता अर्थात् विघ्न वा चञ्चलतारहित स्थिति होती है फलितार्थ
यह है कि चित्त के विक्षेप दूर होजाने के कारण सदृश परिणाम
प्रवाह वाला चित्त होजाता है ॥ १० ॥ निरोधपरिणाम का वर्णन
करके समाधिपरिणाम का वर्णन करते हैं—

**सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयादयौ चित्तस्य समा-
धिपरिणामः ॥ ११ ॥**

सू० का प०—(सर्वार्थतैकाग्रतयोः) सर्वार्थता
अर्थात् अनेक विषयों के विचार से चंचल रहना और
एकाग्रता का जो (क्षयोदयौ) क्षय और उदय होता है
(चित्तस्य समाधिपरिणामः) वह चित्त की समाधि का
परिणाम है ॥ ११ ॥

सू० का भा०—चित्त की सर्वार्थता का क्षय और एकाग्रता
का जो उदय है वह चित्त की समाधि का परिणाम है । फलितार्थ
यह हुआ कि क्षिप्त अवस्था का त्याग देना और एकाग्रता का
उदय होना यही समाधि का फल है ॥ ११ ॥

व्या० दे० कु० भा०—सर्वार्थता चित्तधर्मः । एक-
ग्रतापि चित्तधर्मः । सर्वार्थतायाः क्षयस्तिरोभाव इत्यर्थः ।

एकाग्रताया उदय आविर्भाव इत्यर्थः । तयोर्धर्मित्वेनानु-
मतं चित्तं, तदिदं चित्तमपायोपजनयोः स्वारस्यमृतयोर्धर्म-
योरनुगतं समाधीयते स चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥११॥

भा० क० प०—सर्वार्थता चित्त का गुण है और एकप्रता भी
चित्त का धर्म है । सर्वार्थताका अर्थात् किसीन होजाना और
एकप्रता का उदय अर्थात् प्रकट होना इन धर्मों से युक्त चित्त है
पूर्वोक्त चित्त अपाय अर्थात् पुनः उत्पन्न होना तद्रूप वा धर्मों में
प्राप्त हुआ स्थिर होता है वह चित्त की समाधि का परिणाम है ११

भा० क० भा०—सर्वार्थता और एकप्रता दोनों चित्त के धर्म
हैं जब चित्त चित्त और विविक्त अवस्थाओं का त्याग कर एकप्र
अवस्था में स्थिर होता है तब यही समाधि का परिणाम है ॥११॥

भो० पु०—सर्वार्थता चक्षुराग्नानाविधाधमहर्यं चित्तस्य
विशेषाधर्मः एकस्मिन्नवाऽऽत्मन्वे सदृशपरिणामित्वैकाग्रता सापि
चित्तस्य धर्मः । तयोयवाधर्मं दयादयो सबाधतासृष्टयस्य धर्मस्य
प्रादुर्भावाऽमिभ्यश्चिचित्तस्याद्रिच्छसुरयस्याग्बयितयाऽवस्थानं स
माधिपरिणाम इत्युच्यते । पूर्वस्मात्परिणामादस्यायं विशेषः । तत्र
संस्कारलक्षणयार्थमेयारभिभषमादुर्भावा पूर्वस्य अमुर्यानसंस्कार
रूपस्य अग्रमाधः । उत्तरस्य निरोधसंस्काररूपस्याग्नयाऽनमिमूतत्वं
नावस्थानम् । इह तु दयादयाधिति सर्वार्थतारूपस्य विशेषस्यास्य
मृत्तिरस्कारात्पुनरुत्पत्ति रसीतेऽभ्यनि प्रवेशः कथं एकप्रतासृष्टयस्य
धर्मस्याग्नया वस्तुमानेऽभ्यनि प्रकटरवम् ॥ ११ ॥

तृतीयमेकप्रतापरिणाममाह—

भा० पु० का भा०—चित्त के संबंध होना से अनेक विषयों को
एक साथ महसूस करना सर्वार्थता कहलाती है और यही विषय
कहलाता है इससे विरूप चित्त का एवमाध है एक ही विषय के

आलम्बन में रहना अर्थात् सदृशपरिणाम एकाग्रता वह भी चित्त का धर्म है इन दोनों धर्मों का क्रम से क्षय और उदय अर्थात् सर्वार्थता रूप धर्म का क्षय अत्यन्त तिरस्कार और एकाग्रता रूप धर्म का प्रादुर्भाव अर्थात् प्रकाशित होना चित्त के साथ स्थिर भाव से रहना समाधिपरिणाम कहाता है । पूर्वोक्त परिणाम से इस परिणाम में यही भेद है कि उसमें संस्कार और लक्षका का तिरोभाव और प्रादुर्भाव होता है अर्थात् पहले व्युत्थान रूप संस्कार का तिरोभाव होता है पुनः निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव । और इस समाधि परिणाम में सर्वार्थता के अत्यन्त तिरस्कार से फिर उसका उत्पन्न न होना अर्थात् अतीत मार्ग में प्रविष्ट होना और एकाग्रता रूप धर्म का उद्भव अर्थात् वर्त्तमान मार्ग में वर्त्तना सिद्ध है ॥११॥

शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

सू० का प०—(शान्तोदितौ) शान्त और उदित (तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्य) चित्त के समान ज्ञान हैं (एकाग्रतापरिणामः) यह एकाग्रता का परिणाम है ॥ १२ ॥

सू० का भा०—शान्त प्रत्यय और उदित प्रत्यय चित्त के समान ज्ञान हैं यही एकाग्रता का परिणाम है ॥ १२ ॥

व्या० भा०—समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्त उत्तरस्तु सदृश उदितः समाधित्तमुभयोरनुगतं पुनस्तथैव समाधि अंशादिति स खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

भा० प०—जिस योगीका चित्त सावधान होगया है उसका जो

प्रथम ज्ञान है उसे शान्त प्रत्यय कहते हैं । ऐसे ही उत्तर ज्ञान को
अद्वित प्रत्यय कहते हैं । समाधिस्थ चित्त जब दोनों प्रत्ययोंसे मुक्त
होता है और समाधिके इतना तक फिर वैसा ही हो जाता है उस
उक्त धर्म बाल चित्त की जो एकामता है उसे एकामता का परिणाम
कहते हैं ॥ १२ ॥

भा० क० भा०—चित्त के दो गुण हैं एक शान्तप्रत्यय और
दूसरा अद्वित प्रत्यय । जब मनुष्य इन दोनों गुणों से ऊर्ध्वगत
होता है तब इसके चित्त की एकामता होती है और वही एकामता
का परिणाम है ॥ १२ ॥

मो० ५०—समाहितस्यैव चित्तस्यैकप्रत्ययो वृत्तिविशेषः ।
शान्तोऽतीतमध्याने प्रविष्टः, अपरस्तूदितो धर्तृमामेऽध्वमि स्फु-
रितः । अथपि समाहितचित्तत्वेन तुल्यावेकरूपाक्षम्यनत्वेन सदृशौ
प्रत्ययावुभयत्रापि समाहितस्यैव चित्तस्याम्बपित्तमावस्थानं, स
एकामतापरिणाम इत्युच्यते ॥ १२ ॥

चित्तपरिणामोक्त रूपमन्यत्राप्यतिदिशताह—

मो० ५० क० भा०—साधनान चित्त की ही एकाम वृत्ति होती
है, शान्त पूर्व कीते हुये मार्ग में प्रविष्ट होता है अद्वित चतमान
मार्ग में लगा हुआ है परन्तु यह दोनों समान चित्त के हात हैं
इस कारण दोनों समान हैं क्यों कि इन दोनों का आश्रय एक है
इन दोनों में जो चित्त की स्थिति होती है वह एकामता परिणाम
कहाता है ॥ १२ ॥

चित्त का परिणाम करके ऐसा ही परिणाम औरों में भी
होता है । यही अगले सूत्र में कहेंगे—

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा
व्याख्याता ॥ १३ ॥

सू० का प०—(एतेन) पूर्वसूत्रोक्त उपाय से (भूतेन्द्रियेषु) इन्द्रियों में (धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः) धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम कहे गये हैं ॥ १३ ॥

सू० का भा०—पूर्वोक्त चित्तपरिणाम के कथन से इन्द्रियो के जो धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम होते हैं उनका कथन भी समझना योग्य है ॥ १३ ॥

व्या० कृ० भा०—एतेन पूर्वोक्तेन चित्तपरिणामेन धर्मलक्षणावस्थारूपेण भूतेन्द्रियेषु धर्मपरिणामो लक्षणपरिणामोऽवस्थापरिणामश्चोक्तो वेदितव्यः । तत्र व्युत्थाननिरोधयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्मपरिणामः । लक्षणपरिणामश्च निरोधस्त्रिलक्षणस्त्रिभिरध्वभिर्युक्तः । स खल्वनागतलक्षणमध्वानं प्रथमं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तो वर्तमानलक्षणं प्रतिपन्नः । यत्रास्य स्वरूपेणाभिव्यक्तिः । एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा । न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तः ।

तथा व्युत्थानं त्रिलक्षणं त्रिभिरध्वभिर्युक्तं वर्तमानलक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तमतीतलक्षणं प्रतिपन्नम् । एषोऽस्य तृतीयोऽध्वा । न चानागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तः । एवं पुनर्व्युत्थानमुपसंपद्यमानमनागतलक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तं वर्तमानलक्षणं प्रतिपन्नम् ।

यथास्य स्वरूपामिष्पक्तौ सस्यां व्यापारः । एषोऽस्य
द्वितीयोऽध्या वातोतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां विमुक्त-
मित्येषं पुनर्निरोध एव पुनर्भुत्त्वानमिति ।

तथाऽवस्थापरिणामः । तत्र निरोधस्य निरोध-
संस्कारा पक्षवन्तो भवन्ति दुर्बला भुत्त्वानसंस्कारा इत्येष
धर्मावस्थायपरिणामः । तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो
धर्माणां व्यञ्जनां लक्षणैः परिणामो लक्षणानामप्यवस्था-
मिः परिणाम इति एव धर्मलक्षणवस्थापरिणामैः शून्यं
न चक्षमपि गुणवृक्षमवतिष्ठते पक्षच गुणवृक्षम् । गुणस्या-
माभ्य तु प्रवृत्तिकारणमुक्तं गुणानामिति । एतेन भूतेन्द्रि-
येषु धर्मधर्मिमेदात् त्रिविधः परिणामो वेदितव्यः ।

परमायतस्त्वेक एव परिणामः धम्मस्वरूपमात्रो हि
धर्मो धर्मिविक्रियैवैषा धर्मद्वारा प्रपञ्च्यत इति । तत्र
धर्मस्य धर्मिणि वर्तमानस्यैवाध्वस्वहीतानागतवर्तमानेषु
भावान्यथात्वं भवति नतु द्रव्यान्यथात्वम् । यथा सुवर्णमा-
लनस्य मिश्रान्यथाक्रियमासस्य भावान्यथात्वं भवति न
सुवर्णान्यथात्वमिति अपर आह—धर्मान्मयधिको धर्मो
पूर्वतस्त्वानतिक्रमात् । पूर्वापरावस्थामेवमनुपवितः क्वैटस्थ्ये
नैव परिवर्तेत, यद्यन्वयो स्यादित्ययमदोषः । कस्मात् ?
एकान्ततानभ्युपगमात् तदेतत्त्रैलोक्य व्यक्तेरपैति नित्यत्वं
प्रतिपत्तात् अपेक्षमप्यस्ति विनाशप्रतिपत्तात् । सप्तर्गाणास्य

सौचम्यं, सौचम्याच्चानुपलब्धिरिति ।

लक्षणपरिणामो धर्मोऽध्वसु वर्तमानोऽतीतोऽतीत-
लक्षणयुक्तोऽनागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः ।
तथाऽनागतोऽनागतलक्षणयुक्तो वर्तमानातीताभ्यां लक्ष-
णाभ्यामवियुक्तस्तथा वर्तमानो वर्तमानलक्षणयुक्तोऽती-
तानागताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्त इति । यथा पुरुष
एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु विरक्तो भवतीति । अत्र
लक्षणपरिणामे सर्वस्य सर्वलक्षणयोगादध्वसंकरः प्राप्नोति
परैर्दोषश्चोद्यत इति । तस्य परिहारधर्माणां धर्मत्वम-
साध्यम् । सति च धर्मत्वे लक्षणाभेदोऽपि वाच्यो न
वर्तमानसमय एवास्य धर्मत्वम् एवं हि न चित्तं रागधर्मकं
स्यात् क्रोधकाले रागस्यासमुदाचारादिति ।

किञ्च त्रयाणां लक्षणानां युगपदेकस्या व्यक्तौ
नास्ति सम्भवः । क्रमेण तु स्वव्यञ्जकाजनस्य भावो भवे-
देति । उक्तंच रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च विरुध्यन्ते,
सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तते । तस्मादसङ्करः । यथा
रागस्यैव क्वचित्समुदाचार इति न तदानीमन्यभावः,
किंतु केवलं सामान्येन समध्वागत इत्यस्ति तदा तत्र तस्य
भावः । तथा लक्षणास्येति । न धर्मी ज्यध्वा धर्मास्तु
ज्यध्वानस्ते लक्षिता अलक्षिताश्च तां तामवस्थां प्राप्नुव-
तोऽन्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्य तेऽवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः

यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैकं चै
यथा चैकस्तेऽपि स्त्री माता चोच्यते दुरिता च स्व

अवस्थापरिणामे कौटस्थ्यप्रसङ्गदोषः कै
क्यम् अश्विनो व्यापारेण व्यवहितत्वात् ॥ यदा
स्वव्यापारं न करोति तदानागतौ यदा करोति त
मानो यदा कृत्वा निवृत्तस्तदातीत इत्येवं धर्मः
लक्षणाणामवस्थानां च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति
उच्यते । नासौ दोषः । कस्मात् ? गुप्ती नित्य
गुप्तानां विमर्षवैचित्र्यात् ॥ यथा सस्थानमादिमध
शब्दादीनां गुप्तानां विनाश्यविनाशिनामेवं सिंगमा
धर्ममात्रं सत्त्वादीनां गुप्तानां विनाश्य विनाशिनां त
विकारसङ्घेति ॥

तत्रदमुदाहरणं मृदुर्मो पिष्टाकारादुर्मन्तिर
सम्पद्यमानो धर्मतः परिस्रमते षट्कार इति ॥ षट्कार
रोज्जागत लक्षणां हिता वर्धमानलक्षणां प्रतिपद्यत इ
लक्षणायातः परियामते । षट् नवपुराणां प्रतिष्ठापामनुम
अवस्थापरिणामं प्रतिपद्यते इति । धर्मिणोऽपि धर्मन्तिर
मवस्था धर्मस्यापि लक्षणांतरमवस्थेत्येक एव द्रव्यपरि
णामो भेदेनोपदर्शित इति ।

एवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यमिति । त एते धर्मलक्ष
णावस्थापरिणामा धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक ए

परिणामः सर्वानमून्विशेषानभिप्लवते । अथ कोऽयं परि-
णामः ? अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरो-
त्पत्तिः परिणाम इति ॥ १३ ॥ तत्र—

भा० का प०—पूर्व कहे हुए चित्त के परिणाम से धर्म, लक्षण
और अवस्था रूप से भूतेन्द्रिय अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियों में धर्म
परिणाम लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम समझने योग्य
हैं । इन तीनों में से धर्मपरिणाम उसे कहते हैं जिसमें धर्मों
अर्थात् इन्द्रियों में व्युत्थान अर्थात् चञ्चलता और निरोध अर्थात्
स्थिरता रूप दो धर्मों का तिरोभाव और प्रादुर्भाव होता है और
लक्षण परिणाम वह है जिसमें इन्द्रियनिरोध तीन मार्गों से युक्त
होता है वह निरोध प्रथम अनागत लक्षणवाले मार्ग को परित्याग
कर गुणताको ग्रहण किये हुए वर्तमानलक्षण को प्राप्त होता है
जिसमें अपने रूप का प्रकाश होता है यह चित्त का दूसरा मार्ग
— जो कि अतीत और अनागत (भूत और भविष्य) के लक्षणों
भिन्न नहीं हैं ।

१ ऐसे ही व्युत्थान भी त्रिलक्षण अर्थात् तीन मार्गों से युक्त
॥ वर्तमान लक्षण का त्याग कर धर्मभाव को ग्रहण किये हुए
तीत अर्थात् भूत लक्षण को प्राप्त हुआ यह चित्त का तीसरा
मार्ग है । भविष्य और वर्तमानके लक्षणों से — नहीं है इसी
से फिर चञ्चल । भविष्य परित्याग
भाव का न होकर
एव चित्त के होकर
॥ १४ ॥
और
वा

वा
॥ १५ ॥

ययैका रेखा शतस्थाने शत दशस्थाने दशैक वैकस्थाने ॥
यथा वैकत्वेऽपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसा चेति ।

अवस्थापरिणामे कौटस्थ्यप्रसंगदोषः कैश्चिदुक्तः ॥
कथम् अश्विनो व्यापारेण व्यवहितत्वात् ॥ यदा धर्मः
स्वव्यापार न करोति तदानागतौ यदा करोति तदा वर्त-
मानो यदा कृत्वा निवृत्तस्तदातीत इत्येवं धर्मधर्मिणो
सुखाद्यानामवस्थानां च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति परैर्दोष
उच्यते । नासौ दोषः । कस्मात् ? गुणी नित्यत्वेऽपि
गुणानां विमर्दवैशिष्ट्यात् ॥ यथा सत्त्वानमादिमधर्ममात्रं
शब्दादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनामेवं क्षियमादिम
धर्ममात्रं सत्त्वादीनां गुणानां विनाश्य विनाशिनां तस्मिन्
विफारसश्चेति ॥

तत्रदमुदाहरणं मुद्रमो पिंडाकारादुमादुर्मन्तरमुप
सम्पद्यमानो धर्मतः परिणमते घटाकार इति ॥ घटाका
रोऽनागत सृष्ट्यां हिता वर्धमानसृष्ट्यां प्रतिपद्यत इति
सृष्ट्यातः परियामते । घटो नवपुरायातां प्रतिक्रियामनुभव
अवस्थापरिणामं प्रतिपद्यते इति । धर्मिणोऽपि धर्मन्तर
मवस्था धर्मस्यापि सृष्ट्यान्तरमवस्थेत्येक एव द्रव्यपरि
णामो मेवेनोपदर्शित इति ।

एवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यमिति । त एते धर्मसृष्ट्या
आवस्थापरिणामा धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक एव

परिणामः सर्वानमून्विशेषानभिप्लवते । अथ कोऽयं परि-
णामः ? अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरो-
त्पत्तिः परिणाम इति ॥ १३ ॥ तत्र—

भा० का प०—पूर्व कहे हुए चित्त के परिणाम से धर्म, लक्षण और अवस्था रूप से भूतेन्द्रिय अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियों में धर्म परिणाम लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम समझने योग्य हैं । इन तीनों में से धर्मपरिणाम उसे कहते हैं जिसमें धर्मी अर्थात् इन्द्रियों में व्युत्थान अर्थात् चञ्चलता और निरोध अर्थात् स्थिरता रूप दो धर्मों का तिरोभाव और प्रादुर्भाव होता है और लक्षण परिणाम वह है जिसमें इन्द्रियनिरोध तीन मार्गों से युक्त होता है वह निरोध प्रथम अनागत लक्षणवाले मार्ग को परित्याग कर गुणताको ग्रहण किये हुए वर्तमानलक्षण को प्राप्त होता है जिसमें अपने रूप का प्रकाश होता है यह चित्त का दूसरा मार्ग है जो कि अतीत और अनागत (भूत और भविष्य) के लक्षणों से भिन्न नहीं हैं ।

ऐसे ही व्युत्थान भी त्रिलक्षण अर्थात् तीन मार्गों से युक्त है । वर्तमान लक्षण को त्याग कर धर्मभाव को ग्रहण किये हुए अतीत अर्थात् भूत लक्षण को प्राप्त हुआ यह चित्त का तीसरा मार्ग है । भविष्य और वर्तमानके लक्षणों से युक्त नहीं है इसी प्रकार से फिर चञ्चल हुआ चित्त भविष्य लक्षण को परित्याग करके धर्म भाव का ग्रहण किये हुए वर्तमान लक्षणको प्राप्त होकर जिस लक्षण में चित्त के स्वरूप का प्रकाश होने से व्यवहृत होता है वह चित्त का दूसरा मार्ग है । जो भूत और भविष्यके लक्षणों से परित्यक्त नहीं होता है । इस रीति से चित्त की फिर एकाग्रता वा निरोध होता है (पुनः व्युत्थानमिति) और फिर चञ्चलता होती है ।

इस ही रीतिसे अवस्था परिणाम है। अवस्था परिणाम में समयमें चित्तका निरोध होता है तब निरोधक संस्कार बलवान् होते हैं। चक्रवर्त्तन के संस्कार बलहीन होजाते हैं इस रीति से चित्त के धर्मों का अवस्था परिणाम है उसमें धर्मी अर्थात् चित्त का इन धर्मों से परिणाम पृक्त तीन मार्गों के आश्रय वाले धर्मों का लक्षणों से परिणाम और लक्षणों का अवस्थाओं से परिणाम अर्थात् अवस्थान्तर होता है। इस रीति से धर्म, लक्षण और अवस्थाकृत परिणामों से रहित कसमात्र भी चित्त नहीं रहता क्योंकि गुण की वृत्तियाँ स्थिर नहीं रहती गुणों का स्वभाव ही चित्त की प्रवृत्ति में कारण कहा है अतएव इन्द्रियों में धर्म और धर्मों के भेद से तीन प्रकार का परिणाम जानना चाहिये।

परमार्थ में तो एक ही परिणाम है क्योंकि धर्मों का स्वरूप मात्र ही धर्म है। धर्मी का चिन्तन ही धर्म द्वारा कहा जाता अर्थात् धर्मी के चिन्तन को ही धर्म रूपसे कहते हैं धर्मस्य वर्तमानस्ये-वाभ्यसु) धर्मी में वर्तमान जो धर्म है वही भूत भविष्य और वर्तमान कालों में अम्यभाव को प्राप्त होता है न कि धर्मी द्रव्य अर्थात् गुणी में कुछ वैपरीत्य नहीं होता। जैसे सुवर्ण के पात्र को तोड़ कर दूसरी रीति का बनाने से केवल उसके भावको चिन्तन होता है, न कि सुवर्ण रूप द्रव्य को।

कोई कहते हैं धर्म ही परमार्थ है क्योंकि उसी से धर्मों की अभिव्यक्ति होती है। यदि धर्मों में भिन्नास्त हो तो वे पूर्वापर अवस्था के भेद को प्राप्त होकर बदल जायें ?

यह दोष नहीं है एकान्तता के न होने से। यदि भिन्नव्यक्ति के समान द्रव्य की भी निश्चयता मानी जाय तो वे तीनों लोक व्यक्ति से रहित हो जायें क्योंकि व्यक्ति में निश्चय नहीं है। अब व्यक्ति ही न रही तो फिर चिन्तन किसका ? इस दशा में यह उक्त

कारण में लीन होने से सदा सूक्ष्म और सूक्ष्म होने से अग्राह्य हो जाय । इसलिए धर्मी चिच्छक्ति के समान कूटस्थ नित्य नहीं है, किन्तु प्रवाद से नित्य परिणामी है ।

लक्षणपरिणाम धर्म तीनों कालों में रहता है भूतलक्षण युक्त भविष्य और वर्तमान के लक्षणों से वियुक्त नहीं होता, भविष्य लक्षण युक्त वर्तमान और भूत के लक्षणों से वियुक्त नहीं होता । ऐसे ही वर्तमान लक्षणयुक्त भूत और भविष्य के लक्षणों से युक्त नहीं होता है जैसे कोई पुरुष एक स्त्री में रक्त होकर औरों से विरक्त नहीं होता ।

इस लक्षण परिणाम में सबमें सब लक्षणों का योग होने से तीनों वर्गों में संकरता प्राप्त होती है ।

दूसरे लोग दोषका उद्घाटन करते हैं उसका उत्तर यह धर्मोंका धर्म होना असाध्य है यदि धर्म का धर्म हो तो लक्षण का भेद कहना भी योग्य है वर्तमान काल में धर्मत्व नहीं होता इस रीति से चित्त रागधर्म वाला सिद्ध नहीं होगा क्योंकि क्रोध के समय में राग समुदाय का आविर्भाव नहीं होता तीनों लक्षणों का एक समय में एक ही व्यक्ति में होना असम्भव है । क्रम से तो ये एक दूसरे के व्यंजक हो सकते हैं अन्यत्र भी लिखा है रूपातिशय और वृत्तिकी अधिकता ये परस्पर विरुद्ध हो सकते हैं और सामान्यतः अतिशयों से मिलकर रहते भी हैं इससे कहीं मार्गसंकर नहीं है जैसे राग ही का अधिकार होता है किन्तु उस राग का दूसरे स्थल में अभाव नहीं केवल सामान्य रूप से दूसरे स्थल में वह है इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय में राग का उस स्थल में सत्ता है ऐसे ही लक्षण की भी सत्ता है ।

धर्मी तीन मार्गका नहीं है, किन्तु धर्मके ही तीन मार्ग हैं । व लक्षित और अलक्षित तीन अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं और

वही धम भिन्न २ नामों से कहे जाते हैं । किन्तु भिन्न २ अवस्थाओंसे, द्रव्यान्तरसे नहीं । जैसे एक ही रेखा शत के स्थान में शत, दश के स्थान में दश और एक स्थान में एक ही होती है । जैसे एक ही स्त्री माता पुत्री भगिनी कहलाती है । अवस्थाके परिणाममें कूटस्थता वाप आध्या यह कहा करते हैं । मार्ग के व्यवहार से निरुद्ध होने से वाप कैसे होगा जब धर्म अपना काम नहीं करता तब वह धनगत है अब अपना कर्म्य का करता है तब वर्तमान है अब अपना कर्म्य का करके निवृत्त हो जाता है तब उसे अतीत कहते हैं । इस रीति से धर्म और धर्म्य के लक्षण और अवस्थाओं का कूटस्थता प्राप्त होती है अन्य बात वाप बैठ हैं । यह दोष नहीं आसकता । गुणोंके रहते भी गुणोंके विमर्दन अर्थात् प्रादुर्भाव और विरोध की विविधता से जैसे संस्थान अर्थात् अपने स्वरूप से स्थिति, विनाशी और अविनाशी शब्दादि गुणों का पहिना धम है, ऐसे ही विज्ञ अर्थात् लक्षण विनाशी और अविनाशी सत्त्वादि गुणोंका पहिना धर्म है उसमें ही विचार संज्ञा है ।

उसमें यह व्याख्या है—मिट्टी पिण्ड के आकार से दूसरे पटादि धर्म का प्राप्त होकर मिट्टी धर्म से ही नष्टाकार में परिणत होती है । उसका पटाकार मविष्य लक्षण को त्याग कर वर्तमान लक्षण का प्राप्त होता है । यह लक्षण का परिणाम प्रतिक्रम में नवीनता और प्राचीनता का प्राप्त होता हुआ वह अवस्थाकृत परिणाम का प्राप्त होता है । इसी रीति से धर्म का धमान्तर अवस्था धम का भी लक्षणांतर अवस्था है । किन्तु द्रव्य परिणाम एक ही है जो भेद से विकलाया गया है । इस ही क्रम से अन्य पदार्थों में भी युक्त करना योग्य है । वे धम लक्षण और अवस्था के परिणाम धर्म के स्वरूप को अतिक्रमण नहीं करते,

इसलिये एक ही परिणाम इन सब विशेषों में प्रवाहित होता है । यह परिणाम क्या है ? उपस्थित द्रव्य का पूर्वधर्म को त्यागकर अन्य धर्मको ग्रहण करना ही परिणाम है ॥ १३ ॥

भा० का भा०—पूर्व सूत्र में जो चित्त परिणाम का वर्णन किया था उससे इन्द्रियो में लक्षणपरिणाम, धर्म परिणाम और अवस्था परिणाम समझने योग्य हैं । उनमें से जिसमें चित्त का उत्थान और निरोध धर्मों का प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है उसे धर्मपरिणाम कहते हैं । लक्षणपरिणाम तीन मार्ग युक्त होता है अर्थात् भूतलक्षण परिणाम, भविष्यलक्षणपरिणाम और वर्तमानलक्षणपरिणाम । भूतलक्षण परिणाम वह है कि जिसमें अनागत लक्षण को परित्याग करके केवल अतीत लक्षण का अनुसरण करता है । किन्तु अतीत लक्षण परिणाम अन्यपरिणामों से नितान्त भिन्न नहीं है, क्योंकि वर्तमानलक्षणपरिणाम, तथा अनागतलक्षणपरिणाम का अंश भी उसमें रहता है, इसी रीति से वर्तमानलक्षणपरिणाम और अनागतलक्षण परिणाम को भी समझना । इनका अभिप्राय यह है कि जब योगी का चित्त समाधि वा निरोध दशा को प्राप्त हो जाता है तब यदि फिर चञ्चलता को धारणकर ले तो उसकी कैसी दशा होगी ? जो तीन प्रकार के परिणाम होते हैं उनमें से एक लक्षणपरिणाम भूत, भविष्य और वर्तमान लक्षणभेद से तीन प्रकार का है । वर्तमानपरिणाम का अभिप्राय यह है कि जिस दशा में योगी का चित्त परिणत हो उसी दशा में रहेगा, किन्तु अन्य दोनों परिणामों का धर्म भी उसके चित्त में बना रहेगा और लघूपाय से ही पुनः चित्त स्थिर हो जायगा । यदि फिर चित्त चञ्चलता को धारण करेगा तो अतीत लक्षणपरिणाम को प्राप्त होगा, यद्वा पुनरुत्थान में अनागतलक्षणपरिणाम को धारण करेगा । यद्वा योगाभ्यास से

अब उत्तम परिणाम को प्राप्त होगा तो प्रथम अतीतसद्यपरिणाम को धारण करता है अर्थात् पूर्व के कुसंस्कार नष्ट हो जाते हैं । द्वितीय वर्तमान परिणाम है और इसके अनन्तर अनागतसद्यपरिणाम होता है । ऐसे ही धर्मपरिणाम तीन मार्गपुच्छ होता है इसमें धर्मी में धर्म अर्थात् गुणों का परिणाम होता है इसमें धर्मी अर्थात् चित्त व्युत्थान धर्म को त्याग कर निरोध धर्म को धारण करता है । इसके अनन्तर अबस्थापरिणाम है इसमें जिस वक्ष में निरोध संस्कारों का अन्त्य होता है उसमें व्युत्थान संस्कारों का वक्ष क्षीय हो जाता है इस रीति से धर्मी में धर्मपरिणाम सद्यपरिणाम और अबस्थापरिणाम होते हैं किन्तु इन तीनों परिणामों से सुन्ध चित्त नहीं होता क्योंकि गुण कभी स्थायी नहीं रहते किन्तु यदर्थ में परिणाम एक ही है क्योंकि धर्म और धर्मी के मेल से यह सब प्रपञ्च होता है अर्थात् धर्म ही रूपान्तर को प्राप्त होता है जैसे सुवर्ण पात्र को तोड़ कर यदि कोई अन्य अस्त्रकार बनाया जाय तो उस परिणाम से केवल पात्र का रूपान्तर होगा किन्तु सुवर्ण का रूपान्तर नहीं होगा । अब इसमें शंका होती है कि एकही व्यक्ति में भूत भविष्य और वर्तमान सद्यसों का होना असम्भव है । यदि सम्भव भी हो तो अभ्यसंस्कारता दोष आयेगा ?

इसका उत्तर यह है कि एक वक्ष में सब परिणाम नहीं होते किन्तु यथाक्रम होने में काइ बाध नहीं है जैसे किसी व्यक्ति में राग हाता है या उससे यह नहीं कह सकते हैं कि इस मनुष्य में काष नहीं है किन्तु राग और काष एक समय में नहीं हात । जैसे एक मनुष्य किसी स्त्री में अनुरक्त हाता है तो वह अन्य स्त्रियों में विरक्त नहीं हाता किन्तु उस समय उस स्त्री में सम्पत्ति फटा जायगा इससे उक्त परिणामों में संकरदोष नहीं आता । इस सब कथन का अन्तिमार्थ यह है कि परिणाम केवल गुणी में हाता है

किन्तु गुणों में नहीं । परिणाम का अर्थ है कि पूर्वगुण को परित्याग कर दूसरे गुण को धारण करना ॥ १३ ॥

भो० वृ०—एतेन त्रिविधेनोक्तेन चित्तपरिणामेन भूतेषु स्थूल-सूक्ष्मेषु इन्द्रियेषु बुद्धिकर्मान्तः करणभेदेनावस्थितेषु धर्मलक्षणावस्थाभेदेन त्रिविधः परिणामो व्याख्यातोऽवगन्तव्यः । अत्रस्थितस्य धर्मिणः पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः धर्मपरिणामः । यथा—मृल्लक्षणस्य धर्मिणः पिण्डरूपधर्मपरित्यागेन घटरूपधर्मान्तरस्वीकारो धर्मपरिणाम इत्युच्यते । लक्षणपरिणामो यथा—तस्यैव घटस्यानागताध्वपरित्यागेन वर्तमानाध्वस्वीकारः । तत्परित्यागेन चातीताध्वपरिग्रहः । अवस्थापरिणामो यथा—तस्यैव घटस्य प्रथमद्वितीययोः सदृशयोः काललक्षयोरन्वयित्वेन । यतश्च गुणवृत्तिर्नापरिणाममाना क्षणमप्यस्ति ॥ १३ ॥

ननु कोऽयं धर्मीत्याशंक्य धर्मिणो लक्षणमाह—

भो० वृ० का भा०—चित्त सम्बन्धी तीन परिणामों के कहनेसे स्थूल भूत और सूक्ष्मभूत, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय तथा अन्तःकरण में धर्म, लक्षण और अवस्थाभेद से तीन प्रकार के परिणाम सिद्ध हुए समझने चाहिये । धर्मपरिणाम उसे कहते हैं जिसमें धर्मी तो यथास्थित रहे किन्तु पूर्व धर्म निवृत्त होकर उसमें दूसरे धर्म की उत्पत्ति हो जाय । जैसे मृत्तिका धर्मी है उसमें पिण्डरूप धर्म के निवृत्त होने से घट रूप धर्मान्तर की उत्पत्ति हो जाती है इसको ही धर्मपरिणाम कहते हैं । लक्षणपरिणाम का अर्थ यह है कि वही घटा जब अनागत अर्थात् भविष्य मार्ग को परित्याग करके वर्तमान मार्ग के ग्रहण करने को उद्यत होता है, उसे लक्षणपरिणाम कहते हैं इनके परित्याग से जो पुनः अपने पूर्वमार्ग (रूप) को ग्रहण करना है उसे अवस्थापरिणाम कहते हैं ॥ १३ ॥

अगले सूत्र में धर्मी के लक्षण कहते हैं—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

सू० का पदा०—(शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी) शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्म से युक्त धर्मी होता है ॥ १४ ॥

सूत्र का भा०—शान्त उदित और अव्यपदेश्य धर्मों का धर्मी अनुसरण करता है ॥ १४ ॥

व्या० दे० कु० भा०—योग्यतावच्छिन्नाधर्मिणः शक्तिरेव धर्मः । स च फलप्रसवमेदानुमितसद्भावः । एकस्यान्योन्यस्य परिहृष्ट । तत्र वर्तमानः स्वव्यापारमनुभवन्धर्मी धर्मान्तरेभ्यः शान्तेभ्यश्चाव्यपदेश्येभ्यश्च मिषते यदा तु सामान्येन समन्वागतो भवति तदा धर्मिस्वरूपमाश्रप्त्वा कोऽसौ केन मिषेत ।

तत्र ये खलु धर्मिणो धर्माः शान्ता उदिता अव्यपदेश्याश्चेति तत्र शान्ता ये कृत्वा व्यापारानुपरताः सम्प्रापारा उदितास्ते चानागतस्य सुखस्य समनन्तरा वर्तमानस्यान्तरा भवताः किमप्यमतीतस्यानन्तरा न भवन्ति वर्तमानाः पूर्वपश्चिमतायाश्चमावात् । यवानागतवर्तमानयोः पूर्वपश्चिमता नैवमतीतस्य । तस्मान्नातीतस्यास्ति समनन्तराः तदनागत एव समनन्तरो भवति वर्तमानस्येति ।

अथाव्यपदेश्याः कः ? सब सर्वात्मकमिति । यत्राक्तम्-वस्तुसूक्ष्मोः पारिणामिक रसादिर्वैस्वरूप्य स्यादरेषु चक्षुः ।

तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेष्वित्येवं जात्य-
नुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकमिति ।

देशकालाकारनिमित्तापवन्धान्न खलु समानकाल
मात्मनाप्रभिव्यक्तिरिति । य एतेष्वभिव्यक्तानभिव्यक्तेषु
धर्मेष्वनुपातो सामान्यविशेषात्मा सोऽन्वयी धर्मी । यस्य
तु धर्ममात्रमेवेदं निरन्वयं तस्य भोगाभावः । कस्मात् ?
अन्येन विज्ञानेन कृतस्य कर्मणोऽन्यत्कथं भोक्तृत्वेनाधि-
क्रियेत् । तत्स्मृत्यभावश्च नान्यदृष्टस्य स्मरणमन्यस्यास्तीति ।
वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितोऽवन्वयी धर्मी यो धर्ममन्यथा-
त्वमभ्युपगतः प्रत्यभिज्ञायते । तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्व-
यमिति ॥ १४ ॥

भा० का प०—धर्मी की योग्यता के अनुसार जो शक्ति है
उसी को धर्म कहते हैं और उस धर्म की सत्ता भिन्न २ फलों की
उत्पत्ति से अनुमान की जाती है एक धर्म का सद्भाव दूसरों में
दीखता है उनमें से वर्तमान धर्म अपने व्यापार का अनुभव करता
हुआ अन्य शान्त और अव्यपदेश्य धर्मों से भिन्न हो जाता है
और जब सामान्य भाव को प्राप्त होता है तब धर्मी स्वरूपमात्र
होने से कौन और किससे भिन्न हो ?

उनमें जो धर्मी के धर्म शान्त, उदित और अव्यपदेश्य हैं इन
तीनों धर्मों में से शान्त वे धर्म कहलाते हैं जो व्यापारों को करके
निवृत्त हो गये हों और जो व्यापार से युक्त हैं वे उदित कहलाते हैं
वे अनागतलक्षणपरिणाम के समीपवर्ती होते हैं और वर्तमान के
सहचर अतीत होते हैं । भूत के अनन्तर वर्तमान क्यों नहीं होते ?

पूर्वता और पश्चिमता के अभाव से जैसे अनागत और वर्तमान की पूर्वपश्चिमता है वैसे अतीत को नहीं (तस्मात्तावीतस्यास्ति समनन्तरः) इसलिये अतीत की अनन्तरता नहीं है इससे अनागत ही वर्तमान का समनन्तर कहलाता है ।

अन्यदेष्टव्य कितने और कौन हैं ? सब सबके अन्तर्गत होते हैं जिसमें यह कहा जाता है सप्त और मृमि के परिणाम से प्रत्यक्ष रूप रस आदि का विषम रूप स्वादों में देखा गया है ऐसे ही स्वादों का संगमों में और संगमों का स्वादों में । इस रीति से खाति के अनुच्छेदसे सबका परस्पर सम्बन्ध है । वेश काल और निमित्त के घन्यन से एक समय में प्रकाशित नहीं होते इन अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष धर्मों में जो अनुपपन्न करता है वह सामान्य और विशेष रूपसे धर्मी कहलाता है जिसका धर्म ही संबंधरहित है उसको भोग का अभाव है क्योंकि दूसरे के ज्ञान से किये धर्म का अन्य क्योंकर भोक्ता हो सकता है क्योंकि उसमें उसकी स्मृति का अभाव है अन्य के देखे हुए का दूसरे का स्मरण नहीं होसका पदार्थों की प्रत्यक्षिणा से धर्मी सिद्ध होता है जो धर्मों के परिणाम को प्राप्त होता भान होता है इस कारण से धर्ममात्र अन्यरहित नहीं है ॥ १४ ॥

भा० अ० भा०—वे धर्म और धर्मी भिन्न २ पक्ष की उत्पत्ति से जाने जाते हैं और सब धर्म अन्योन्यामय होत हैं जैसे वर्तमान धर्म अपने कर्णों को करता हुआ अन्यदेष्टव्य और शान्त धर्मों से परिचरित हो जाता है जब वर्तमान धर्म सामान्यरूप से रहता है तब उसमें धर्मी अर्थात् आत्मा अपने यथास्थित रूप रहता है । अब यहाँ पर प्रश्न होता है कि जो परिचरित होता है उसका सङ्घ क्या है ? और किससे वह परिचरित होता है । इसका उत्तर यह है कि शान्त धर्म वे कहलाते हैं जो अपने कर्णों को करके

निवृत्त हो गये हों और जिनका कार्य समाप्त न हुआ हो वे उदित कहलाते हैं एवं अव्यपदेश्य व्यापाररहित होते हैं अर्थात् इनके व्यापार में कभी परिवर्तन नहीं होता। उदित धर्म अनागत के समीपवर्ती होते हैं क्योंकि वे अवश्यम्भावी होते हैं और वर्तमान के समनन्तर अर्थात् अवश्यम्भावी भूतधर्म होते हैं किन्तु अतीत के समनन्तर वर्तमान नहीं होते क्योंकि उनमें अवश्यम्भावितता (अर्थात् जरूर ही यह होंगे) नहीं होती। प्रश्न—अव्यपदेश्य कौन से धर्म हैं ? उ०—जो धर्म सब चराचर में पाये जाते हैं वे अव्यपदेश्य हैं जैसे जल और पृथिवी के पारिणामिक रसादि गुण सब स्थावर और जंगम में होते हैं और इन धर्मों में जो वर्तमान है वही सर्वान्वयी धर्म आत्मा है अन्यथा अतीत धर्मों का स्मरण करना असम्भव होगा क्योंकि जिसने अपने ज्ञान से कर्म किया था वह जब कोई न होगा तब अन्य के कर्म का आश्रय एक धर्म अवश्य ही मानना योग्य है इसमें यह भी सिद्ध हुआ कि कोई धर्म सम्बन्ध रहित नहीं है ॥ १४ ॥

१४ सू०—इसका तात्पर्य यह है कि शान्त अर्थात् जिनका कार्य समाप्त हो गया ऐसे पीछे बीते हुए धर्म उदित अर्थात् जो इस समय वर्तमान हैं, अव्यपदेश्य अर्थात् जो शक्तिरूप से स्थित हैं इन तीनों प्रकार के धर्मों का जो धर्म है उसे शान्तोदितव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्म कहते हैं ॥ १४ ॥

भो० वृ०—शान्ता ये कृतस्वस्वव्यापारा अतीतेऽध्वनि अनुप्रविष्टाः उदिता येऽनागतमध्वानं परित्यज्यवर्तमानेऽध्वनि स्वव्यापारं कुर्वन्ति । अव्यपदेश्या ये शक्तिरूपेण स्थिता व्यपदेष्टु न शक्यन्ते तेषां यथास्व सर्वात्मकमित्येवमादयो नियतकार्य कारण रूपयोग्यतयावच्छिन्ना शक्तिरेवेह धर्मशब्देनाभिधीयते । तं त्रिविधमपि धर्मं योऽनुपतति अनुवर्ततेऽन्वयित्वे स्वीकरोति स

शान्तोदिताभ्यपदेश्य धर्मानुपाती धर्मास्तुच्यते । यथा सुवर्णं रुचक-
रूपधर्मपरित्यागन स्वस्तिकरूपधर्मांतरपरिग्रहे सुवर्णरूपतया परि-
वर्तमानं तपु धर्मेण कथञ्चिद्भिन्नपु धर्मिरूपतया सामान्यारमना
धर्मरूपतया विशेषात्मना स्थितमन्वयित्वेनावभासत ॥ १४ ॥

एकस्य धर्मिणः कथमनके धर्मा इत्याशङ्कामपनस्तुमाह—

भो० पू० का भा०—शान्त समको कहते हैं, जो अपने अपने
अभ्य को करके अतीत अर्थात् भूतमार्ग में प्रविष्ट हो चुक हैं न वे
वर्तमान काल में कुछ करते हैं और न भविष्य में उनको कुछ
कर्तव्य है । अतः समको कहते हैं भविष्य मार्ग में अभी प्रविष्ट
नहीं हुए और वर्तमान मार्ग में अपने व्यापार का कर रहे हैं ।
अभ्यपदेश्य ये हैं जो शक्तिरूप से स्थित हैं जो व्यापार करने के
योग्य नहीं हैं जैसे रक्ता हुआ घन होता है नियमित कार्यकारण
रूप से संयुक्त शक्ति ही धर्म कहलाती है । इन तीनों धर्मों को जो
प्रत्यक्ष करे शान्तोदिताभ्यपदेश्यधर्मानुपापाती धर्मा कहते हैं । जैसे
सुवर्ण जैसे के आकार को परित्याग करके सामान्य और विशेष
रूप से भी सोना ही प्रतीत होता है ॥ १४ ॥

एक ही धर्मा का व्यापार क्योंकि हो सकता है इस शङ्का का
उत्तर अगले सूत्र में दिया है ।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

पू० का पदा०—(क्रमान्यत्वम्) क्रम का परिवर्तन
(परिणामान्यत्वे हेतुः) परिणाम के परिवर्तन में
कारण है ॥ १५ ॥

सू का भा —एक परिणामों का हेतु क्रम का परिणाम है ॥ १५ ॥

व्या० क० साध्य—एकस्य धर्मिण एक एव परिणाम

इति प्रसक्तेः क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुर्भवतीति ।
तद्यथा—चूर्णमृत्पिण्डमृद्वटमृत्कपालमृत्कणमृदिति च क्रमः ।
यो यस्य धर्मस्य समनन्तरो धर्मः स तस्य क्रमः पिण्डः
प्रच्यवते घट उपजायत इति धर्मपरिणामक्रमः । लक्षण-
परिणामक्रमो घटस्यानागतभावादुत्तमानभावः क्रमः ।
तथा पिण्डस्य वर्तमानभावादतीतभावः क्रमः । नातीत-
स्यास्ति क्रमः । कस्मात् ? पूर्वपरतार्या सत्यां समनन्तरत्वं
तु नास्त्यतीतस्य । तस्मात् द्वयोरेव लक्षणयोः क्रमः ।
तथावस्थापरिणामक्रमोऽपि घटस्याभिनवस्य ग्रान्ते पुरा-
दृश्यते । सा च क्षणपरम्परानुपातिना क्रमेणाभिव्यज्य-
माना परां व्यक्तिमापद्यत इति धर्मलक्षणाभ्यां च विशि-
ष्टोऽयं तृतीयपरिणाम इति । त एते क्रमा धर्मधर्मिभेदे
सति प्रतिलब्धस्वरूपाः । धर्मोऽपि धर्मो भवत्यन्यधर्मस्व-
रूपापेक्षयेति । यदा तु परमार्थतो धर्मिण्यभेदोपचारद्वारेण
स एवाभिधीयते धर्मस्तदायमेकत्वनैव क्रमः प्रत्यवभासते ।
चित्तस्य ये धर्माः परिदृष्टाश्चापरिदृष्टाश्च । तत्र प्रत्ययात्मकाः
परिदृष्टा वस्तुमात्रात्मका अपरिदृष्टाः । ते च सप्तैव भवन्त्य-
नुमानेन प्रापितवस्तुमात्रसद्भावाः ।

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम् ।

चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः ॥”

अतो योगिन उपात्तसर्वसाधनस्य बुभुत्सितार्थप्रति-

पचये सयमस्य विषय उपविष्यते ॥ १५ ॥

भा० का प०—एक धर्मी का पठ ही परिणाम होता है वसी शोक होने पर करते हैं कि कर्मों का अद्वल वद्वल परिणामों के अद्वल वद्वल का कारण है कमान्यत्व का अर्थ करते हैं जैसे मही का पिण्ड। मही का पड़ा, मही का कपाज अर्थात् कहल मही का कण और मही यह कम कहलाता है जो धर्म जिसके पश्चात् व्यवधान रहित होता है वह उसका कम है।

पिण्ड मृदु होता है और घट उत्पन्न होता है यह धर्मपरिणाम का कम है। सङ्कल्पपरिणाम का कम यह है—घट के अन्तर्गत से वर्तमानभाष का कम तथा पिण्ड के वर्तमानभाष से अतीत भाष का कम अतीत भाष का कम नहीं है। क्योंकि पूर्वता और परता के होने से अन्तर्गत धर्म होता है। हा अतीत की पूर्वता और परता नहीं है। इसलिये दो ही सङ्कल्पों का कम है। ऐसे ही अवस्थापरिणाम कम भी नवीन घट के किसी प्राप्त में पुरायता देखकर अनुमान किया जाता है, वह पुरायता बहिष्क कम से प्रकट होती हुई व्यक्तिस्व को प्राप्त होती है। धर्मपरिणाम और सङ्कल्पपरिणाम से भिन्न यह तीसरा परिणाम है।

ये कम धर्म और धर्मी का भेद होनेपर अवगम्यसिद्ध होते हैं। अग्न्य धर्म की अपेक्षा से धर्म भी कहीं पर धर्मी हो जाता है। अब परमार्थ से धर्मी भेद का व्यवहार नहीं होता तभी वह धर्म कहलाता है तब यह एक ही कम मालूम पड़ता है।

चित्त के दो धर्म हैं १—परिदृष्ट और २—अपरिदृष्ट। उनमें का ज्ञानरूप होते हैं वे परिदृष्ट धर्म हैं और जो धर्म वस्तु मात्र ही हैं वे अपरिदृष्ट धर्म कहलाते हैं। वे अपरिदृष्ट धर्म सात प्रकार के होते हैं जो अनुमान से प्राप्त हुई वस्तु के सम्राट से ज्ञान आते हैं। निरोध धर्म संस्कार, परिणाम जीवन, वेष्टा, शक्ति, ये साठ

ज्ञानरहित चित्त के धर्म हैं ॥ १५ ॥

इस हेतु से जिस योगी को योग के साधन प्राप्त हो गये हैं उसकी साधन भोगने की इच्छा को सिद्ध करने के वास्ते संयम का विषय कहते हैं—

भा० का भा०—पूर्व सूत्र में यह शंका उत्पन्न होती है कि एक धर्मी का एक ही परिणाम होता है ? अथवा सब परिणाम एक ही काल में होते हैं ? इस सूत्र में उसका समाधान करते हैं कि क्रम का अदल बदल परिणामों के परिवर्तन का हेतु है । जैसे प्रथम मिट्टी का चूर्ण होता है, उससे पिण्ड बनता है, पिण्ड से घड़ा फूट कर फिर कपाल होता है, कपाल से कणके और कणकों से फिर मिट्टी होती है । जो जिसका नियतपूर्ववर्ती होता है वह पूर्ववर्ती उत्तरवर्ती का क्रम कहलाता है । जैसे मिट्टी के पिण्ड अर्थात् लुंदा बेगडता है तब घड़ा बनता है । यह धर्मपरिणामक्रम और लक्षण परिणामक्रम है । घड़े का अनागतभाव से वर्तमानभाव क्रम कहलाता है और वर्तमानभाव से अतीतभाव क्रम कहा जाता है । किन्तु अतीतभाव का कोई भी क्रम नहीं है, क्योंकि क्रम को पूर्ववर्तिता अपेक्षित है इससे अनागत और वर्तमान का ही क्रम हो सकता है । ऐसे ही अवस्थापरिणाम समझना योग्य है अर्थात् घड़े में जो नयापन और पुरानापन होता है वह क्षण मुहूर्त्तादि की परम्पराके क्रम से होता है यह जितने परिणाम हैं वे सब धर्म और धर्मी के भेद में ही हो सकते हैं, परन्तु अन्य धर्म का प्रतिधर्मी भी धर्म हो सकता है । वस्तुतः तो परिणाम एक ही है चित्त के दो धर्म हैं—एक परिदृष्ट और दूसरा अपरिदृष्ट । परिदृष्ट वह है जो केवल ज्ञानात्मक है और अपरिदृष्ट वस्तुमात्र ज्ञानशून्य है । वे अपरिदृष्ट सात प्रकार के हैं—निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा और शक्ति ये ज्ञानरहित चित्त के धर्म हैं ॥ १५ ॥

अब जिस योगी को योग के साधन प्राप्त हुए हैं उसको योग के सब साधन प्राप्ति की इच्छा से विषयों के त्याग का वर्णन करते हैं—

१५—सूत्र—इसका नाम क्रमभाव है, कुछ धर्म को बढ़ाने वाले हैं उसका कारण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् सूत्रकार ने इसमें दिया है कि कुछ परिणाम के अद्वय बढ़ाने का हेतु क्रम का परिणाम है अर्थात् जैसे मिट्टी का परिणाम मृत्पिण्ड मृत्पिण्डका परिणाम कपास तथा कपासद्वयका परिणाम पद्म होता है अर्थात् पद्म मिट्टी का साक्षात् परिणाम नहीं है किन्तु ऊपर लिखा क्रम परिणाम ही धरे रूप महापरिणाम का हेतु है । ऐसेही प्रथम सूत्रमें कह अतीतादि परिणाम का हेतु क्रमपरिणाम है, जगत् के बितने भाग हैं वे सब क्रम से बढ़ते रहते हैं । जिस के सुख, दुःखादि बितने धर्म हैं वे भी इसी क्रम से बढ़ते रहते हैं ॥ १५ ॥

यो०बृ०—यमाणासुच्छ्रयणानां यः क्रमस्तस्य यत् प्रतिदृष्ट-
मन्यत्वं परिदृश्यमानं तत् परिणामस्योच्छ्रयणस्यान्यत्वे नाना
विधत्वे हेतुसिद्धिः आपकं भवति । अथमर्थः । योऽयं नियतः क्रमो
सुच्छ्रयणोऽमृत्पिण्डस्तत् कपासामि तेभ्यश्च पद इत्येवं क्रमस्य
परिदृश्यमानः परिणामस्यान्यत्वावश्यति । तस्मिन्मैव धर्मिणि
या लक्षणपरिणामस्यापस्थापरिणामस्य च क्रमः सोऽपि अमनैव
म्यायन परिणामान्यत्वं गमकऽवगन्तव्यः । सर्वं पद भावा नियत-
नैव क्रमेण प्रतिदृष्टं परिणममाना परिदृश्यन्ते । अतः सिद्ध क्रमा
न्यत्वात् परिणामान्यत्वं । सर्वेषां चित्तादीनां परिणामसामानां
केचिदुर्माः प्रत्यक्षेणैवोपलभ्यन्ते यथा सुखादयः संस्वानादयश्च ।
केचिन्मैव क्रान्तानुमानगम्याः । यथाधर्मसंस्कारराक्षिपयुतयः । धर्मि
संस्काराभिन्नरूपतया सर्वत्रानुपगमाः ॥ १६ ॥

इहानीमुच्छ्रय संक्रमस्य विषयप्रदर्शनद्वारेण सिद्धीः प्रतिपाद्य

यितुमाह—

भो० वृ० का भा०—ऊपर जिनका वर्णन कर चुके हैं, उन धर्मों का जो क्रम है वह प्रतिक्षण बदलता दीखता है वही उस परिणाम के परिवर्त्तन का हेतु है जिसका पूर्वे वर्णन कर चुके हैं अर्थात् धर्मपरिणाम से परिणामों का भेद जान पड़ता है । अभि-
प्राय यह है कि जो यह नियतक्रम है कि मट्टी के चूर्ण से पिण्ड होता है, उससे कपाल (खपरा) बनाया जाता है, कपाल से फिर घड़ा बन जाता है यह जो क्रम दीखता है वही दूसरे परिणाम का दिखाने वाला है, अर्थात् क्रम से ही मिट्टी घड़े के रूप में परिणत हो गई यह दूसरा परिणाम हुआ । जैसे यह धर्मपरिणाम का क्रम कहा ऐसे ही लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम का क्रम भी दूसरे परिणाम का हेतु समझना । सम्पूर्ण पदार्थ वा भाव क्रम से प्रतिक्षण परिणत होते दीखते हैं इससे सिद्ध हुआ कि क्रम से भेद होता है और वही भेद पदार्थों में अन्य परिणामों को उत्पन्न करता है समस्त चित्तादिक पदार्थ जो परिणाम को प्राप्त होते रहते हैं कोई धर्म प्रत्यक्ष पाये जाते हैं जैसे सुख और स्थिति प्रत्यक्ष परिणामी जान पड़ते हैं । कोई धर्म अनुमान से जाने जाते हैं । धर्म (गुणविशेष) संस्कार और शक्ति आदि परन्तु धर्मों का सर्वत्र सम्बन्ध रहता है ॥ १५ ॥

आगे उक्त मंयम के विषय (जिनमे संयम किया जाता है) और उसके फल अर्थात् सिद्धियों का वर्णन किया जायगा—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

सू० का पदा०—(परिणामत्रयसंयमात्) उक्त ३ परिणामों के संयम से (अतीतानागतज्ञानम्) भूत और भविष्य का ज्ञान होता है ॥ १६ ॥

सू० का भा०—१ परिणामों के संयम से मृत और मविष्य का ज्ञान होता है ॥ १६ ॥

व्या० वे० कु० भा०—धर्मसुखयावस्थापरिणामेषु संयमाद्योगिना भवत्यतीतानागतज्ञानधारणाध्यानसमाधि त्रयमेकत्र संयम उक्तः । तेन परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमा-
यामतीतानागतज्ञान तेषु सम्पादयति ॥ १६ ॥

भा० का पदा०—धर्म परिणाम, सुखपरिणाम और अवस्था परिणामों में संयम से योगियों का मृत और मविष्यकाल का ज्ञान होता है । संयम का लक्षण प्रथम शिक्षा आये हैं कि ध्यान, धारणा और समाधि की एकता को संयम करते हैं साक्षात् किन्तु इसे उक्त तीन परिणाम योगी में मृत और मविष्य के ज्ञान को सम्पादन करते हैं ॥ १६ ॥

भा० का भाषा०—धर्मपरिणाम सुखपरिणाम और अवस्था-
परिणाम के संयम से योगी को मृत और मविष्यकाल का ज्ञान होता है, संयम का अर्थ पूर्व ही शिक्षा चुके हैं अर्थात् ध्यान, धारणा और समाधि के एकत्व होने को संयम करते हैं । इससे सिद्ध हुआ कि उक्त परिणामों के संयम से मृत और मविष्य काल का ज्ञान होता है ॥ १६ ॥

१६ सू०—अप्युक्तानां सूत्रां में सिद्धे परिणामों के वर्णन का पक्ष अब आगे सिद्धते हैं—धर्मपरिणाम, सुखपरिणाम और अवस्थापरिणाम इन तीनों परिणामों में संयम करने से योगी का मृत, मविष्य और वर्तमान काल का ज्ञान होता है अस्मिन्नायं यद् ए किं यागी त्रयपरिणाम के लक्षण को समझ कर जान आता है कि अब ऐसी अवस्था वेश की या अमुक मनुष्य की अवस्था मेरी मविष्य में होनेवाली है । यदि योगी उक्त संयम से जान आता है कि ऐसी

इशा होनेवाली है तो उसका प्रतीकार भी अर्थात् विघ्ननिवारण उचित उपायों से कर लेता है ॥

भो० वृ०—धर्मलक्षणावस्थाभेदेन यत्परिणामत्रयमुक्तं तत्र संय-
मात्तस्मिन् विषये पूर्वोक्तसंयमस्य कारणादतीतानागतज्ञानं योगिनः
समाधेराविर्भवति । इदमत्र तात्पर्यम् अस्मिन् धर्मिणि अयं धर्म
इदं लक्षणमियमवस्था चानागतादध्वनः समेत्य वर्तमानेऽध्वनि
स्व व्यापार विधायातीतमध्वानं प्रविशतीत्येवं परिहृतविक्षेपतया
यदा संयम करोति तदा यत्किञ्चिदनुत्पन्नमतिक्रान्तं वा तत्सर्वं योगी
जानाति । यतश्चित्तस्य शुद्धसत्त्वप्रकाशरूपत्वात्सर्वार्थग्रहणसामर्थ्य-
मविद्यादिभिविक्षेपैरपक्रियते । यदा तु तैस्तैरुपायैर्विक्षेपाः परिह्रियन्ते
तदा निवृत्तामलस्येवाऽऽदर्शस्य सर्वार्थग्रहणसामर्थ्यमेकाग्रताबलादा-
विर्भवति ॥ १६ ॥

भो० वृ० का भा०—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्था
परिणाम जो पूर्व कहे उनमें संयम करने से योगी को समाधि में
भूत और भविष्यकाल का ज्ञान होता है इस सूत्र का तात्पर्य यह
है इस धर्मी में वह धर्म रहता है इसका यह लक्षण है यह अवस्था
है यह अनागत भाव को त्याग कर वर्तमान मार्ग में अपने कार्य
को करने अपने पूर्वमार्ग अर्थात् उपादान कारण में जाने को उत्सुक
है इन्हीं मार्गों में विघ्न रहित होकर संयम करने से योगी का अनु-
त्पन्न हुए और व्यतीत हुए सबका ज्ञान हो जाता है क्योंकि शुद्ध-
चित्त हो जाने से सब विषयों को ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न हो
जाती है और और अविद्यादि मल दूर हो जाते हैं तब मलरहित
दर्पण के समान सब विषयों को ग्रहण करने की शक्ति चित्त में
उत्पन्न हो जाती है ॥ १६ ॥

दूसरी सिद्धि का वर्णन करते हैं—

शब्दार्थप्रत्ययानामितरतेराध्यासात्संकरस्तत्प्र-
विभागसंयमात् सर्वभूतस्तद्ज्ञानम् ॥ १७ ॥

सू० का पदा०—(शब्दार्थप्रत्ययानामितरतेराध्या-
सात्संकरः) शब्द, अर्थ और ज्ञान के एक दूसरे में पिसे
रहने से संकर अर्थात् घनिष्ठ भेद है (तत्प्रविभाग संय-
मात् सर्वभूतस्तद्ज्ञानम्) उसक विभाग में संयम करने से
सब प्राणियों की वाणी का ज्ञान होता है ॥ १७ ॥

सू० का भाषा०—शब्द अर्थ और ज्ञान में परस्पर घनिष्ठ
सम्बन्ध होने से शब्दसंकरता है और उनके विभाग में संयम करने
से प्राणीमात्र की भाषा का ज्ञान होता है ॥ १७ ॥

न्या० वे० कु० भा०—सत्र वाम्यर्धेष्वेवार्धवतो थोप्रश्न
अनिपरिणाममात्रविषयम् पदं पुनर्नादानुसहारबुद्धिनिर्मा
लमिति वक्ष्यामि एकसमयासम्भवित्वात् परस्परनिरनुग्रहात्मा-
नस्ते पदमसंस्पृश्यानुपस्याप्याविर्मुक्तास्तिरोभूताश्चेति
प्रत्येकपदस्वरूपाव्यन्ते वक्ष्यामि पुनरेकैकः पदास्मा सर्वाभि-
धानशक्तिप्रवृत्तः सहकारिवर्णान्तरप्रतियोगिस्वाद्यैश्वर्य-
मिवापन्नः पूर्वोचरेचोचरश्च पुनश्च विश्लेषेऽवस्थापित इत्येषं
बहवो वक्ष्यामि क्रमातुरोचिनोऽर्थं संकेतेनावच्छिन्ना इयं त-
एते सर्वाभिधानशक्तिपरिपूता यकारौकारविसर्जनोपाः
सास्नादिमन्तमर्थं चावयन्तीति तदेतपामयसंकेतेनावच्छि-
न्नानामुपसंहृत्यनिक्रमाद्या य एको बुद्धिनिर्मासस्तत्पदं

वाचकं वाच्यस्य संकेत्यते । तदेकं पदमेकबुद्धिविषय एकप्रय-
 त्नात्तिसमभागमक्रमवर्णं बौद्धमन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्था-
 पितं परत्र प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाभिधीयमानैः श्रूयमा-
 णैश्च श्रोतृभिरनादिवाग्व्यवहारवासनानुबिद्धया लोकबुद्ध्या
 सिद्धवत्सम्प्रतिपत्य प्रतीयते तस्य संकेतबुद्धितः प्रविभाग
 एतावतामेवं जातीयकोऽनुपसंहार एकस्यार्थस्य वाचक इति ।
 संकेतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मको योऽयं
 शब्दः सोऽयमर्थो योऽयमर्थः स सोऽयं शब्द इति । एव-
 मितरेतराध्यास्वरूपः संकेतो भवतीति एवमेते शब्दार्थप्रत्य-
 या इतरेतराध्यासात्सङ्कीर्णं गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो
 गौरितिज्ञानम् य एषां प्रविभागज्ञः स सर्ववित् । सर्वपदेषु
 चास्ति वाक्यशक्तिर्वृत्त इत्युक्तेऽस्तीति गम्यते । नसत्ता-
 पदार्थो व्यभिचरतीति तथा नह्यसाधना क्रियास्तीति तथाच
 पचतीत्युक्ते सर्वकारकाणामाक्षेपो नियमार्थोऽनुवादः कर्तृ-
 करणकर्मणां चैत्राग्नितण्डुलानामिति इष्टञ्च वाक्यार्थे पद-
 रचनं श्रोत्रियश्छन्दोधीते, जीवति प्राणान् धारयति । तत्र
 वाक्येपदपदार्थाभिव्यक्तिस्ततः पदं प्रविभज्य व्याकरणीयं
 क्रियावाचकं कारकवाचकं वा अन्यथा भवत्यश्वोऽजापय
 इत्येवमादिषु नामाख्यातससारूप्यादनिर्ज्ञातं कथं क्रियायां
 कारके वा व्याक्रियेतेति तेषां शब्दार्थप्रत्ययानां प्रविभागः ।
 तद्यथा—श्वेतते प्रासाद इति क्रियार्थः श्वेतः प्रासाद इति

कारकार्यः शुब्दः क्रियाकारकात्मा तपर्यः
 सोऽयमित्यभिसम्बन्धादेकाकार एव प्रत्य
 यस्तु श्वेतोऽर्थः सशब्दप्रत्यययोरासम्बन्धीभू
 मिरवस्थामिविक्रियमाणो न शब्दसद्वगतो न
 एवं शब्द एवं प्रत्ययो नेतरेतरसद्वगत इत्य
 न्यथाऽर्थोऽन्यथाप्रत्य इति विमायः । एव न
 यमात्तु योगिनः सर्वभूतस्त्वज्ञानं सम्पद्यत इति

भा० का पदा०—शब्द, अर्थ और प्रत्यय के [
 अक्षरों में ही अर्थ युक्त होती है। कान तो केवल
 श्रवण को ही महत्ता करने वाले होते हैं नाद व
 विनाश होने से जो बुद्धि से प्रत्यक्ष किया जाता है
 है। अक्षरों का एक समय में सम्भारण होना व
 आपस में एक दूसरे के सहायक नहीं हैं और श्रवण
 को त्याग कर स्थिर नहीं रहते अर्थात् बड़े कभी
 और कभी लुप्त हो जाते हैं। कृत्ती कारण से एक २
 सत्ता नहीं हैं। फिर एक २ बड़े ही पद स्वरूप हैं।
 व प्रकाश करने की शक्ति से युक्त हैं क्योंकि अपन
 अक्षर व समाप्त धर्म युक्त हैं। पूर्ण पूर्ण अगले स
 अक्षर पिछले से विशेष अर्थ में स्थापित करता है व
 अक्षर के अर्थ का आभास अगले पर पड़ता है और
 व आभास पिछले अक्षर के अर्थ का प्रकाशित कर
 प्रकार से अनेक अक्षर क्रम के अनुसार अर्थ के सं
 दिते हैं। गौः इस पद में ग् औ और और विसर्गः
 य अर्थ अर्थात् अक्षर बड़े समुदाय के अर्थ को बोध

शक्ति से पूर्ण हैं । गौ के गले में जो मास लटकता है उसे सास्ना कहते हैं । ग्, औ और विसर्ग सास्ना युक्त अर्थ को प्रकाश करते हैं । अर्थ से युक्त अक्षरों का उपसंहार की ध्वनि के क्रम से जो बुद्धि का निर्भास अर्थात् प्रकाश है वही पद वाचक है और वाच्य का संकेत करता है । अब यह शङ्का होती है कि एक पद एक ही बुद्धि का विषय है, उससे सबको ज्ञान क्यों कर हो ? वह संकेत भी एक ही के प्रयत्न से हुआ है दूसरे को बोध कराने की इच्छा से, कहे हुये अक्षरों से, सुने हुये अक्षरों से सुनने वालों के द्वारा वचन के व्यवहार की वासना से युक्त सासारिक बुद्धि के द्वारा सिद्ध के समान प्रतीत होता है । उसका संकेत बुद्धि से विभाग होता है । इतने शब्दों का अनुसंहार एक अर्थ का बोधक है । यह सङ्केत पद और अर्थ के परस्पर अभ्यास से होता है । स्मृति रूप है अर्थात् शब्द का अर्थ जो प्रथम स्मृतिवृत्ति में आरूढ़ हो चुका है वही फिर वाणी के द्वारा प्रत्यक्ष होता है । यह जो शब्द है वही अर्थ है, जो अर्थ है, वही शब्द है । इस रीति से शब्द और अर्थ दोनों परस्पर अध्यस्त-अर्थात् एक दूसरे से मिले हैं यही सङ्केत कहाता है । यह शब्द, अर्थ और ज्ञान एक दूसरे में भान होने से सङ्कीर्ण हैं । गौः यह शब्द गौ यह अर्थ, गौ यह ज्ञान (य एषा प्रविभागज्ञः) जो इनके विभाग को जाननेवाला है वह सबका जानने वाला है । सब पदों में वाक्य शक्ति विद्यमान है, “वृत्तः” ऐसा कहने पर उमकी सत्ता का बोध होता है । कोई पदार्थ सत्ता अर्थात् भाव को त्याग नहीं करता है । ऐसे ही साधनहीन कोई क्रिया नहीं होती है जैसे “पकाता है ।” ऐसा कहने पर सम्पूर्ण कारकों का अर्थात् कर्त्ता, करण और कर्म (चैत्र, अग्नि और तण्डुल) इन सब का अध्याहार हो जाता है । वाक्यार्थ में पदों की रचना देखी जाती है “श्रोत्रियश्चन्द्रोऽधीयते” “जीवति प्राणान्धारयति” इन दोनों

कारकार्यः शब्दः क्रियाकारकात्मा सपर्यः प्रत्ययश्च कस्मात्
 सोऽयमित्यभिसम्बन्धात्कारकार एव प्रत्ययः संकेत इति
 यस्तु रवेतोऽर्थः सशब्दप्रत्यययोरासम्बन्धीभूतः स हि स्वा
 मिरवस्याभिर्बिक्रियमाधो न शब्दसहगतो न बुद्धिसहगतः ।
 एवं शब्द एव प्रत्ययो नेतरेतरसहगत इत्यन्यथा शब्दोऽ-
 न्यथाऽर्थोऽन्यथाप्रत्य इति विभागः । एव तत् प्रविभागस-
 यमाप्तुं योगिनः सर्वसूतस्तज्ञानं सम्पद्यत इति ॥ १७ ॥

भा० का पदा०—शब्द, अर्थ और प्रत्यय के विचार में बाकी
 अक्षरों में ही अर्थ युक्त होती है । कान तो केवल ध्वनि के परि-
 ग्राम को ही ग्रहण करने वाला होते हैं नाव अर्थात् ध्वनि के
 विनाश होने से जो बुद्धि से ग्रहण किया जाता है उसे पद कहते
 हैं । अक्षरों का एक समय में उच्चारण होना असम्भव है, वे
 आपस में एक दूसरे के सहायक नहीं हैं और पर्यापद के सम्बन्ध
 को त्याग कर स्थिर नहीं रहते अर्थात् बर्य कभी प्रकट होते हैं
 और कभी क्षुप्त हो जाते हैं । उसी कारण से एक २ बर्य की पद
 सदा नहीं हैं । फिर एक २ बर्य ही पद स्वरूप हैं । सम्पूर्ण अर्थ
 के प्रकाश करने की शक्ति से युक्त हैं क्योंकि अपने समीप दूसरे
 अक्षर के समान धर्म युक्त हैं । पूर्व पद अगले से और अगला
 अक्षर पिछले से विशेष अर्थ में स्थापित करता है अर्थात् पिछले
 अक्षर के अर्थ का आभास अगले पर पड़ता है और अगले अक्षर
 का आभास पिछले अक्षर के अर्थ का प्रकाशित करता है । इस
 प्रकार से अनेक अक्षर एक के अनुसार अर्थ के संकेत से युक्त
 होते हैं । गौः इस पद में ग् ओ और और विसर्ग संवर्तिक अर्थ
 से भरे अर्थात् उत्तर पद समुदाय के अर्थ का बाध करने वाली

शक्ति से पूर्ण हैं । गौ के गले में जो मास लटकता है उसे सास्ना कहते हैं । ग्, औ और विसर्ग सास्ना युक्त अर्थ को प्रकाश करते हैं । अर्थ से युक्त अक्षरों का उपसंहार की ध्वनि के क्रम से जो बुद्धि का निर्भास अर्थात् प्रकाश है वही पद वाचक है और वाच्य का संकेत करता है । अब यह शङ्का होती है कि एक पद एक ही बुद्धि का विषय है, उससे सबको ज्ञान क्यों कर हो ? वह संकेत भी एक ही के प्रयत्न से हुआ है दूसरे को बोध कराने की इच्छा से, कहे हुये अक्षरों से, सुने हुये अक्षरों से सुनने वालों के द्वारा वचन के व्यवहार की वासना से युक्त सासारिक बुद्धि के द्वारा सिद्ध के समान प्रतीत होता है । उसका संकेत बुद्धि से विभाग होता है । इतने शब्दों का अनुसंहार एक अर्थ का बोधक है । यह संकेत पद और अर्थ के परस्पर अभ्यास से होता है । स्मृति रूप है अर्थात् शब्द का अर्थ जो प्रथम स्मृतिवृत्ति में आरूढ़ हो चुका है वही फिर वाणी के द्वारा प्रत्यक्ष होता है । यह जो शब्द है वही अर्थ है, जो अर्थ है, वही शब्द है । इस रीति से शब्द और अर्थ दोनों परस्पर अध्यस्त-अर्थात् एक दूसरे से मिले हैं यही संकेत कहाता है । यह शब्द, अर्थ और ज्ञान एक दूसरे में भान होने से सङ्कीर्ण हैं । गौः यह शब्द गौ यह अर्थ, गौ यह ज्ञान (य एषा प्रविभागज्ञः) जो इनके विभाग को जाननेवाला है वह सबका जानने वाला है । सब पदों में वाक्य शक्ति विद्यमान है, “वृक्षः” ऐसा कहने पर उसकी सत्ता का बोध होता है । कोई पदार्थ सत्ता अर्थात् भाव को त्याग नहीं करता है । ऐसे ही साधनहीन कोई क्रिया नहीं होती है जैसे “पकाता है ।” ऐसा कहने पर सम्पूर्ण कारकों का अर्थात् कर्त्ता, करण और कर्म (चैत्र, अग्नि और तण्डुल) इन सब का अध्याहार हो जाता है । वाक्यार्थ में पदों की रचना देखी जाती है “श्रोत्रियश्चन्द्रोऽधीयते” “जीवति प्राणान्धारयति” इन दोनों

वाक्यों में वैसे पहिले वाक्य में “अन्वोऽपीते” पद से बोध होता है वैसे ही केवल भौत्रिय पद से भी ज्ञान होता है । दूसरे वाक्य में “प्राणाम् चारयति” इस वाक्य के स्थान में ‘अधीति’ पद का प्रयोग होता है, अतएव वाक्य में पद और पद के अर्थों का प्रकाश है अर्थात् वाक्य में कृता, कर्म और क्रिया भावि सुवे र दीखते हैं उससे पद का विभाग करके प्रकट करना चाहिये कि यह पद क्रिया वाचक है वा कारकवाचक है । यदि ऐसा न होगा तो (मधति) शब्द के प्रयोग में यह ज्ञान न होगा कि यह क्रिया है वा की प्रत्ययान्त ‘मधती’ शब्द का सम्बोधन में ह्रस्वाग्त रूप है । इसी प्रकार ‘अयः’ बोधावाचक पुस्तिङ्ग प्रथमा विभक्ति के एक वचन का रूप है वा ‘एवस्’ अव्ययक नम् सभासान्त रूप है । ऐसे ही “अजापयः” पद का अर्थ कारक मान के बकरी का रूप होता है और क्रिया मान के तू पहुँचा दे, वा खीत अर्थ होता है इत्यादि पदों में सुबन्त और तिङन्त का एक ही रूप होने से ठीक ज्ञान नहीं होता है । क्रिया में वा कारक में कैसे इनका निरूपण होगा उन शब्दाय प्रत्ययों का विभाग होना चाहिये जैसे अटारी सफेद हो रही है यह क्रियार्थक है रंग से सफेद अटारी है यह कारकार्थ पद है । शब्द क्रिया और कारक रूप है और प्रत्यय उसका अर्थ है । क्योंकि यह बही है इस सम्बन्ध से प्रत्यय सदा-कार ही प्रसीत होता है । जिसका एवतार्थ है वह शब्द और प्रत्यय के अधीन है क्योंकि यह अपस्थाओं के द्वारा विचार का प्राप्त हुआ न शब्द के साथ है, न बुद्धि के । शब्द भिन्न है, अर्थ भिन्न है प्रत्यय भिन्न है । यह विभाग है इस विभाग में संयम करने से बागी को सब प्राणियों की गति का ज्ञान होता है ॥ १७ ॥

भा० का भाषा०—बायी अक्षरों में ही अर्थयुक्त रहती है क्योंकि बिना अक्षर की याचना के किसी शब्द का अर्थ नहीं होता

है, कान केवल ध्वनि गुञ्जार को ग्रहण करते हैं और बुद्धि वर्णों के क्रम को ग्रहण करती है क्योंकि शब्द के अक्षर एक समय में उत्पन्न नहीं हो सकते हैं वरन् जब पहिला अक्षर अपने बोध को उत्पन्न करके नष्ट होजाता तब दूसरा अक्षर उत्पन्न होता है इसही प्रकार से प्रत्येक अक्षर का आविर्भाव होता है परन्तु अपने सहकारी अक्षर के धर्म से सम्बन्ध रखते हैं । जैसे गौः शब्द में गकार, औकार और विसर्ग क्रम से उच्चारित होकर सास्नावाली व्यक्ति का बोध कराते हैं, इसमें वर्णों का उपसंहार, ध्वनि, क्रम और सङ्केत ही कारण है । जो शब्द दूसरे को ज्ञान उत्पन्न कराने की इच्छा से बोला जाता है उसके बोध में सङ्केत अनादिकाल से चला आता है । तात्पर्य यह है कि गौ शब्द, गौ अर्थ और गौ ज्ञान एक ही जान पड़ते हैं । हर एक शब्द में बोधक शक्ति होती है, साधनहीन कोई क्रिया नहीं होती है, जैसे पकाता है कहने से चैत्र कर्ता, अग्नि करण और चावल कर्म का अध्याहार होता है । कहीं वाक्य के स्थान में एक पद का प्रयोग भी देखा जाता है, जैसे वेद पढ़ता है इस वाक्यार्थ में श्रोत्रिय पद का, प्राणों को धारण करता है, इस वाक्य के स्थान में जीवति पद का प्रयोग होता है । कहीं पर नाम और क्रिया में भी एकता जान पड़ती है । जैसे 'भवति' क्रिया भी है और 'भवती' शब्द का सम्बोधन में 'भवति' रूप होता है इत्यादि शब्दों के सङ्केत में जो संयम करता है वह सब प्राणियों के शब्दों को समझता है ॥ १७ ॥

१७ सू०—शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है और उसके वर्ण तथा अर्थों का क्रम भी नियत है, यदि स्फोटवाद की रीति से वर्णादि क्रमको न माना जाय तो यह अवश्य ही मानना पड़ेगा कि अमुक शब्द को अमुक अर्थ के बोध करने में शक्ति है । यद्यपि स्फोटवाद में अर्थ, जाति, गुण आदि शब्दार्थ ज्ञान में एक शब्द

का दूसरे राज्य में अभ्यास रहता है इससे राज्य ज्ञान में संकर दोष जाता है । जैसे किसी न कहें कि गौ को साम्राज्य, इस वाक्य को सुन के सुर और सींग युक्त पशु विशेष का ले भाषा है । परन्तु गौ का ज्ञान पहले से यदि पूछा जाय कि गौ राज्य के काम से क्या वा साधन कर्म द्वारा तुम्हारे हृदय में प्रवेश करके तुम्हारे गौ विषयक ज्ञान को चेतन्य किया तो वह कुछ भी उत्तर नहीं दे सकता है इससे ही जाना जाता है कि राज्य के भागों का क्या उनके अर्थों का ज्ञान संसारी लोगों को नहीं है । अतएव यागी जब राज्य के भागों में सयम करता है तब उसे ज्ञान पड़ता है कि अमुक प्राणी ने अमुक राज्य का ध्वारण किया और उन राज्यों के अर्थों को भी यागी समझने लगता है ।

भौ० बृ०—राज्यः मोक्षमिन्द्रियमाद्या नियतकर्मवर्णास्मा नियत कार्यप्रतिपत्त्यवच्छिन्नः । यदि वा कर्मरहित स्फोटोदात्ता राज्ञः संस्कृतबुद्धिमाद्याः । समयथापि पररूपा वाक्यरूपस्य तयारेक्यर्थ प्रतिपत्तौ सामर्थ्यात् । अर्थो आतिगुणक्षिपादिः । प्रत्ययो ज्ञान विषयकारण बुद्धिपुक्तिः । एषा राज्ञार्यत्रनाना व्यवहारे इतरेतराभ्या सात मिमानामपि पुष्ट्येकरूपतासम्पादनात्संकीर्णैस्त्वम् । तथा हि—गामानयेत्युक्ते कश्चित् गोखण्डमर्थं गोरवज्रास्यवच्छिन्न सा- स्नादि मृत्पिण्डरूपं राज्यञ्च तदापक्व ज्ञानञ्च तद्व्यापककर्मभेदेनै वाक्यवस्यति । न स्वस्य गाशब्दा वाचकोऽयं गाशब्दस्य वाक्य स्तपोरिव ग्राहकं ज्ञानमिति भेदेन व्यवहरति । तथाहि—कोऽयमर्थ कोऽयं राज्यः किमिदं ज्ञानमिति पूष्टा सर्वत्रैकरूपमेवोचरं वदति गौरिति । स यथैकरूपतां न प्रतिपद्यत । कथमेकरूपमुचरं प्रयच्छति ? पञ्चस्मिन् स्थितं योऽयं प्रविभाग इव राज्यस्य तत्त्वं यदा चकत्त्वं नाम । इदमर्थस्य पञ्चाव्यवस्थामिव ज्ञानस्य यत् प्रकाराकस्व- मिति प्रविभागा विधाय तस्मिन् प्रविभागे या संयमं करोति तस्य

सर्वेषां भूतानां मृगपक्षिसरीसृपादीनां यद्द्रुतं यः शब्दस्तत्र ज्ञान-
मुत्पद्यतेऽनेनैवाभिप्रायेणैतेन प्राणिनाऽयं शब्दः समुच्चारित इति
सर्वं जानाति ॥ १७ ॥

भो० वृ० का भा०—शब्द कर्ण इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य
है और उसका क्रम तथा वर्ण नियत है और अर्थ ज्ञान भी उसका
नियत है, यदि क्रम रहित स्फोटरूप शब्द को माना जाय और
संस्कृत बुद्धि द्वारा उसका ग्रहण माना जाय तो भी (अर्थात् दोनों
प्रकार से) पदरूप और वाक्यरूप दोनों को ही अर्थ बोधक
शक्ति युक्त मानना होगा । अर्थ, जाति, गुण और क्रिया इनके
ज्ञान में जो विषयरूपबुद्धि है वह एक ही है । इस कारण अर्था-
दिकों के भिन्न होने पर भी वह अर्थादिक सब एक रूप प्रतीत होते
हैं । जैसे किसी ने कहा कि गौ को लाओ इस कहने से सुनने
वाला गोत्वजातिविशिष्ट सास्ना वाली व्यक्ति जो गो शब्द का
वाच्य है, उसका वाचक ज्ञान और उसकी ग्राहक वृत्ति इन सब
को भिन्न २ ग्रहण नहीं करता है, अर्थात् सुनने वाला यह नहीं
समझता है कि गौ शब्द वाचक है, यह व्यक्ति उसका वाच्य है
और यह उसका ग्राहक ज्ञान है । यदि उससे पूछा जाय गो शब्द
जो तुमने सुना उसका वाचक क्या है, वाच्य क्या है और ज्ञान
क्या है तो वह गौ के अतिरिक्त और कुछ भी उत्तर नहीं दे
सकता है । यदि शब्दादि तीनों एक रूप न होते तो एक ही उत्तर
क्योंकर होता ? इस ही अभेद भाव में अर्थादि को भिन्न २ समझ
कर अर्थात् शब्द में जो वाचक शक्ति है, अर्थ में जो वाच्य शक्ति
है और ज्ञान में जो प्रकाशक शक्ति है इनमें भेद जान के जो भेद
में संयम करता है उसको मृग, पक्षी और सरीसृप आदि प्राणियों
की ध्वनि का ज्ञान होता है अर्थात् वह जान जाता है कि इस
प्राणी ने इस अभिप्राय से यह ध्वनि की ॥ १७ ॥

भागो दूसरी सिद्धि का वर्णन करेंगे—

संस्कारसाक्षात्करणत्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

सू० का प०—(संस्कारसाक्षात्करणात्) संस्कारों के प्रत्यक्ष होने से (पूर्वजातिज्ञानम्) पूर्वजन्म का ज्ञान होता है ॥ १८ ॥

सू० का भा०—संस्कारों के प्रत्यक्ष होने से पूर्व जन्मों का ज्ञान होता है ॥ १८ ॥

व्या० भा०—इमे सर्ववर्मा संस्काराः स्मृतिक्लेषहेतवो वासनारूपा विपाकइसुवो धर्माधर्मरूपाः । ते पूर्वभवामिसंस्कृताः परित्यागचेष्टानिरोधशक्तिधीवनधर्मवत्परिष्टाधिवधर्माः । तेषु संयमः संस्कारसाक्षात्क्रियायै समर्थः । नच देशकालनिमित्तानुभवैर्हिना तेषामस्ति साक्षात्करणम् । तदित्यं संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः । परप्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात् परजातिसंवेदनम् ।

अत्रेदमाख्यातं ध्रुवते—मगवतो वैगीपव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणादशु महासर्गेषु सन्तुपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकज्ञानं प्रादुरभूत् । अथ मगवानावत्परतनुधरस्तुवाच दशसु महासर्गेषु भव्यस्वादनमिभूतपुद्गिसत्त्वेन स्वयानरकतिर्यग्गर्भसम्मम दुःख सपश्यता देवमनुष्येषु पुन पुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपसृज्यमिति । मगवन्तभावत्य वैगीपव्य उवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यस्वा-

दनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं संपश्यता
देवमनुष्येषु पुनःपुनरुत्पद्यमानेन यत्किंचिदनुभूतं तत् सर्वं
दुःखमेव प्रत्यवैमि । भगवानावध्य उवाच—यदिदमायुष्मतः
प्रधानवशित्वमनुत्तमं च सन्तोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे
निःक्षिप्तमिति । भगवान्जैगीषव्य उवाच—विषयसुखापेक्षयै-
वेदमनुत्तमं सन्तोषसुखमुक्तम्कैवल्यसुखापेक्षया दुःखमेव ।
बुद्धिसत्त्वस्यायं धर्मस्त्रिगुणः त्रिगुणश्च प्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त
इति दुःखरूपस्तृष्णातन्तुः । तृष्णा दुःखसन्तापापगमात्तु
प्रसन्नमबाधं सर्वानुकूलं सुखमिदमुक्तमिति ।

भा० का प०—संस्कार दो प्रकार के होते हैं स्मृति और पंच
क्लेशों के कारण एक वासनारूप संस्कार होते हैं और दूसरे
संस्कार वे हैं जिनका कारण विपाक अर्थात् फल है और वे धर्मा-
धर्म रूप होते हैं । ये संस्कार पूर्व जन्म के कर्मों के होते हैं । परि-
णाम, चेष्टा, शक्ति, जीवन, गुणों के समान चित्त के अप्रत्यक्ष धर्म
हैं । उनमें संयम करने से योगी संस्कारों के प्रत्यक्ष करने में समर्थ
होता है । देश, काल, निमित्त और अनुभव के बिना उनका
साक्षात् नहीं होता । इस रीति से संस्कारों के प्रत्यक्ष होने से योगी
को पूर्व जन्म का ज्ञान होता है ऐसे ही पर जन्म का भी संस्कारों
के प्रत्यक्ष अर्थात् स्मरण होने से परजन्म अर्थात् भविष्य जन्म
का ज्ञान होता है ।

इस विषय में यह इतिहास सुनते हैं भगवान् जैगीषव्य ऋषि
को संस्कारों के प्रत्यक्ष करने से दश सृष्टियों में जन्म के परिणाम
और क्रम भली भाँति प्रत्यक्ष करने से विवेक ज्ञान उत्पन्न हुआ

जिसे कहीं हुआ था उसे हानिकारक मानकर ही जाने दो।
 दोहरी में समझाकर दिया। यदि आपको जो दुःख या अस्व
 का हुआ उसका दुःखले बर्णन होखे तो यह दुःख ही मानकर
 योगेश्वर यदि ने कहा कि मैंने उसे ही मानकर ही दिताने का
 धारा किये उन सब में दुःख दुःख मिले हुए ही होना भी पाता
 हुआ। फिर आपका यदि ने पूरा किया कि संतोषाने जो दुःख
 दुःख कहे जाते हैं उनको आपने दुःख किस रीति से माना है। योगी
 षण्य ऋषिने इसका उत्तर दिया कि संतोषाने जो दुःख मानते हैं
 वे केवल सांसारिक दुःख की अपेक्षा ही दुःख हैं। विष्णु भैरव
 सुख की अपेक्षा वे भी दुःख ही हैं। जो वे धर्म विष्णुआत्मन ही
 और सांसारिक विषयों में त्रिगुणात्मक ज्ञान भी होता है वह
 दुःख रूप है। जब कि दुःख रूप तुल्य योगी के भिन्न से दूर हो
 जाती है तब उसका चित्त प्रसन्न हो जाता है तब योगी को पारि-
 चित्त का ज्ञान भी हो जाता है ॥ १८ ॥

भो० वृ०—द्विविधास्मिन्नास्य धासनाख्याः संस्काराः । कोचित्
स्मृतिमात्रोत्पादनफलाः केचित् जात्याशुर्गोमलाज्याविषाकहेतवः,
यथाधर्मा धर्मख्याः तेषु संस्कारेषु यदा संयमं करोति, पूर्णं भया
सोऽर्थोऽनुभूत एवं भया सा किंवा निष्पादितेति पूर्ववत्समस्तुमान्धभागो
भावयन्नेव प्रबोधकमान्तरेण अशुद्धसंस्कारः सर्वमतीतं भवति ।
क्रमेण साक्षात् कृतेषु अशुद्धेषु संस्कारेषु पूर्वजन्माऽनुभूतानां वि
१. २। प्रत्यक्षेण पश्यति ॥ १८ ॥

सिद्धयन्तरमाह—

भो० घृ० का भा०—विष्
क होते हैं, कोई स्मृतिमात्र
और
मे योगी

4414
4414
11

या । इसके अनन्तर भगवान् आद्यत्रय अपिने जैगीपम्य से प्रश्न किया कि आप इन दश सृष्टियों में योग बल से पुष्टि और बल की स्थिर दशा में नरक, स्वर्ग और विष्यक्त आदि योनियों में देवता और मनुष्यादि शरीरों में भ्रमण करते रहे उन सब में आपन कौन से विशेष सुख और दुःख रहे उनका वर्णन कीजिये । उन आद्यत्रय अपि से जैगीपम्य बोले कि दश सृष्टियों में धारदार अन्ध सेकर योग बलसे अन्याहत ज्ञान और पुष्टि के द्वारा नरक स्वर्ग, देव और मनुष्यादि शरीरों में कुछ भोगा उस सबका मैं दुःख ही समझता हूँ । फिर आद्यत्रय अपि पास ओ मनुष्य शत्रियों का निराध करना और सन्तोष स्वी महोत्तम सुख है उसका भी आपन दुःख की भेड़ी में ही प्रविष्ट किया ? भगवान् जैगीपम्य अपि पास सन्ताप को विषय सुख की अपेक्षा अनुत्तम सुख कहा जाता है, किन्तु कैवल्य सुख की अपेक्षा तो वह दुःख ही है । पुष्टि का धर्म धीम गुणयुक्त होता है और ज्ञान भी त्रिगुणात्मक होता है जो कि इय अर्थात् सांसारिक विषय के पक्ष में नियुक्त है दृष्ट्या दुःख रूप है योगी को दृष्ट्या रूप दुःख प्रसम्भता युक्त ज्ञान से जोड़ देता है और सब के असुखन ओ सुख है वह प्राप्त होता है ।

भा० का भा०—पूर्व कर्म के दो प्रकार के संस्कार होते हैं—एक वासना रूप, दूसरे विपाक रूप । वासना रूप व संस्कार कहलाते हैं जो पूर्व कर्मों के फल धर्म व अधर्म हैं । यागी का समाधि द्वारा जब वह संस्कार प्रत्यक्ष होते हैं तब उसे पूर्व अन्ध का ज्ञान होता है । जब यागी का पर संस्कारों का परिधान होता है तब उसे पर अन्ध का भी परिधान होता है । इसमें एक दृष्टान्त है कि जैगीपम्य अपि की यागाभ्यास करते हुए दश कस्त्रों के अन्धों का स्मरण हुआ या उनसे एक समय आद्यत्रय अपि ने यह प्रश्न किया या कि योग के प्रताप से आपकी पुष्टि और ज्ञान

चिनष्ट नहीं हुआ था ऐसी ज्ञानमयी अवस्था में आपने अनेक योनियों में गमनागमन किया, उनमें आपको जो सुख वा दुःख प्राप्त हुआ उसका मुझसे वर्णन कीजिये ? इस प्रश्न के उत्तर में जैगीषव्य ऋषि ने कहा कि मैंने इन दश कल्पों में जितने जन्म धारण किये उन सब में मुझे दुःख मिले सुख का लेश भी प्राप्त न हुआ, फिर आवष्ट्य ऋषि ने प्रश्न किया कि सन्तोषादि जो पूर्ण सुख कहे जाते हैं उनको आपने दुःख किस रीति से कहा ? जैगीषव्य ऋषिने इसका उत्तर दिया कि सन्तोषादि जो सुख कहलाते हैं वे केवल सांसारिक दुःख की अपेक्षा ही सुख हैं, किन्तु कैवल्य सुख की अपेक्षा वे भी दुःख ही हैं । जीव के धर्म त्रिगुणात्मक हैं और सांसारिक विषयों में त्रिगुणात्मक ज्ञान भी होता है तृष्णा दुःख रूप है । जब कि दुःख रूप तृष्णा योगी के चित्त से दूर हो जाती है तब उसका चित्त प्रसन्न हो जाता है तब योगी को परिचित का ज्ञान भी हो जाता है ॥ १८ ॥

भो० वृ०—द्विविधाश्चित्तस्य वासनारूपाः संस्काराः । केचित् स्मृतिमात्रोत्पादनफलाः केचित् जात्यायुर्भोगलक्षणविपाकहेतवः, यथाधर्मा धर्माख्याः तेषु संस्कारेषु यदा संयमं करोति, एवं मया सोऽर्थोऽनुभूत एवं मया सा क्रिया निष्पादितेति पूर्ववृत्तामनुसन्दधानो भावयन्नेव प्रबोधकमन्तरेण उद्बुद्धसंस्कारः सर्वमतीतं स्मरति । क्रमेण साक्षात् कृतेषु उद्बुद्धेषु संस्कारेषु पूर्वजन्मानुभूतानपि जात्यादीन् प्रत्यक्षेण पश्यति ॥ १८ ॥

सिद्धयन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—चित्त के वासना रूप संस्कार दो प्रकार के होते हैं, कोई स्मृतिमात्र से फल देते हैं और कोई जन्म, आयु और भोगरूप फल के हेतु हैं जैसे वर्म और अधर्म, इन संस्कारों में योगी जब संयम करता है अर्थात् मैंने इस प्रकार से यह अनुभव

किया या वह कार्य किया या उसे पूर्ण कर्यों को समाधि में बिचारने से उसके ज्ञान का जय होता है तब उस मृत क्रियाओं का स्मरण होता है और क्रम से वह स्मरण ब्रह्मना बढ़ता है कि वह पूर्वसम्भ के आस्थादि सब विषयों को जान जाता है ।

अब और स्थिति कहते हैं ॥ १८ ॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

पदार्थ—(प्रत्ययस्य) प्रत्यय में संयम करने से (परचित्तज्ञानम्) दूसरों के मन की बात जानी जाती है ॥ १९ ॥

सू० का प०—ज्ञान का संयम करने से दूसरों के मन की बात जानी जाती है ॥ १९ ॥

व्या० भा०—प्रत्यये संयमात्प्रत्ययस्य साक्षात्कारश्चात्तत् परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

भा० का प०—प्रत्यय में संयम करने से अर्थात् ज्ञान का साक्षात्कार होने से परचित्त ज्ञान होता है ॥ १९ ॥

भा० का भा०—ज्ञान का साक्षात्कार होने से योगी दूसरों के मन की बात जान लेते हैं ॥ १९ ॥

मो० वृ०—प्रत्ययस्य परचित्तस्य केनचित्सुखरागादिना सिंगेन पृथीतस्य यदा संयमं करोति तदा परकीयचित्तस्य ज्ञानमुत्पद्यते सरागस्य चित्तविरागं वृत्तिः । परचित्तगतान्यपि यमान् जानातीत्यर्थः ॥ १९ ॥

भा० वृ० का भा०—अब योगी सुखरागादि वाप्य चित्तों के द्वारा दूसरों के भाव का जानने का अभ्यास करता है तब इसका साराग व विराग परचित्त का ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् दूसरों के हृद्गत भावों का भी यह जान लेता है ॥ १९ ॥

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥२०॥

सू० का पदार्थ—(तत्-सालम्बनम्) यह अवलम्बन सहित नहीं है (तस्य, अविषयीभूतत्वात्) उसके विषयी-भूत न होने से ॥ २० ॥

सू० का भा०—वह परिचित ज्ञान अवलम्बन सहित नहीं है, क्योंकि योगी के चित्त में उसका केवल ज्ञान होता है, आलम्बन नहीं ॥ २० ॥

व्या० भा०—रक्तं प्रत्ययं जानात्यमुष्मिन्नालम्बने रक्तमिति न जानाति । परप्रत्ययस्य यदालम्बनं तद्योगि-चित्तेन नालम्बनीकृतं परप्रत्ययमात्रं तु योगिचित्तस्यालम्बनीभूतमिति ॥ २० ॥

भा० का प०—राग का ज्ञान होता है, पर किस आलम्बन से राग है यह नहीं जानता । केवल परचित्त के भाव का ज्ञान उसको होता है, उसका आलम्बन क्या है, इससे उसे कुछ प्रयोजन नहीं ।

भो० वृ०—तस्य परस्य यच्चित्तं तत्सालम्बनं स्वकीयेनालम्बनेन सहितं न शक्यते ज्ञातु मालम्बनस्य केनचिल्लिङ्गेनाविषयीकृतत्वात् । लिङ्गाद्धि चित्तमात्रं परस्यावगतं न तु नीलविषयमस्य चित्तं पीतविषयमिति वा यच्च न गृहीतं तत्र संयमस्य कर्तुमशक्यत्वान्न भवति परचित्तस्य यो विषयस्तत्र ज्ञानम् । तस्मात्परकीयचित्तं नालम्बनसहितं गृह्यते, तस्यालम्बनस्यागृहीतत्वात् । चित्तधर्माः पुनर्गृह्यन्त एव । यदा तु किमनेनालम्बितमिति प्रणिधानं करोति तदा तत्संयमात्तद्विषयमपि ज्ञानमुत्पद्यत एव ॥ २० ॥

भो० वृ० का भा०—पर का जो चित्त है उसके आलम्बन को

क्रिया या यह कार्य किया या उसे पूर्व कार्यों को समाधि में विचारने से उसके ज्ञान का अन्वय होता है तब उसे मृत क्रियाओं का स्मरण होता है और कम से यह स्मरण इतना बढ़ता है कि वह पूर्वेष्टम्भ के आस्थादि सब विषयों का ज्ञान जाता है ।

अब और सिद्धि करते हैं ॥ १८ ॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १६ ॥

पदार्थ—(प्रत्ययस्य) प्रत्यय में संयम करने से (परचित्तज्ञानम्) दूसरों के मन की बात जानी जाती है ॥ १६

सू० का प०—ज्ञान का संयम करने से दूसरों के मन की बात जानी जाती है ॥ १६ ॥

व्या० भा०—प्रत्यये संयमात्प्रत्ययस्य साक्षात्कारश्चा
ततः परचित्तज्ञानम् ॥ १६ ॥

भा० का प०—प्रत्यय में संयम करने से अर्थात् ज्ञान का साक्षात्कार होने से परचित्त ज्ञान होता है ॥ १६ ॥

भा० का भा०—ज्ञान का साक्षात्कार होने से योगी दूसरों के मन की बात जान लेते हैं ॥ १६ ॥

भो० वृ०—प्रत्ययस्य परचित्तस्य केनचिन्मुखरागादिना सिंगेन गृहीतस्य यदा संयमं करोति तदा परकीयचित्तस्य ज्ञानमुत्पद्यते सख्यगत्वं चित्तधिरागं वेत्ति । परचित्तगतानपि धर्मान् ज्ञानातीत्यर्थः ॥ १६ ॥

भो० वृ० का भा०—अब योगी मुखरागादि वाद्य जिन्हों के द्वारा दूसरों के भाव को जानने का अभ्यास करता है, तब इसको सख्य व धिराग परचित्त का ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् दूसरों के हृद्गत भावों का भी यह जान लेता है ॥ १६ ॥

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥२०॥

सू० का पदार्थ—(तत्-सालम्बनम्) यह अवलम्बन सहित नहीं है (तस्य, अविषयीभूतत्वात्) उसके विषयी-भूत न होने से ॥ २० ॥

सू० का भा०—वह परिचित ज्ञान अवलम्बन सहित नहीं है, क्योंकि योगी के चित्त में उसका केवल ज्ञान होता है, आलम्बन नहीं ॥ २० ॥

व्या० भा०—रक्तं प्रत्ययं जानात्यमुष्मिन्नालम्बने रक्तमिति न जानाति । परप्रत्ययस्य यदालम्बनं तद्योगि-चित्तेन नालम्बनीकृतं परप्रत्ययमात्रं तु योगिचित्तस्यालम्बनीभूतमिति ॥ २० ॥

भा० का प०—राग का ज्ञान होता है, पर किस आलम्बन में राग है यह नहीं जानता । केवल परचित्त के भाव का ज्ञान उसको होता है, उसका आलम्बन क्या है, इससे उसे कुछ प्रयोजन नहीं ।

भो० वृ०—तस्य परस्य यच्चित्तं तत्सालम्बनं स्वकीयेनालम्बनेन सहितं न शक्यते ज्ञातु मालम्बनस्य केनचिल्लिङ्गेनाविषयीकृतत्वात् । लिङ्गाद्धि चित्तमात्रं परस्यावगतं न तु नीलविषयस्य चित्तं पीतविषयमिति वा यच्च न गृहीतं तत्र संयमस्य कर्तुमशक्यत्वान्न भवति परचित्तस्य यो विषयस्तत्र ज्ञानम् । तस्मात्परकीयचित्तं नालम्बनसहितं गृह्यते, तस्यालम्बनस्यागृहीतत्वात् । चित्तधर्माः पुनर्गृह्यन्त एव । यदा तु किमनेनालम्बितमिति प्रणिधानं करोति तदा तत्संयमात्तद्विषयमपि ज्ञानमुत्पद्यत एव ॥ २० ॥

भो० वृ० का भा०—पर का जो चित्त है उसके आलम्बन को

योगी ग्रहण नहीं करता । सिद्ध से विस्तृत ज्ञान मात्र होता है न कि उसके विषय का नीला हूँ या पीता है । जो ग्रहण ही नहीं होता उसमें समय नहीं हो सकता । इस विषय परकीय विषय निरासम्बन्ध ही ग्रहण किया जाता है । जब वह इसका ध्यान करता है कि इसने किस विषय का आसम्बन्ध किया है, तब आसम्बन्धन के समय से विषय का भी ज्ञान उसका होता है ॥ २० ॥

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तन्मे चक्षुः

प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २१ ॥

सू० का प०—(कायरूपसंयमात्) कायगत रूप के संयमसे (तद्ग्राह्यशक्तिस्तन्मे) उसकी ग्राह्यशक्ति का स्तम्भ होने पर (चक्षुः प्रकाशासम्प्रयोगे) नेत्रके प्रकाश का संयोग न होने पर (अन्तर्धानम्) अन्तर्धान होता है ॥

सू० का भा०—कायगत रूप में संयम करने से उसकी शक्ति का स्तम्भ होता है और शक्तिस्तम्भ होने से नेत्र के प्रकाश का संयोग नहीं होता और उससे योगी को अन्तर्धान सिद्ध होता है ॥ २१ ॥

व्या० दे० का भा०—कायस्य रूपे संयमादूपस्य या प्राप्ताशक्तिस्तां प्रतिष्ठाति ग्राह्यशक्तिस्तन्मे सति चक्षुः प्रकाशासंयोगेऽन्तर्धानमुत्पद्यते योगिनः । एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तं वैधित्यम् ॥ २१ ॥

भा० का पा०—काय के रूप में संयम करने से रूप की जो ग्राह्यशक्ति है उसका निरोध होता है । ग्राह्यशक्ति के स्तम्भ होने पर मनो में जो चेतन का प्रकाश है उसके संयोग न होने से अन्तर्धान

अर्थात् दूसरे की न दिखाई देना उत्पन्न होता है । योगी का इससे शब्दान्तर्धान आदि पाँच प्रकार का अन्तर्धान समझना योग्य है ।

भा० का भा०—जब योगी शरीर के रूप में संयम करता है तब उसके शरीर के रूप की ग्राह्यशक्ति स्तम्भित हो जाती है तब किसी के नेत्रों का प्रकाश उसके शरीर को स्पर्श नहीं कर सकता, इस कारण से योगी का शरीर अन्तर्हित हो जाता है ॥ २१ ॥

विशेष—यह एक स्वाभाविक बात है कि नेत्र इन्द्रिय की शक्ति जब किसी कारण से प्रतिबद्ध हो जाती है तब उसको सम्मुख रक्खा पदार्थ भी नहीं दीखता । जैसे इन्द्रजाल का खेल करनेवाले लोग अनेक पदार्थों के संयोग और क्रियाकौशल से दर्शकों के नेत्रों को स्तम्भित कर देते हैं, ऐसे ही ऐन्द्रजालिक लोगों के परम गुरु योगियों का अन्तर्धान होना कुछ आश्चर्यजनक नहीं है ॥ २१ ॥

भो० वृ०—कायः शरीरं तस्य रूपं चक्षुर्माह्यो गुणस्तस्मिन्नस्त्यस्मिन्कायेरूपमिति सयमात्तस्य रूपस्य चक्षुर्माह्यत्वरूपा या शक्तिस्तस्याः स्तम्भे भावनावशात् प्रतिबन्धे चक्षुःप्रकाशासंयोगे चक्षुषःप्रकाशः सत्त्वधर्मस्तस्यासंयोगे तद्ग्रहणव्यापाराभावे योगिनोऽन्तर्धानं भवति । न केनचिदसौ दृश्यत इत्यर्थः । एतेन रूपाद्यन्तर्धानोपायप्रदर्शनेन शब्दादीना श्रोत्रादिग्राह्याणामन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥ २१ ॥

भो० वृ० का भा०—काया उस शरीर को कहते हैं, उसका रूप नेत्रों से ग्रहण करने योग्य एक गुण है । उस काया के रूप ज्ञान में जो संयम किया जाता है उससे नेत्रों की ग्रहण करनेवाली शक्ति का स्तम्भ हो जाता है अर्थात् नेत्र का प्रकाश रुक जाता है क्योंकि देखना मन का और बुद्धि का गुण है और उसके अभाव से योगी अन्तर्धान हो जाता है तब कोई भी योगी को नहीं देख सकता ।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्मतत्संयमादपरा-
न्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

सू० का प०—(सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म)
सोपक्रम और निरुपक्रम जो दो प्रकार के कर्म
(तत् संयमात्) उनमें संयम करने से (अपरान्तज्ञानम्
मृत्युका ज्ञान होता है (वा अरिष्टेभ्यः) अथवा दुःखों से
मृत्युका ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

सू० का भा०—सोपक्रम और निरुपक्रम कर्मों में संयम कर
से दुःखों से योगी को मृत्यु का ज्ञान होता ॥ २२ ॥

व्या० वे० कु० भा०—प्रायुर्विपाक कर्म त्रिविध—सोपक्रम
निरुपक्रम च । तत्र यथाद्रवस्त्रं विहानितं तृतीयसा काष्ठेन
दुप्येत् तथा सोपक्रमम् । यथा च तदेव सम्पिष्टवम् ।
चिरेण संशुप्येत् पवननिरुपक्रमम् । यथा बाल्मिः शुष्के कवे
मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः तृतीयसा काष्ठेन दहेत्तथा
सोपक्रमम् । यथा वा स एवाग्निस्तृयराशौ क्लृप्तोऽवयवेषु
न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा निरुपक्रमम् तदैकमधिकमायुष्कर
कर्म त्रिविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च । तत् संयमादपरान्तस्य
प्रायणस्य ज्ञानमरिष्टेभ्यो वेति । त्रिविधमरिष्टमाभ्यात्मिक-
माधिमौक्तिकमाधिदैविकं चेति तत्राभ्यात्मिकं सोप स्वदेहे
पितृसकृषो न मृच्छोति न्योतिर्वा नेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यति ।

तथाधिदैविकं स्वर्गमकस्मात् सिद्धान्वापश्यति विपरीतं वा सर्वमिति । अनेन वा जानात्यपरान्तं मरणमुपस्थितमिति ॥ २२ ॥

भा० का प०—आयु अर्थात् जीवन जिसका फल है वह कर्म दो प्रकार का है—सोपक्रम और निरुपक्रम । उन दोनों में जैसे जल जल से भीगे वस्त्र को निचोड़ कर फैलाने से बहुत ही थोड़े काल में वस्त्र सूख जाता है ऐसे ही सोपक्रम कर्म बहुत शीघ्र फलजनक होता है और जैसे वही वस्त्र तह करके रख देने से अधिक समय में सूखता है ऐसे ही निरुपक्रम कर्म विलम्ब से अधिक समय में फल देता है अथवा जैसे अग्नि सूखे तृण समूह में डालने और वायु की सहायता से शीघ्र दाहक हो जाता है ऐसे ही सोपक्रम शीघ्र फलदायक होता है । वही अग्नि तृण समूह के किसी भाग में थोड़ी २ डालने से विलम्ब से जलावेगी ऐसे ही निरुपक्रम कर्म फल देता है । इस रीति से एक जन्म के दो प्रकार के कर्म होते हैं—एक सोपक्रम और दूसरे निरुपक्रम । उन कर्मों में संयम करने से अथवा अरिष्टों से मृत्यु का ज्ञान होता है । अरिष्ट तीन प्रकार का है—१ आध्यात्मिक, २—आधिभौतिक और ३—आधिदैविक । उनमें से आध्यात्मिक अरिष्ट उसे कहते हैं जिसमें कान बन्द करने से शरीर के भीतर शब्द सुनाई नहीं देता, नेत्रों के रुक जाने से शरीर के भीतर प्रकाश को नहीं देखता, आधिभौतिक अरिष्ट का लक्षण यह है कि यमके दूतों को और पितरोंको देखता है आधिदैविक अरिष्ट वह है कि जिसमें अचानक अधिक सुखवाले लोकों को सिद्धों को देखता है अथवा विपरीत सब पदार्थों को देखता है इससे जानता है कि मृत्युकाल समीप है ॥ २२ ॥

भा० का भा०—पहिले जन्मों में किये वह कर्म जिनसे वर्त्त-

मान श्रम की भावु धनी है दो प्रकार के हैं—एक सोपक्रम दूसरे निरूपक्रम । सोपक्रम कर्म व हैं जिसका फल वर्तमान समय में मनुष्य भोगता है । जैसे धान में गीसे बल पसारने से शीघ्र सूखते हैं और धरी ज़ाया में तह करके रखने से बहुत बिसम्ब में सूखते हैं, इन्हीं दोनों प्रकार के कर्मों में संयम करने से अर्थात् दृढ़ता के साथ यह चिन्तन करने से कि मेरे कम शीघ्र फल बन जाते हैं वा बिसम्ब में फल देंगे ऐसा संयम करने से योगी का अपनी मृत्यु का ज्ञान हो जाता है । अथवा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों से योगी का अपनी मृत्यु का ज्ञान हो जाता ॥ २२ ॥

भो० ६०—आयुषिपाकं यत्पूर्वकृतं कर्म तद्विप्रकारं सोपक्रमं निरूपक्रमञ्च । तत्र सोपक्रमं यत् फलजनयायापक्रमेण कार्यकरणा मिश्रकर्म सद् वर्तते । यथोप्यप्रदष्टे प्रसारिताद्रैवासः शीघ्रमेव दृश्यति । सत्यविपरीतं निरूपक्रमं यथा तदेवात्र वासः संवर्तितमनु प्यदेष्टे विरेण दृश्यति । तस्मिन् विविधं कर्मणि च संयमं करोति किं ममकर्म शीघ्रविपाकं विरविपाकं वा एवं ध्यानवाङ्मार्गपराम्त ज्ञानमस्यास्पद्यते । अपराम्तः शरीरविभागस्तस्मिन् ज्ञानमनुष्मिन् कालेऽनुष्मिन् देशे मम शरीरविभागो भविष्यतीति निःसंशयं जानाति । अरिष्ट म्या वा । अरिष्टानि त्रिविधानि आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानि । तत्राऽऽध्यात्मिकानि पिहितकर्मा कौट्यस्य वायार्थोप न शृणोतीत्यवमाहीनि । आधिभौतिकानि अकस्माद्वि कृतपुरुषदर्शनाहीनि । आधिदैविकानि अकाण्ड एवद्रष्टु मशक्यस्वर्गादिपदार्थदर्शनाहीनि । तस्यः शरीरविभागं जानाति । यद्यपि अयागिनामप्यरिष्ट म्यः प्रापय तज्ज्ञानमुत्पद्यत तथाऽपि तर्पा सामान्याकारेण तत्संशयरूपं, योगिना पुमर्नियतवराकाशतया प्रत्यक्षब्रह्ममभारि ॥ २२ ॥

परिकर्मनिष्पादिताः सिद्धीः प्रतिपादयितुमाह—

भो० वृ० का भा०—आयुका विपाक जो पूर्व किया हुआ कर्म है वह दो प्रकार का है एक सोपक्रम और दूसरा निरुपक्रम । सोपक्रम । सोपक्रम कर्म उन्हें कहते हैं जो वर्तमान कालमें फल देनेके वास्ते उद्यत हैं जैसे गर्मी भरे स्थानमें गीले (भीगे) वस्त्र को पसारने से शीघ्र सूखता है इससे विपरीत अर्थात् जो उल्टा है उसे निरुपक्रम कर्म कहते हैं । जैसे शीत प्रधान देश में रक्खा हुआ वस्त्र विलम्ब से सूखता है । इन दो प्रकार के कर्मों में जो संयम करता है अर्थात् विचारता है कि मेरे कर्म शीघ्र फल देने वाले हैं वा विलम्ब से फल देने वाले हैं इस दृढ़ ध्यान से अपरान्त ज्ञान उत्पन्न होता है । अपरान्त मरने को कहते हैं अर्थात् योगी निश्चय पूर्वक जान जाता है कि अमुक समय में और अमुक देश में मेरा मरण होगा अथवा तीन प्रकार के दुःखों से जो ज्ञान छिपा हुआ है वह प्रकाशित हो जाता है । आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक यही तीन प्रकार के दुःख हैं, इन में से आध्यात्मिक दुःख द्वारा अन्तःकरण चिरा रहता है इस कारण अन्तर्गत वायु का शब्द सुनाई नहीं देता है उस दुःख के दूर होने से वह शब्द सुन पड़ता है । आधिदैविक दुःख से भयङ्कर पुरुष का दर्शन होता है । आधिभौतिक दुःख से अकाल में स्वर्गादि का दर्शन होता है उससे अपनी मृत्यु का समय जाना जाता है यद्यपि यह बात अयोगी को भी होती है किन्तु अयोगी को नियत ज्ञान नहीं होता अर्थात् उस ज्ञान में संशय बना रहता है और योगी को निश्चय पूर्वक देश, काल का प्रत्यक्ष के समान ज्ञान हो जाता ॥ २२ ॥ कर्मों का वर्णन किया, आगे सिद्धियों का वर्णन करेंगे ।

मैत्र्यादिषु वृत्तानि ॥ २३ ॥

सू० का प०—(मैत्र्यादिषु) मैत्री आदि में संयम करने से (वृत्तानि) वृत्त प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

सू० का भा०—मैत्री, मुदिता और करुणा में संयम करने से वृत्त की पुष्टि होती है ॥ २३ ॥

व्या० भा०—मैत्री करुणा मुदितेति तिस्रोभाषना स्तत्र भूतेषु सुखितेषु मैत्रीभाषयित्वा मैत्रीवृत्तं समते । दुःखितेषु करुणा भाषयित्वा करुणावृत्तं समते । पुण्य शीत्तेषु मुदिता भाषयित्वा मुदितावृत्तं समते । भाषनायाः सवाचिर्यः स संयमस्ततो वृत्तान्यप्यधीर्यादि जायन्ते । पापशीत्तेषूपेक्षा नतु भाषना । ततश्च तस्यां नास्ति समाधिरिति असौ न वृत्तमुपेक्षातस्तत्र संयमाभावादिति ॥ २३ ॥

भा० का पदा —मैत्री, मुदिता और करुणा यह ३ प्रकार की भाषना हैं जिनमें से सुखी प्राणियों में मित्रता की भाषना करके मित्रता के वृत्त को पाता है दुःखी प्राणियों में करुणा अर्थात् दया की भाषना करने से दया वृत्त को पाता है धर्मस्वाध्यायों में प्रसन्नता की भाषना करने से मुदिता वृत्त को पाता है भाषना से समाधि होती है समाधि से संयम वृत्त प्राप्त होता है अनिवाच्य वृत्त होते हैं अर्थात् उन शक्तियों का कार्य प्रतिबन्ध नहीं कर सकता पाप करने का स्वभाव है जिसका जन्म त्याग होता है इससे जन्म भाषना नहीं होती इस हेतु से उपेक्षा में समाधि भी नहीं होती इस ही कारण से उपेक्षा का वृत्त भी नहीं होता क्योंकि वृत्तों में संयम होना असम्भव है ॥ २३ ॥

भा० का भा०—पूर्व कही हुई मैत्री, मुदिता और करुणा, भावनाओं में संयम करने से मैत्रीबल, करुणाबल और मुदिता बल की वृद्धि होती है अर्थात् जब योगी सब सुखी प्राणियों को अपना मित्र समझता है तब उसको भी सब अपना मित्र समझने लगते हैं, जब योगी दुःखी प्राणियों पर कृपा करता है तब उस पर भी सब कृपालु होते हैं और जब योगी मुदिता में संयम करता है अर्थात् पुण्यशीलो को देखकर प्रसन्न होता है तब उसको भी देख कर सब प्रसन्न होते हैं । अब यहाँ पर शंका होती है कि पूर्वपाद में ४ प्रकार की भावना कही थीं किन्तु इस सूत्र में उपेक्षा का परित्याग क्यों किया इसका उत्तर भाष्यकार यह देते हैं कि पापी लोगों की जो उपेक्षा अर्थात् त्याग किया जाता है इससे उपेक्षा भावना नहीं कहला सकती इससे उसमें समाधि ही नहीं हो सकती और समाधि के अभाव से उसमें संयम भी नहीं हो सकता और जब संयम ही न हुआ तो उसका बल कैसे हो सकता है ॥ २३ ॥

भो० वृ०—मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षासु यो विहितः संयमस्तस्य बलानि मैत्र्यादीना सम्बन्धीनि प्रादुर्भवन्ति । मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षास्तथाऽस्य प्रकर्षं गच्छन्ति यथा सर्वस्य मित्रत्वादिकमथं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

सिद्धयन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—मैत्री, करुणा मुदिता और उपेक्षा में जो संयम किया जाता है उससे मैत्री आदि का बल प्राप्त होता है अर्थात् योगी की मैत्री आदि वृद्धि को प्राप्त होती है जिससे योगी सबका मित्र बन जाता है ॥ २३ ॥

आगे दूसरी सिद्धि कहते हैं—

बलेषु हस्तिवलादीनि ॥ २४ ॥

सू० का पदा०—(बलेषु) बलों में संयम करने से (हस्तिवलादीनि) हस्तिवलादि प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

सू० का भा०—योगी जिसके बल में संयम करता है उसी के समान योगी को बल प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

व्या० वे० कु० भा०—हस्तिने संयमाद्दस्तिवलो भवति । वैनतेयबले संयमाद्देनतेयबलो भवति । वायुबले संयमाद्वायुबलो भवतीत्येषमादि ॥ २४ ॥

भा० का भावा०—हस्ती के बल में संयम करने से हस्ती के समान बलवाना होता है, वलबाम् पक्षियों के बल में संयम करने से उनके समान बलवान होता है वायु के बल में संयम करने से वायु के समान बलवान होता है इत्यादि अन्य बल भी ऐसे ही समझने ॥ २४ ॥

भा० का भावा०—योगी समाधि समय में जिसके बल में संयम करेगा उसके समान ही बलवान हो जायगा ॥ २४ ॥

२४सू०—योगी का जो बल बुद्धि आदि सिद्धि प्राप्त होती है उसमें कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं दिया जा सकता है क्योंकि चिकित्सा शास्त्र व्यातिथ और योगविषय ऐसे नहीं है जिनमें राज्यप्रमाण पर विश्वास करके भ्रष्टा कर ली जाय परन्तु यह सब विषय ऐसे हैं कि जिन पर बिना प्रत्यक्ष देख कदापि विश्वास न करना चाहिये क्योंकि यदि किसी मूर्ख बेश के बचन पर विश्वास करके कोई अहितकारी औपधि खाल तो मनुष्य की मृत्यु हो जाती है । उस ही किसी कल्प यागी के कर्म से यदि अयुक्ति के मार्गों का निराप कर बैठे तो मनुष्य के प्राण नाश में कोई सम्बन्ध नहीं रहता

है । इससे जो योगी योग क्रिया में व्युत्पन्न और सुचतुर हो उसही की बात पर विश्वास करके योग की सिद्धियों को प्रत्यक्ष करके देखना चाहिये । तब ही इन सिद्धियों का मनुष्य पूरा पता पा सकता है, अन्यथा नहीं ॥ २४ ॥

भो० वृ०—हस्त्यादिसम्बन्धिषु बलेषु कृतसंयमस्य तद्बलानि हस्त्यादिवलानि आविर्भवन्ति । तदयमर्थः—यस्मिन् हस्तिबले वायुवेगे सिंहवीर्ये वा तन्मयीभावेनायं संयमं करोति तत्तत्सामर्थ्ययुक्तं सत्वमस्य प्रावुर्भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

सिद्धयन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—हस्ती आदि के बल में संयम करने से हस्ती आदि का बल प्राप्त होता है । अभिप्राय यह है कि हाथी के बल, वायु वेग वा सिंहवीर्य में तन्मयभाव से जब योगी संयम करता है तब योगी के प्राण भी वैसे ही बल युक्त हो जाते हैं ॥२४॥

और सिद्धि कहते हैं—

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

सू० का पदा०—(प्रवृत्त्यालोकन्यासात्) प्रवृत्तिका जो आलोक अर्थात् प्रकाश उसके न्यास अर्थात् ज्ञान के संयोग करने से (सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्) सूक्ष्म, गुप्त और उत्तम अर्थों का ज्ञान होता है ॥ २५ ॥

सू० का भा०—पूर्वोक्त ज्योतिष्मती प्रवृत्ति को प्रकाश संयुक्त करने से योगी सूक्ष्म, व्यवहित और उत्तमोत्तम अर्थों को जान सकता है ॥ २५ ॥

व्या० दे० कु० भा०—ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरुक्ता

मनसस्तस्यायमाश्लोकस्त योगी सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्र
कुटे वार्ये विन्यस्य तमर्घमधिगच्छति ॥ २५ ॥

भा० का पदा०—पूर्वपाद में जो व्यातिष्मती प्रवृत्ति मन की
कही थी उसका जो प्रकाश उसको योगी सूक्ष्म, गुप्त वा उत्तमाक्षय
अर्थ में जगा कर उस अर्थ को ज्ञान लेता है ॥ २५ ॥

भा० का भा०—पूर्वपाद में मन की जो व्योतिष्मती प्रवृत्ति
कही है उसको व्योति के अर्थों के साथ सम्बन्ध करन से योगी
सब प्रकार के अर्थों को ज्ञान लेता है ॥ २५ ॥

भो० वृ०—प्रवृत्तिविषयवती व्योतिष्मती च प्रागुक्त तस्या
योऽसावाश्लोकः सात्त्विकप्रकाशप्रसरस्तस्य निमित्तेषु विषयेषु
भ्यासात् तद्व्यसितानां विषयाणां भावनातोऽन्तःकरणेषु शक्तिषु च
प्रकृष्टशक्तिमापन्न पु सुसूक्ष्मस्य परमाणवादेव्यवहितस्य भूम्यन्तर्गत
स्य निमित्तानादेर्विप्रकृष्टस्य मेघपरपादवैवर्तिनोरसादेव निमुगच्छते ॥ २५ ॥

यतत् समानवृत्ताम्बु सिद्धपन्थरमाह—

भो० वृ० का भा०—व्योतिष्मती और विषयवती जो प्रवृत्ति
पहिसे कहीं भी उनसे जो सात्त्विक प्रकाश फैलता है उस प्रकाश
से जो सम्पूर्ण विषय प्रकाशित होते हैं उनमें संबन्ध करन से योगी
की शक्तिर्षो शुद्ध और बलवान् हो जाती है इस कारण अत्यन्त
सूक्ष्म परमाणु आदि भूमि के भीतर जो जिवे हुए पदार्थ हैं और
बड़े पदार्थ मेरु पर्वत से परखीपार जो रसायन आदि वेश हैं उन
सबका ज्ञान होता है ॥ २५ ॥

और भी सिद्ध कहते हैं—

भुवनज्ञानं सूर्य संयमात् ॥ २६ ॥

बृ० का पदा०—(सूर्ये संयमात्) सूर्य में संयम

करने से (भुवनज्ञानम्) जगत् का यथार्थ ज्ञान होता ॥ २६ ॥

सू० का भा०—सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

व्या० दे० कु० भा०—तत् प्रस्तारः सप्त लोकाः । तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोकः । मेरुपृष्ठा-
दारम्यद्वाध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः । ततः
परः स्वर्गलोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः । चतुर्थः
प्राजापत्यो महर्लोकः । त्रिविधो ब्राह्मः । तद्यथा—जनलोक-
स्तपोलोकः सत्यलोक इति ।

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान् ।

माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः ॥इति॥

संग्रह श्लोकः । तत्रावीचेरुपर्युपरि निविष्टाः षण्महा-
नरकभूमयो घनसलिलानलानिलाकाशतमः प्रतिष्ठाः महा-
कालाम्बरीषरौरवकालसूत्रान्धतामिस्राः । यत्र स्वकर्मोपा-
ज्जित दुःखवेदनाः प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्घमाक्षिप्य जायन्ते
ततो महातलरसातलातलसुतलवितलातलपातालाख्यानि
सप्तपातालानि भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती, यस्याः
सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः । तस्य राजतवैदूर्यस्फटिक-
हेममणिमयानि शृगाणि । तत्र वैदूर्यप्रभानुरागान्नीलो-
त्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः श्वेतः पूर्वः स्वच्छः

मनसस्तस्यायमात्तोरुस्त योगी सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्र
कृष्टे वार्ये विन्यस्य समर्थमधिगच्छति ॥ २५ ॥

भा० का पदा०—पूर्वपाद में जो व्यातिष्मती प्रवृत्ति मन की
कही थी उसका जो प्रकार उसको योगी सूक्ष्म, गुप्त वा उत्तमात्तम
अर्थ में लगा कर उस अर्थ को जान लेता है ॥ २५ ॥

भा० का भाषा०—पूर्वपाद में मन की जो व्यातिष्मती प्रवृत्ति
कही है उसको व्याति के अर्थों के साथ सम्बन्ध करने से योगी
सब प्रकार के अर्थों को जान लेता है ॥ २५ ॥

भो० वृ०—प्रवृत्तिविषयवती व्योतिष्मती च प्रागुक्त तस्या
घोऽसाधारणोऽसात्त्विकप्रकाशप्रसरस्तस्य निखिलेषु विषयेषु
म्यासात् तद्व्यसितानां विषयाणां भावनातोऽन्तःकरणेषु इन्द्रियेषु च
प्रकृष्टशक्तिमापन्नेषु सुसूक्ष्मस्य परमाण्वादेर्व्यवहितस्य भूष्यन्तर्गत
स्यनिधानादेर्विप्रकृष्टस्य मेघपरपार्यवर्त्तिनोरसादेर्बानसुरवयवतन्त्र

एतत् समानवृत्ताम्भं सिद्धयन्तरमाह—

भा० वृ० का भा०—व्योतिष्मती और विषयवती जो प्रवृत्ति
पहिले कही थीं उनसे जो सात्त्विक प्रकाश फैलता है उस प्रकाश
से जो सम्पूर्ण विषय प्रकाशित होते हैं उनमें संयम करने से योगी
की इन्द्रियाँ शुद्ध और बलवान् हो जाती हैं इस कारण अस्यम्भ
सूक्ष्म परमाणु आदि भूमि के भीतर जो छिपे हुए पदार्थ हैं और
जैसे पदार्थ मेरु पर्वत से परजीवार जो रसातल आदि देश हैं उन
सबका ज्ञान होता है ॥ २५ ॥

और भी सिद्ध करते हैं—

मुवनज्ञानं सूय्य संयमात् ॥ २६ ॥

वृ० का पदा०—(सूय्यं संयमात्) सूय्य में संयम

करने से (भुवनज्ञानम्) जगत् का यथार्थ ज्ञान होता ॥ २६ ॥

सू० का भा०—सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

व्या० दे० कु० भा०—तत् प्रस्तारः सप्त लोकाः । तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूलोकः । मेरुपृष्ठादारभ्य आध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः । ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः । चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः । त्रिविधो ब्राह्मः । तद्यथा—जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति ।

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान् ।

माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः ॥ इति ॥

संग्रह श्लोकः । तत्रावीचेरुपर्युपरि निविष्टाः षण्महानरकभूमयो घनसलिलानलानिलाकाशतमः प्रतिष्ठाः महाकालाम्बरीषरौरवकालसूत्रान्धतामिस्राः । यत्र स्वकर्मोपाज्जित दुःखवेदनाः प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्घमाक्षिप्य जायन्ते ततो महातलरसातलातलसुतलवितलातलपातालाख्यानि सप्तपातालानि भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती, यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काश्वनः । तस्य राजतवैदूर्यस्फटिकहेममणिमयानि शृगाणि । तत्र वैदूर्यप्रभानुरागान्नीलोत्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः श्वेतः पूर्वः स्वच्छः

पश्चिमः कुरुप्टकाम उत्तरः । दक्षिण पार्श्वे चास्य जम्बू-
 र्यतोऽयं जम्बूद्वीपः । तस्य सूर्यप्रचारात्त्रात्रिन्दिव लम्नमिव
 वर्धते । तस्य नीलश्वेतम्बुगवन्तउदीचीनाक्षपः पर्वताः द्वि-
 सहस्रयामाः । तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनव योजनसाह-
 स्राणि रम्यं हिरेण्यमयमुत्तराः कुरुष इति । निषेधहेमकुट-
 हिमशैला दक्षिणतो द्विसहस्रयामाः । तदन्तरेषु त्रीणि
 वर्षाणि नव नव योजनसहस्राणि हरिवर्षं किम्पुरुष भारत
 मिति सुमेरोः प्राचीना मद्राक्षमास्यश्च सीमान् प्रतीचीनाः
 केतुमासाग चमादनसीमानः । मध्येवपमितावृतम् । तदेत-
 योजनशतसहस्रं सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्धं न व्यूढम् ।

स स्वस्वयशतसाहस्रयामो जम्बूद्वीपस्त्वतो द्विगुणेन
 क्षय्यादधिना वक्ष्याकृतिना वेष्टितः । ततश्च द्विगुणा
 द्विगुणाः शाककुश कौचशास्मस्तगोमेघ (पुष्प) पुष्करद्वीपाः
 समुद्राश्च सर्पपराशिकत्पाः सविचित्रशैलावतसा इक्षुरससुरा
 सर्पिर्दक्षिमण्डवीरस्वाद्दक्षाः सप्त समुद्र परिवेष्टिता वक्ष्या
 कृतयो स्तोकास्तोकपम्बतपरिवाराः पञ्चाशद्याजनफोटिपरि
 संख्याताः तदेतत् सर्वं सुप्रतिष्ठितं सस्थानमपहमभ्ये व्यू-
 ढम् । अथ ह्यथ प्रधानास्याणुरवयवो यथाकाशे सुद्योत इति ।

तत्र पाताले अलक्षौ पर्वतेष्वेतेषु देवनिकाया असुरग-
 न्धर्वकिंभरकिम्पुरुषपचराचसमृतप्रेतपिशाचापस्मारकाप्सरो-
 प्रक्षराचसकृष्णायहविनायकाः प्रतिवसन्ति । सर्वेषु द्वीपेषु

पुण्यात्मानो देवमनुष्याः ।

सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः । तत्र मिश्रवनं नन्दनं
चैत्ररथं सुमानसमित्युद्यानानि । सुधर्मा देवसभा । सुदर्शनं
पुरम् । वैजयन्तः प्रासादः । ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धा
वायुविक्षेपनियमेनोपलक्षितप्रचाराः सुमेरोरुपयुं परि सन्निवि-
ष्टादिवि विपरिवर्तन्ते ।

माहेन्द्रनिवासिनः षट्देवनिकायाः त्रिदशा अग्निष्वात्ता
याम्यास्तुषिता अपरिनिर्मितवशवर्त्तिनश्चेति । सर्वे सङ्कल्प-
सिद्धा अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः काम-
भोगिन औपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृत-
परिचाराः ।

महति लोके प्राजापत्ये पञ्चविधो देवनिकायः—कुमुदा
ऋभवः प्रतर्दना अज्जनाभाः प्रचिताभा इति । एते महाभू-
तवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः प्रथमे ब्रह्मणो जन-
लोके चतुर्विधो देवनिकायो ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्मकायिका
ब्रह्ममहाकायिका अमरा इति । ते भूतेन्द्रियवशिनो द्विगुण-
द्विगुणोत्तरायुषः ।

द्वितीये तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः आभास्वरा
महाभास्वराः सत्यमहाभास्वरा इति । ते भूतेन्द्रियप्रकृति-
वशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः सर्वे ध्यानाहारा ऊर्ध्वरेतस
ऊर्ध्वमप्रतिहतज्ञाना अधरभूमिष्वनावृतज्ञानविषयाः । तृतीये

अस्यः सत्यलोके चत्वारो देवनिकाया अष्टमवनन्यासाः
स्वप्रतिष्ठा उपर्युपरिस्थिताः प्रधानवशिनो यावत् सर्गापुनः ।

तत्रान्युताः सवितकेभ्यानसुखाः, शुद्धनिवासाः सवि
धारभ्यानसुखाः सत्यामा आनन्दमात्रभ्यानसुखाः, सद्भा
सम्निभास्मितामात्रभ्यानसुखाः । तेऽपि त्रैलोक्यमन्ये प्रति
विष्ठन्ति । ए एते सप्तलोकाः सर्व एव असल्लोकाः । विद्वद्
प्रकृतिलपास्तु मोक्षपदे वर्धन्त इति न लोकेमध्ये न्यस्ता
इति । एतयोगिना साक्षात्कर्तव्य सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा
ततोऽन्यत्रापि एव तावदभ्यसेयावदिदं सर्वं दृष्टमिति ॥२६॥

भा० का प०—सुखन का प्रस्तार अर्थात् विस्तार यों है साथ
साथ है ऊनमें से ध्रुव से लेकर मेरुपर्वत पर्यन्त मूल्लोक कहलाता है
मेरुपर्वत से ध्रुवपर्यन्त सूर्यादि मन्त्र अरिषन्ती आदि नक्षत्र और
अरुणवती आदि तारा से पूर्ण जो लोक है उसे अम्तरिक्ष लोक
कहते हैं इसके परे पाँच प्रकार का स्वर्गलोक है तीसरा लोक महेन्द्र
कहलाता है चौथा प्राजापत्य महालोक है तदन्तर तीसरे प्रकार का
महालोक है अनलोक उपोलोक और सत्यलोक । ऐसा ही अम्पत्र
भी कहा है—तीन प्रकार का महालोक है प्राजापत्य महालोक है
माहेन्द्र स्वर्गलोक है, अम्तरिक्ष में तारा और धृन्वी में प्रजा रहती
है, इत्यादि ॥ २६ ॥

भा० का भा०—महर्षि व्यासदेव के माध्य का अभिप्राय यह
है कि सूर्य में संयम करने से महालोकादि ऊर्ध्वलोक और रस्य-
लोक आदि अधःस्थित लोकों का योगी को ज्ञान होता है । इस
माध्य में संपन्न होकर लोक के पूर्व जो इति शब्द है वहीं तक माध्य

की समाप्ति प्रतीत होती है और उससे आगे का भाष्य प्रक्षिप्त-
जान पड़ता है क्योंकि इस भाष्य में जो द्वीप तथा समुद्रों का
विस्तार लिखा है वह ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्तग्रन्थों से विरुद्ध है-
इसके अतिरिक्त दो दो और तीन तीन सहस्र वर्षों की अवस्था
भी इसमें लिखी है और वेदों में सबकी अवस्था का प्रमाण १००
वर्ष लिखा है यद्यपि योग से अवस्था की वृद्धि हो सकती है
परन्तु वह इतनी अधिक नहीं हो सकती है । वेद विरुद्ध होने से
इति के पश्चात् का भाष्य माननीय नहीं हो सकता है इसी
कारण भाष्य के पदार्थ में इति पर्यन्त भाष्य का ही ग्रहण किया है ।

विशेष—सूर्य चन्द्र इन शब्दों से योगशास्त्र में बाहर के सूर्यादि-
का ग्रहण नहीं है किंतु शरीरस्थ ही सूर्यादि का ग्रहण होता है
क्योंकि बाह्य सूर्यादिकों में संयम करने का कोई नियम नहीं लिखा
तब विभूतिपाद में उसके द्वारा सिद्धि की प्राप्ति कैसे कह सकते हैं,
इसलिये शरीरस्थ इड़ा नाड़ी जो दक्षिण भाग से चलती है उसे
सूर्य और वाम ओर से पिंगला नाड़ी बहती है उसे चन्द्र एवम्
मध्यस्थ सुषुम्णा नाड़ी को ध्रुव कहते हैं और जो सूत्र के भाष्य
में सप्तलोक कहे हैं वे योग की सप्तभूमिका हैं । महाराज भोज
विरचित वृत्तियों से जान पड़ता है कि वह पूर्व सूत्रमें आन्तरिक
प्रकाश और इस सूत्र में बाह्य प्रकाश का ग्रहण मानते हैं तो इस
से यह भी सिद्ध होता है कि बाह्य विषय अर्थात् प्रत्यक्ष लौकिक
सूर्यादि में संयम करने का ही उनका अभिप्राय है परन्तु भगवान्
भाष्यकार ने सूर्य शब्द से शरीर की उस नाड़ी का ग्रहण किया
है जो पीठ के मेरुदण्ड की दाहिनी ओर से चलती है और उसमें
संयम होना भी सम्भव है ऐसे ही चन्द्रमा के और ध्रुव के संयम
को भी जानना भृकुटि के मध्य में जो तारे के समान एक प्रकाश
है उसे तारा कहते हैं ॥ २६ ॥

भा० ५०—सूर्यप्रकाशमये च संयमं करोति तस्य सक्तसु भूमु वास्यः प्रसृतिषु लोकेषु पानि सुषनामि तत्तत्सन्निवेशमादिभ्य स्थानानि तेषु यथावदस्य ज्ञानमुत्पद्यते । पूर्वस्मिन् सूत्रे सात्त्विक प्रकाश आत्मम्बनतया च इह तु भौतिक इति विशेषः ॥ २६ ॥

भौतिकप्रकाशात्मम्बनद्वारेणैव सिद्ध्यन्तरमाह—

मो० ५० अ भा०—प्रकाश के निमित्त जो सूर्य में संयम करता है उसका भूलोक सुषुप्तलोक और स्वप्नलोक में जितने सुषुप्त हैं और उनमें सन्निवेश रखने वाले जो स्थान हैं उन सबके विषय में सुषुप्ती को यथार्थ ज्ञान होता है । पहिले सूत्र में सात्त्विक प्रकाश का वर्णन किया था और इस सूत्र में भौतिक प्रकाश का वर्णन किया है यही इन दोनों सूत्रों में भेद है ॥ २६ ॥

भौतिक प्रकाश में संयम करने से सिद्धि का वर्णन करते हैं—

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २८ ॥

सू० का पदा०—(चन्द्रे) चन्द्रमा में संयम करने से (ताराव्यूहज्ञानम्) नक्षत्रों के समूह का ज्ञान होता है ॥ २७ ॥

व्या० कुमा०—चन्द्रे संयम कृत्वा ताराव्यूह विज्ञानीयात्

भा० का प०—चन्द्रमा में चिन्तृत्ति का लगा कर ताराओं की राशि का ज्ञान ॥ २७ ॥

भा० अ भा०—स्पष्ट है ॥ २७ ॥

भा० ५०—ताराणां व्यातिथी यो व्यूहा विशिष्टाः सन्निवेशास्तस्य यत्र कृतसंयमस्य ज्ञानमुत्पद्यते । सूर्यप्रकाशेन इतदेव स्फुटत्वात् ताराणां सूर्यसंयमात्तद्ज्ञानं न भवितुमर्हतीति पूर्वमुपायाऽभिहितः । सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—तारागण का जो समूह उसका विशेष ज्ञान चन्द्रमा में संयम करने से उत्पन्न होता है । तारागण का तेज सूर्य के प्रकाश से विनष्ट हो जाता है इसलिये सूर्य में संयम करने से उनका ज्ञान नहीं हो सकता है इस कारण यह दूसरा उपाय उनके ज्ञान का कहा है ॥ २५ ॥

दूसरी सिद्धि कहते हैं—

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

सू० का प०—(ध्रुवं) ध्रुव नामक नक्षत्र में संयम करने से (तद्गतिज्ञानम्) तारागण की गति का ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

सू० का भा०—ध्रुव में संयम करने से तारों की गति का ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—ततो ध्रुवे संयमं कृत्वा ताराणां गतिं विजानीयात् । उर्ध्वविमानेषु कृतसंयमस्तानि विजानीयात् ॥ २८ ॥

भा० का प०—इसके पश्चात् ध्रुव नामक तारे में संयम करके नक्षत्रों की चाल को जाने उर्ध्व गमन करने वाले जो विमान हैं उनमें संयम करके विमानों को जाने ॥ २८ ॥

भा० का भा०—योगी को उचित है कि ध्रुव में संयम करके तारों की गति को जाने और ऊर्ध्वगामी विमानों में संयम करके विमानों को भी जानले ॥ २८ ॥

भो० वृ०—ध्रुवे निश्चले ज्योतिषा प्रधाने कृतसंयमस्य तासां ताराणां या गतिः प्रत्येकं नियतकालानियतदेशा च तस्या ज्ञानमुत्पद्यते । इयं ताराऽयं ग्रह इयता कालेनामुं राशिमिदं नक्षत्रं यास्यतीति

सर्वं जानाति । इदं काश्रमामस्य फलमित्युक्तं भवति ॥ २८ ॥

वाद्यं सिद्धीः प्रतिपाद्यन्तरं सिद्धीः प्रतिपाद्यमित्युपक्रमते—

मो० पु० का मा०—तारागात्र में जो प्रमाण और निश्चय प्र द है उसमें संयम करने से तारों की जो गति है अर्थात् किस प्र द के आश्रय से किस तारा की कितने समय में गति होती है यह ज्ञान होता है । फलितार्थ यह है कि योगी निश्चय पूर्वक जान जाता है कि यह तारा और यह प्र द इन काश्रमें अमुक राशि वा अमुक नक्षत्र पर पहुँचेगा, यह योगी को काल ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

वाद्यं सिद्धियों का वर्णन करके आगे आन्तरिक सिद्धियों का वर्णन करेंगे—

नामिचक्रेकायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

सू० का प०—(नामिचक्रे) चक्राकार नामि में (कायव्यूहज्ञानम्) शरीर के समुदाय का ज्ञान होता है २९

सू० का मा०—नामिचक्र में संयम करने से शरीरस्व सब पदार्थों का ज्ञान होता है ॥ २९ ॥

व्या० दे० कु० मा०—नामिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात् । वातपित्तस्तेष्माश्चक्षयो दोषाः । घातवः सप्त त्वम्बोदितमांसस्ताप्यस्थिमज्जाशुक्राणि पूर्व पूर्वमेवावाद्यमित्येष विन्यासः ॥ २९ ॥

भा० का प०—नामिचक्र में चित्त की वृत्ति को स्थिर करने से काया के समूह का ज्ञान । वात पित्त और कफ यह ३ दोष शरीर में रहते हैं और सात घातु अर्थात् रुधिर, मांस, मज्जा, इत्यादि चर्मा और बाल इत्यादि का २ पूर्व हैं यह क्रमशः वाद्य हैं यह इनकी स्थिति का क्रम है ।

भा० का भा०—नाभि में शरीर के व्यूह का ज्ञान होता है शरीर में वातादि ३ दोष और त्वगादि सात धातु हैं । धातुओं की स्थिति का नियम यह है कि उत्तरोत्तर अन्तरंग हैं इन्हीं से सबका शरीर स्थिर रहता है ॥ २६ ॥

भो० वृ०—शरीरमध्यवर्त्ति नाभिसंज्ञकं यत् षोडशाकारं चक्रं तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनः कायगतोयोऽसौ व्यूहो विशिष्टरसमल धातुनाड्यादीनामवस्थानं तत्र ज्ञानमुत्पद्यते । इदमुक्तं भवति-नाभि चक्रं शरीरमध्यवर्त्ति सर्वतः प्रसृताना नाड्यादीनां मूलभूतमतस्तत्र कृतावधानस्य समग्रसन्निवेशो यथावदाभाति ॥ २६ ॥

सिद्धयन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—शरीर के भीतर जो नाभिचक्र १६ आकार का है उसमें जो योगी संयम करता है उसको कायव्यूह अर्थात् विशेष रस, मल, धातु दोर नाडी आदियों के स्थान का ज्ञान उत्पन्न होता है, अभिप्राय यह है कि नाभिचक्र शरीर के मध्य में है और शरीर में जितनी नाडियाँ फैली हुई हैं उन सबका मूल नाभिचक्र है अतएव उसमें जो संयम करता है उसे सब नाडियों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है ॥ २६ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

सू० का पदार्थ—(कण्ठकूपे) कण्ठ के नीचे (क्षुत्पिपासानिवृत्तिः) लुधा और प्यास को निवृत्ति हो जाती है ॥ ३० ॥

सू० का भा०—कण्ठ के नीचे कूप में संयम करने से भूख और प्यास निवृत्ति हो जाती है ॥ ३० ॥

व्या० दे० कु० भा०—जिह्वाया अधस्तात् तन्तुस्त-

न्तोरधस्तात्कण्ठस्ततोऽधस्तात् कूपस्तत्र सयमात् घुस्त्रिपा
से न बाधेते ॥ ३० ॥

भा० का प०—जिह्वा के नीचे सूत्र क समान एक नस है उस
तन्तु के अधोभाग में कण्ठस्थान है कण्ठ के अधोभाग में कूप
अर्थात् गम्भीर छिद्र है उस कूप में सयम से जुषा और तृषा कुछ
नहीं देती है ॥ ३० ॥

भा० का भा०—जिह्वा के अधोभाग में तन्तु तन्तु के अधोभाग
में कण्ठ और कण्ठ के नीचे कूप है उस कूप में सब योगी संयम
करता है तब उसे जुषा और पिपासा नहीं सताती ॥ ३० ॥

भो० पु०—कण्ठे गले कूपः कण्ठकूपः, जिह्वामूलं जिह्वातन्तार
धस्तात् कूप इय कूपा गर्वाकारः प्रवेशः प्राग्धावेयत्सम्पर्कस्तुत्पि-
पासादयः प्रादुर्भवन्ति तस्मिन् कृतसयमस्य यागिनः कुतपिपासा-
व्योनिवत्तमे । वण्टिक्वधस्तात् सातसा नार्यमाणे तस्मिन् याचित
भक्त्येवविधा सिद्धिः ॥ ३० ॥

सिद्धयन्तरमाह—

भो० पु० का भा०—कण्ठ में जिह्वा की छद्म में जिह्वा तन्तु के
नीचे जो गढ़े के आकार का कण्ठकूप है इसी में प्राणों के सम्पर्क
में मूत्र और प्यास लगती है, उसमें संयम करने से यागी का मूत्र
प्यास का कुछ प्रतीत नहीं होगा । यह सिद्धि जिह्वा के मूल में
चाँदी नामक संयम करने से होती है ॥ ३० ॥ और सिद्धि करते हैं—

कूर्मनाख्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

सू० का प०—(कूर्मनाख्याम्) कूर्मनाड़ी में
(स्थैर्यम्) स्थिरता होती है ॥ ३१ ॥

सू० का भा०—कूर्मनाड़ी में संयम करने से यागी के चित्त की
स्थिरता होती है ३१ ॥

व्या० दे० भा०—कूपादध उरसि कूर्माकारा नाडी
तस्यां कृतसंयमः स्थिरपदं लभते । यथा सर्पो गोधा
चेति ॥ ३१ ॥

भा० का प०—कूप के नीचे वक्षःस्थल में कच्छप के शरीरा-
कार के समान एक नाडी है उसमें संयम करने से अचल पद की
प्राप्ति होती है जैसे सर्प अथवा गोह ॥ ३१ ॥

भा० का भा०—पूर्व सूत्रमें कहे कूप से नीचे वक्षःस्थल में
कच्छुप के शरीर के समान एक नाडी है जिसे कूर्मनाडी कहते हैं
उसमें संयम करने से योगी को स्थिरपद की प्राप्ति होती है जैसे
सर्प वा गोह अपने घर से जाकर चञ्चलता वा क्रूरता को त्याग
देते हैं ऐसे ही योगी का चित्त इस नाडी में आकर स्थिर हो
जाता है ॥ ३१ ॥

भो० वृ०—कण्ठकूपस्याधस्ताद्या कूर्माख्या नाडी तस्या कृत-
संयमस्य चेतसः स्थैर्यमुत्पद्यते । तत्स्थानमनुप्रविष्टस्य चञ्चलता न
भवतीत्यर्थः यदि वा कायस्य स्थैर्यमुत्पद्यते न केनचित्स्पन्दयितुं
शक्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

सिद्धयन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—कण्ठकूप के नीचे जा कूर्मनाडी है उसमें
संयम करने से चित्त की स्थिरता हाती है अर्थात् उस स्थान में
जब चित्त जाता है तब चञ्चलता को त्याग देता है यदि काया में
स्थिरता प्राप्त हो जाय तो कोई भी चल फिर नहीं सकता । दूसरी
सिद्धि फिर कहते हैं—

मूर्धज्योतितिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

सू० का प०—(मूर्धज्योतिषि) कपाल की ज्योति
में (सिद्धदर्शनम्) सिद्धों का दर्शन होता ॥ ३२ ॥

सू० का भाष्य—कपालस्थ ज्योति में संयम करने से सिद्धों का दर्शन होता है ॥ ३२ ॥

व्या० भाष्य—शिरःकपालेऽन्तर्निहित प्रमास्वर ज्योतिस्तत्र सयमास्तिद्वानां पाषाणपृथिव्योरन्तरालचारिणां दर्शनं भवति ॥ ३२ ॥

मा० का प०—शिर के कपाल के भीतर एक बिंदु होता है उसमें अत्यन्त प्रकाशमान एक ज्योति है उसमें संयम करने से आसिद्ध पृथिवी और अन्तरिक्ष के मध्य में स्थित करते हैं उनके दर्शन होते हैं ॥ ३२ ॥

मा० का मा०—कपाल के मध्य में एक बिंदु है उसमें अत्यन्त प्रकाश युक्त जो ज्योति है उसमें संयम करने से अन्तरिक्ष में विचरने वाले महात्माओं के दर्शन होते हैं ॥ ३२ ॥

३२ सू०—शिरःकर्णात् मध्यस्थे प्रकाशः का व्यापार है जैसे अन्तरिक्ष स्थित सूर्यादि ग्रहों का भूमि में प्रकाश फैलता है ऐसे ही मूर्त्तियों की ज्योति का प्रकाश हृदय में फैलता है । यही हृदय का सात्त्विक प्रकाश शिर में जाके पुष्ट होता है उस प्रकाश में संयम करने से पृथिवी में घूमने वाले सिद्ध पुरुषों का दर्शन होता है । यह सिद्धजनों और आगों का नदी बँकते हैं ॥ ३२ ॥

मा० पु०—शिरःकपाले मध्यस्थेऽन्तर्निहित प्रकाशाधारत्वात् ज्योतिः । यथा गुहाभ्यन्तरस्थस्य मणः प्रसरन्ती प्रभा कुञ्चिता कारेण सर्वेदृशे संपद्यते तथा हृदयस्थः सात्त्विकः प्रकाशः प्रसृतस्तत्र संपिण्डितरश्मिप्रवृत्ते । तत्र कृतसंयमन्यमस्य ये पाषाणपृथिव्या रन्तरालचरितिन सिद्धा विभ्याः पुरुषास्तपामितरमाप्तिमिदृश्यानां तस्य दर्शनं भवति । तावदप्यति कैव स सम्भावत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

सर्वेभ्यः काव्यमाह—

भोजवृत्ति का भा०—सिर के कपाल में जो ब्रह्मरन्ध्र नामक छिद्र है उसमें प्रकाश रूप ज्योति है जैसे घर के भीतर रक्खी मणि का प्रकाश सब घर में फैलता है ऐसे ही हृदय के भीतर सात्विक प्रकाश जो सब शरीर में फैला है वह ब्रह्मरन्ध्र में इकट्ठा रहता है उस प्रकाश में जो संयम करता है उसे पृथिवी और अन्तरिक्ष के मध्य में रहने वाले सिद्ध अर्थात् दिव्य पुरुष जो दूसरे प्राणियों को नहीं दीखते हैं वे योगी को दीखते हैं और योगी से उनका वार्त्तालाप भी होता है ॥ ३२ ॥

सर्वज्ञत्व का उपाय कहते हैं—

प्रातिभाद्रा सर्वम् ॥ ३३ ॥

सू० का प०—(प्रातिभाद्रा) अथवा प्रातिभ नामक तारा जो हृदय में है उसके ज्ञान से (सर्वम्) सम्पूर्ण ज्ञान होता है ॥ ३३ ॥

सूत्र का भा०—प्रातिभ के ज्ञान से योगी को सब ज्ञान होता है ॥ ३३ ॥

व्यास भा०—प्रातिभ नाम तारकं तद्विवेचकस्य ज्ञानस्य पुरुरूपम् । यथोदये प्रभा भाकरस्य । तेन वा सर्वमेव जानाति योगी प्रातिभस्य ज्ञानस्योत्पत्ताविति ॥ ३३ ॥

भा० का पदार्थ—प्रातिभ नामक एक तारा है उसका ज्ञान विवेक द्वारा उत्पन्न हुए सत्य ज्ञान का पूर्वरूप अर्थात् लक्षण है । जैसे अरुणोदय सूर्योदय का लक्षण है इस प्रातिभ ज्ञान से योगी को सम्पूर्ण ज्ञान होता है ॥ ३३ ॥

भा० का भा०—पूर्वोक्त कपालस्थ ज्योति के अन्तर्गत एक प्रातिभ नामक तारा है इस तारे का नाम प्रातिभ इसलिये है कि

यह समस्त प्रतिमाओं (छवियों) का मूल है, उसमें संयम करने से ज्ञान होता है यह प्रातिम ज्ञान कहा जाता है । यह प्रातिमज्ञान ज्ञान से योगी को सम्पूर्ण ज्ञानों का अर्थ होता है क्योंकि यही ज्ञान प्रभाज्य ज्ञान का पूर्वरूप है ॥ ३३ ॥

३१ सू०—इस सूत्र के माध्य में भगवान् व्यासदेव ने मूर्त्ति में स्थित एक विजय प्रातिम नामक तारा माना है (इस तारे का स्याम दोनों भौहों के बीच में लिखा है) और उसमें संयम करने से सब सिद्धि मिलती है, किन्तु महाराज भोज न किसी निमित्तकी अपेक्षा न करके जो स्वामाधिक ज्ञान मन में उत्पन्न होता है उसका प्रतिमा माना है उस प्रतिमा में संयम करने से सब सिद्धि प्राप्त होती है, माध्य में लिखी प्रमा का अर्थ यथायथान है । सूत्र में सर्व शब्द है उससे किन्तु ही पक्षित अनुमान करते हैं कि मद्भि पतञ्जलि न इसी सूत्र तक योग सिद्धि बयान की है व श्लोक सब शब्द में “सामान्य नपु सकम्” इस निर्देश से सिद्धि अर्थ सेन पर भी नपु सकम्ता को शुद्ध समझते हैं परन्तु दूसरे श्लोक “सर्वम्” से विशेष ज्ञान का मानते हैं किन्तु प्रातिम का अर्थ भी ज्ञान ही है तब सारा यह होगा कि ज्ञान में संयम करने से सब ज्ञानों की प्राप्ति होती है ॥ ३३ ॥

भा० सू०—निमित्तमपेक्षं मनामात्रप्रम्यमविसंवात्सर्कं शशुत्पद्य मान ज्ञान प्रतिमा । तस्मा संयमे क्रियमाणे प्रातिमे विवक्ष्यताः पूर्वं मादि तारकं ज्ञानमुदति । यथादध्यति सचितरि पूर्वं प्रमा प्रादुर्भवति सतिवकस्यातः पूर्वविमावकं सर्वविषयं ज्ञानमुत्पद्यते तस्मिन् सति संयमाम्तरानपक्षः सर्वं जानातीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भा० सू० का भा०—किसी कारण की अपेक्षा न रखन बात । कबल मन से उत्पन्न हुआ बिना माध्य का ज्ञान प्रतिमा कहा जाता

है, उस प्रतिभा में संयम करने से प्रातिभ ज्ञान जो विवेकख्याति का पूर्वरूप है उत्पन्न होता है जैसे सूर्य के उदय होने से पूर्व प्रभा फैल जाती है ऐसी ही विवेकख्याति के पूर्व सब विषयों का ज्ञान योगी को उत्पन्न होता है । उसके उत्पन्न होने से योगी को और संयमों की आवश्यकता नहीं रहती ॥ ३३ ॥

दूसरी सिद्धि कहते हैं ।

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

सू० का पदा०—(हृदये) हृदय में (चित्तसंवित्) चित्तका ज्ञान होता है ।

सू० का भा०—हृदय में संयम करने से योगी को चित्त का ज्ञान होता है ।

व्या० भा०—यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं
वैश्वं तत्र विज्ञानं तस्मिन् संयमात् चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

भा० का पदा०—यह जा ब्रह्मपुर अर्थात् हृदयस्थल में दहर अर्थात् जो तड़ाग के समान स्थल है उसमें कमल स्थानापन्न ज्ञान रहता है उसमें संयम करने चित्त का ज्ञान होता है ॥ ३४ ॥

भा० का भा०—हृदय का मध्यस्थान १ तड़ाग के तुल्य है उसमें संयम करने से चित्त ज्ञान होता है ॥ ३४ ॥

३२ सू०—हृदय शरीर का एक अङ्ग है उसमें नीचे को मुख-वाला एक कमल है उस ही में चारों अन्तःकरण हैं अन्तःकरण में संयम करने से योगी को अपने और पराये चित्त का ज्ञान होता है अर्थात् अपने चित्त की सम्पूर्ण वासनाओं को और पराये चित्त के रागादिकों को योगी जान लेता है ॥ २४ ॥

मो० वृ०—हृदये शरीरस्य प्रदेशविशेषस्तस्मिन्नधोमुख

स्वस्य पुण्डरीकम्यन्तरेऽन्तः करणस्यस्य स्थानं तत्र कृतसंयम
स्य स्वपरचित्तज्ञानमुत्पद्यते । स्वचित्तगताः सर्वाभासनाः परचित्त
गतौ च रागादीन् कामादीन्त्यर्थः ॥ ३४ ॥

सिद्धपन्तरमाह—

मो० बु० का भा०—शरीर का विषेय स्थान हृदय है उसमें
अधोमुख कमल के भीतर अन्तःकरण का स्थान है उसमें संयम
करने से अपने और दूसरे के चित्त का ज्ञान योगी को होता है
अर्थात् अपने चित्त के सम्पूर्ण विषयों को और दूसरे के चित्त के
रागादि को योगी जान जाता है ॥ ३४ ॥

आगे और सिद्धि करेंगे ।

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयो प्रत्ययविशेषो
भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

सु० का पदा०—(सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः)
बुद्धि और पुरुष जो अत्यन्त भिन्न है (प्रत्ययविशेषो
भोगः) उनकी एकता का ज्ञान भोग कहा है (परार्थ
त्वात् स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्) परार्थ के विचार से
और स्वार्थ के संयम से पुरुष का ज्ञान होता है ॥ ३५ ॥

सु० का भा०—बुद्धि या पुरुष से अत्यन्त भिन्न है, किन्तु
अज्ञान से जो उनकी एकता मानी जाती है उसे भोग कहते हैं
अतएव स्वार्थ संयम से योगी को पुरुषज्ञान अर्थात् जीव का ज्ञान
होता है ॥ ३५ ॥

व्या० दे० कु० भा०—बुद्धिसत्त्वं प्रक्याप्तीस्तु समान
सत्त्वोपमिश्रणने रजस्तमसो बहिःकृत्य सत्त्वपुरुषान्यतामस्य

येन परिणतम् । तस्माच्च सत्त्वात् परिणामिनोऽस्यन्तवि-
धर्मा विशुद्धोऽन्यश्चितिमात्ररूपः पुरुषः । तयोरत्यन्तासङ्गी-
र्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः पुरुषस्य दर्शितविषयत्वात् ।
भोगप्रत्ययः सत्त्वस्य परार्थत्वाद्दृश्यः ।

यस्तु तस्माद्विशिष्टश्चितिमात्ररूपोऽन्यः पौरुषेयः प्रत्य-
यस्तत्र संयमात् पुरुषविषया प्रज्ञा जायते । न च पुरुषप्रत्य-
येन बुद्धिसत्त्वात्मना पुरुषो दृश्यते । पुरुष एव तं प्रत्ययं
स्वात्मावलम्बनं पश्यति । तथाह्युक्तम् 'विज्ञातारमरे केन
विजानीयात्' (वृ० २ । ४ । १४) इति ॥ ३५ ॥

भा० का पदा०—बुद्धि विचाररूप ज्ञान है जीव में अज्ञान से
उसका आरोप करने से बुद्धि जीवरूप से प्रतीत होती है उस
परिणामिनी बुद्धि से भिन्न ज्ञानस्वरूप जीव है उक्त दोनों जो
अत्यन्त भिन्न हैं अभेद ज्ञानको भोग कहते हैं जो उस भोग से युक्त
है और भोग्य तथा साधन से भिन्न ज्ञान स्वरूप है उस पुरुष में
संयम करने से पुरुषविषयिणी बुद्धि उत्पन्न होती है किन्तु यह
ज्ञान जीव ही को होता है न कि बुद्धि को, जैसा कि बृहदारण्यक
उपनिषद् में कहा है—“जानने वाले को किससे जाने ?” ॥ ३५ ॥

भो० वृ०—सत्त्वं प्रकाशसुखात्मकं प्राधानिकः परिणामविशेषः ।
पुरुषो भोक्ताऽधिष्ठातृरूपः तयोरत्यन्तासंकीर्णयोर्भोग्यभोक्तरूप-
त्वात् चेतनाचेतनत्वाच्च भिन्नयोयः प्रत्ययस्याविशेषो भेदेनाप्रति-
भासन तस्मात् सत्त्वस्येव कर्तृताप्रत्ययेन या सुखदुःखसंवित् स
भोगः सत्त्वस्य स्वार्थनैरपेक्ष्येण परार्थः पुरुषार्थनिमित्तस्तस्मादन्यो
यः स्वार्थः पुरुषस्वरूपमात्रालम्बनः परित्यक्ताहङ्कारसत्त्वे या

विष्णुभाया संयन्तिस्तत्र कृतसंयमस्य पुरुषविषय ज्ञानमुत्पद्यत ।
तत्र तदेवं रूपं दृष्टान्मन्त्रे ज्ञानं सत्त्वनिष्ठं पुरुषो जानातात्यर्थः ।
न पुनः पुरुषो ज्ञाता ज्ञानस्य विषयभावमापद्यते । ज्ञेयत्वापत्तेर्ज्ञातृ
ज्ञेययोरत्यन्तविरोधात् ॥ ३५ ॥

अस्यैव संयमस्य फलमाह—

मो० बृ० का भा०—प्रकाश और सुखात्मक प्रधान परिणाम
को सत्त्व कहत हैं, भाग के अभिप्राता को पुरुष कहत हैं, माय्य
और मोक्षा माय से यह दोनों अत्यन्त भिन्न हैं तथा सत्त्व जब
और पुरुष चेतन है, जब और चेतन माय से भी इन दोनों में
अत्यन्त भेद है ता भी दोनों की या पक्का ज्ञान है अर्थात् सरण
में ही कृतात्मक मोक्ष होता है और इससे या सुख दुःख का ज्ञान
होता है उसे भोग कहते हैं । परन्तु सत्त्व जब है इस कारण उसमें
स्वाय नहीं हो सकता है अतएव भोग्य पदार्थ पुरुष के निमित्त है
इस सूक्ष्म भाव में अहङ्कार त्याग कर जो संयम करता है उसके
पुरुष का यथार्थज्ञान उत्पन्न होता है, अभिप्राय यह है कि सत्त्व
स्थित ज्ञान को सावम्भ जाना जाता है किन्तु पुरुष ज्ञाता ज्ञान
भाव में परिचर्चित नहीं हो जाता क्योंकि पसा होने से ज्ञाता ही
ज्ञेय हो जायगा परन्तु ज्ञाता और ज्ञेय में क्या भेद है ॥ ३५ ॥

इस संयम के फल का भाग कहत हैं—

ततः प्रातिमधावणावेदनादर्शास्वादवार्ता जाय
न्ते ॥ ३६ ॥

सू० का पदार्थ—(ततः) इसके अनन्तर (प्रातिम-
धावणावेदनादर्शास्वादवार्ता) प्रातिम अर्थात् बुद्धि वर्द्धक,
भावना दिव्यभक्षण, दिव्यस्पर्श, दिव्यस्पर्श, दिव्यस्पर्श, दिव्यस्पर्श

(जायन्ते) उत्पन्न होते हैं ॥३६॥

सू० का भा०—सत्य और पुरुष के भेद ज्ञान में संयम करने से दिव्य ज्ञान उत्पन्न होते हैं ॥ ३६ ॥

व्या० दे० का भा०—प्रातिभात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टा-
तीतानागतज्ञानम् । श्रावणादिव्यशब्दश्रवणम् । वेदनादिव्य-
स्पर्शाधिगमः । आदर्शादिव्यरूपसंवित् । आस्वादादिव्यरस-
संवित् वात्तातो दिव्यगन्धविज्ञानमित्येतानि नित्यं जायन्ते
॥ ३६ ॥

भा० का पदार्थ०—प्रतिभा सम्बन्धी ज्ञान से सूक्ष्म, गुप्त, दूर,
मूत और भविष्य का ज्ञान होता है, कर्ण संबंधी ज्ञान से दिव्य
शब्द का श्रवण होता है, वेदना से दिव्यस्पर्श का ज्ञान होता है,
आदर्श अर्थात् नेत्र इन्द्रिय से दिव्यरूप का ज्ञान होता है जिह्वा
से दिव्यरस का ज्ञान होता है यह ज्ञान नित्य ही होते हैं ॥ ३६ ॥

भा० का भावा०—जब योगी को पुरुष का ज्ञान हो जाता है,
अतः पश्चात् गुप्त, सूक्ष्म, दूर मूत और भविष्य तथा दिव्य श्रव-
णादि ज्ञान उत्पन्न होते हैं, इस सूत्र का यह भी अर्थ होता है कि
श्रवणादिकों में संयम करने से दिव्यश्रवणादि ज्ञान उत्पन्न होते हैं ।

भो० वृ०—ततः पुरुषसंयमादभ्यस्यमानात् व्युत्थितस्यापि
ज्ञानानि जायन्ते । तत्र प्रातिभं पूर्वोक्तं ज्ञान तस्याविभावात् सूक्ष्मा-
दिकभर्थ पश्यति । श्रावणं श्रोत्रेन्द्रिय ज्ञान तस्माच्च प्रकृष्टं दिव्यं
शब्दं जानाति । वेदना स्पर्शेन्द्रियजं ज्ञान वेद्यतेऽनयेति कृत्वाता-
न्त्रिक्या सज्ञया व्यवह्रियते । तस्मात् दिव्यस्पर्शविषय ज्ञान समु-
पजायते आदर्शश्चक्षुरिन्द्रियजं ज्ञानम् । आसमन्तात् दृश्यतेऽनुमूयते
रूपमनेनेति कृत्वा, तस्य प्रकर्षादिव्य रूपज्ञानमुत्पद्यते । आस्वादो

रसनेन्द्रियग ज्ञानम् । आस्थापयतऽन्नति कृत्वा तस्मिन् प्रकृतं दिव्ये
रसे संविदुपजायत । वार्ता गन्धे संवित् वृत्तिशब्देन तान्त्रिक्या
परिभाषायाऽप्राप्तोन्मिदयमुच्यत । पश्यति गन्धविषय इति वृत्त्यर्थात्-
न्मिदयाऽप्राप्ता वार्ता गन्धसंवित् तस्यां प्रकृत्यमाणायां दिव्यम्भा-
ज्जुमूयत ।

पतेर्पा फलविशेषविभागमाह—

भो० सू० का भा०—पुरुष के समय में अभ्यास करने से
व्युत्पन्न चित्तबाले को भी ज्ञान हो जात है, जिस प्रतिभा ज्ञान
का पूर्व वर्णन कर चुके हैं उससे प्रकाशित ज्ञान से योगी को सूक्ष्म
अथ भी माधुर्य हो जात है क्योंकिन्द्रिय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है ।
उससे वागी को दिव्य शब्द का ज्ञान होता है वेदना शब्द का अर्थ
स्पर्श का ज्ञान है उससे दिव्य स्पर्श का ज्ञान होता है । आदर्श
का अर्थ ज्ञानेन्द्रिय से उत्पन्न हुआ ज्ञान है उससे दिव्यरूप ज्ञान
होता है जिज्ञा से जो रस का ज्ञान होता है उससे दिव्य रस ज्ञान
होता है, वार्ता शब्द का अर्थ इस शास्त्र में नासिका से उत्पन्न
हुआ ज्ञान है उससे दिव्य गन्ध का ज्ञान होता है ॥ ३६ ॥

इससे विशेष फल के विशेष भागों को आगे कहेंगे—

ते समाधायुपसर्गा व्युत्थानेसिद्धयः ॥३७॥

सू० का पदार्थ—(ते समाधौ-उपसर्गाः) पूर्वसूत्र में

फले ज्ञान समाधि में विघ्नकारक है (व्युत्थानेसिद्धयः)

और पंचक चित्त बाले को सिद्धि है ॥३७॥

सू० का भा०—कैवल्य समाधि बाले को पूर्वोक्त ज्ञान विघ्न
रूप है किन्तु पंचक चित्तबाले योगी को सिद्धि है अर्थात् सिद्धि
प्राप्त मनुष्य का कैवल्य समाधि के अभाव से ईश्वर का ज्ञान नहीं
होता है ॥३७॥

व्या० दे० का भाष्य—ते प्रातिभादयः समाहितचित्तस्योत्पद्यमाना उपसर्गास्तदर्शनप्रत्यनीकत्वःत् । व्युत्थितचित्तस्योत्पद्यमानाः सिद्धयः ॥३७॥

भा० का पदा०—पूर्व सूत्रमे कहे प्रातिभ आदि दिव्य ज्ञान स्थिर चित्त वाले को उत्पन्न हुये विघ्न हैं क्योंकि इनसे ईश्वर के ज्ञान मे विघ्न होता है व्युत्थित चित्त अर्थात् बाह्यवृत्ति वाले की यह सिद्धि है ॥ ३७ ॥

भा० का भावा०—उक्त प्रातिभ ज्ञानादि कैवल्य समाधि मे विघ्न हैं और बाह्यवृत्ति वाले को सिद्धि है ॥ ३७ ॥

भो० वृ०—ते प्राक्प्रतिपादिता. फलविशेषाः समाधेः प्रकर्षं गच्छत उपसर्गा उपद्रवा विघ्नकारिणः । तत्र हर्षचिस्मयादिकरणेन समाधिः शिथिली भवति व्युत्थाने तु पुनर्व्यवहारदशाया विशिष्टफलदायकत्वात्सिद्धयो भवन्ति ॥ ३७ ॥

सिद्धयन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—पूर्व कहे हुए संयमों के विशेष फल समाधि के उपद्रव अर्थात् विघ्न हैं, हर्ष और हास्य आदि के करने से समाधि शिथिल हो जाती है किन्तु व्युत्थान अर्थात् सासारिक व्यवहारों में यह सब सिद्धि है क्योंकि इनसे अधिक लाभ होता है ॥ ३७ ॥ दूसरी सिद्धि कहते हैं—

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

सू० का प०—(बन्धकारणशैथिल्यात्) बन्धन का जो कारण है उसके शिथिल होजाने से (प्रचारसंवेदनाच्च)

से एक भोग और दूसरा माया है इन दोनों में जो एकता का ज्ञान है वही से बन्धन है, सब समाधि के वस्तु से बन्धन का कारण भोग और अधर्म रूप कर्म शिथिल हो जाता। चित्त का जो प्रचार अर्थात् गमनागमन है वह चित्त की नादियों के द्वारा शरीरों में जाता है फिर विषयों की ओर दौड़ता है ये नाड़ी चित्त-बद्ध कहलाती है ये चित्तवद्वा नादिर्यो प्राणवद्वा और रसवद्वा नादिर्यो से विलक्षण है यागी जब अपने शरीर और दूसरों के शरीरों के संपर्क का ज्ञान जाता तब दूसरे के जीव का मरे शरीर पर प्रवेश कर जाता है जब योगी का चित्त दूसरे शरीर में बद्धा जाता है तब शरीरों भी चित्त का अनुगमन करती हैं अर्थात् वे भी शरीर में धनी जाती हैं जैसे रानी मक्खी के पीछे शङ्ख की छब मात्सर्यों जाता है। दूसरे शरीर में जाके योगी अपने शरीर के सम्मान का सब व्यवहार करता है क्योंकि चित्त और आत्मा व्यापक है जब उनका भोग वृष्णा ही न रही तब उनको सर्वत्र आत्मस्थ मिलता है क्योंकि भोग के साधन कर्म शिथिल हो गये हैं अतएव यागी सर्वत्र स्वतन्त्र भाव से सुखी रह सकता है ॥ ३८ ॥ और सिद्धि कहत है—

नहीं होता और मरण भी यथारुचि होता है ॥ ३६ ॥

व्या० भा०—समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा
जीवनं तस्य क्रिया पञ्चतयी । प्राणो मुखनासिकागतिरा-
हृदयवृत्तिः । समनयनात्समानश्चानाभिवृत्तिः । अपनयना-
दपान आपादतलवृत्तिः उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः ।
व्यापी व्यान इति, एषा प्रधानं प्राणः । उदानजयाब्जजल-
पंकण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च प्रयाणकाले भवति । तर्हि
वशित्वेन प्रतिपद्यते ॥ ३६ ॥

भा० का पदा०—सम्पूर्ण इन्द्रियों में रहनेवाला प्राण आदि
वायु ही सबका आजीवन अर्थात् आधार है उस प्राण की ५ गति
हैं उनमें से प्राण उसे कहते हैं जिसका मुख और नासिका के
द्वारा गमन होता है और यह हृदय तक वर्तमान रहता है समता
को प्राप्त करने वाला समान वायु नाभि तक रहता है अधोगामी
वायु को अपान कहते हैं जो नाभि के अधोभाग से पैरो तक गमन
करता है ऊर्ध्वगमन से उदान कहलाता है जो कण्ठ से सिर पर्यन्त
पूरित है शरीर में पूर्ण होनेसे व्यान कहलाता है, इन सब में प्रधान
प्राण हैं प्राण और उदान का संयम करने से जल, पंक और
कण्टक आदि के स्पर्श से पीड़ा नहीं होती । उत्क्रान्ति जो मरने
समय होती है उसको वश में करता है ॥ ३६ ॥

भा० का भावार्थ—सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने गमनागमन से
स्थिर रखनेवाला वायु है जिसके प्राणादि ५ भेद हैं प्राण वह वायु
है जिसकी गति मुख नासिका से हृदय पर्यन्त है । समगतिवाला
नाभिपर्यन्त जाने वाला वायु समान कहाता है । अधोगमनशील
जो चरण पर्यन्त भ्रमण करता है वह अपान वायु कहा जाता है

और प्रचार अर्थात् प्रवेश और निर्गम के ज्ञान से (चित्तस्य परशरीरावेशः) चित्तका पराये शरीर में प्रवेश होता है ३८

सू० का मा०—यन्म कारणं क शिथिलं होन और प्रचार ज्ञान ज्ञाने से योगी के चित्त में परकायनिवेश की शक्ति होती है ॥३८॥

व्या० वे का मा०—लोत्थीभूतस्य मनसोऽप्रतिष्ठस्य शरीरे कर्मशियदशा द्रव्यः प्रतिष्ठेत्पथः । तस्य कर्मणो मन्वकारणस्य शैथिल्यस्य समाधिबलाद्भवति । प्रचारसंवेदनश्च चित्तस्य समाधिमेव । कर्ममन्वव्यात् स्वचित्तस्य प्रचार संवेदनाश्च योगी चित्त स्वशरीराभिष्कृत्य शरीरान्तरेण निविपति निविप्त चित्तञ्चेन्द्रियाप्यनुपवन्ति । यथा मधुकरराजान मयिका उत्पतन्तमनुपवन्ति निविशमान मनुनिविशन्ते । तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनुविधा यन्त इति ॥ ३८ ॥

भा० का प०—चञ्चलता का प्राप्त हुए अस्थिर मनका शरीर में कर्मफल के बराबर यन्म अर्थात् स्थिरता है उस यन्मन के कारण रूप कर्म की शिथिलता समाधि के प्रताप से होती है और प्रचार ज्ञान भी समाधि से ही उत्पन्न होता है कर्मबंधनों के नाश होने से और अपने चित्त के प्रचार ज्ञान से योगी चित्त को अपने शरीर निष्कल कर दूसरे में डाल देता है चित्त के पर शरीर में प्रविष्ट होने से इन्द्रियाँ भी उस ही शरीर में बसी जाती हैं जैसे रानी मक्खी के उड़ने से सब मक्खी उड़ती हैं और वहाँ बह बैठती है वही सब बैठ जाती है ऐसे ही इन्द्रियों भी दूसरे शरीर में प्रवेश करने के समय चित्त की अनुगामिनी होती हैं ॥ ३८ ॥

भा० का भा०—मन जो अत्यन्त ही चञ्चल है उसका एक शरीर में स्थिर रहना यह केवल कर्म फलके बन्धन से है और वह कर्म बन्धन समाधि में शिथिल होता है और समाधि ही से चित्त का प्रचार अर्थात् नाडी का परिज्ञान भी जाना जाता है । जब योगी के समाधि बल से कर्म बन्धन ढीले हो जाते हैं और चित्त के प्रचार को भी योगी जान जाता है तब उसको यह शक्ति हो जाती है कि वह अपने चित्त को पर शरीर में प्रविष्ट कर देता है और चित्त के गमन से इन्द्रियाँ भी चित्त की अनुगामिनी होती हैं क्योंकि इन्द्रियों की गति रानी मक्खी के समान है जैसे रानी मक्खी के उड़ने से सब मक्खियाँ उड़ती हैं और जहाँ वह बैठती है वहीं सब बैठ जाती हैं ॥ ३८ ॥

भो० वृ०—व्यापकत्वादात्मचित्तयोनियतकर्मवशादेव शरीरा-
न्तर्गतयोर्भोग्यभोक्तृभावेन यतू संवेदनमुपजायते स एव शरीरे बन्ध
इत्युच्यते । तद्यदा समाधिवशाद्वन्धकारणं धर्माधर्माख्यं शिथिलं
भवति तानवमापद्यते । चित्तस्य चयोऽसौ प्रचारो हृदयप्रवेशादि-
न्द्रियद्वारेण विषयाभिमुख्येन प्रसरस्तस्य संवेदनं ज्ञानमियं चित्त-
वहा नाडी अनया चित्तं वहन्ति इयं च रसप्राणादिवहाम्यो नाडी-
भ्यो नाडीभ्यो विलक्षणेति स्वपरशरीरयोर्यदा सञ्चारं जानाति
तदा परकीयं शरीरं मृत जीवच्छरीरं वा चित्तसञ्चारद्वारेण प्रवि-
शति । चित्तं परशरीरे प्रविशदिन्द्रियाण्यपि अनुवर्तन्ते मधुकर-
राजमिवमधुमक्षिकाः । अथ परशरीरं प्रविष्टो योगी स्वशरीरवत्
तेन व्यवहरति यतो व्यापकयोश्चित्तपुरुषयोर्भोगसङ्कोचकारणं कर्म
तच्चेत्समाविना क्षिप्तं तदा स्वातन्त्र्यात् सर्वत्रैव भोगनिष्पत्तिः ॥ ३८

सिद्धयन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—आत्मा और चित्त के व्यापक होने से नियत कर्म के वश से दोनों ही शरीर के अन्तर्गत हैं परन्तु इनमें

से एक मोम्य और दूसरा मोका है इन दोनों में जो एकता का ज्ञान है वही से बन्धन है, जब समाधि के वक्त से बन्ध का कारण धर्म और अधर्म रूप कर्म शिथिल हो जाता । चित्त का जो प्रचार अर्थात् गममागमन है यह चित्त की नादियों के द्वारा इन्द्रियों में जाता है फिर विषयों की भार होइता है य नाही चित्त-बड़ा कहलाती है य चित्तबड़ा नादियों प्राणबड़ा और रसबड़ा नादियों से विलसण है योगी जब अपम शरीर और दूसरों के शरीरों के संचार को जान जाता तब दूसरे के जीव का भरे शरीर प्रवेश कर जाता है जब योगी का चित्त दूसरे शरीर में चला जाता है तब इन्द्रियाँ भी चित्त का अनुगमन करती हैं अर्थात् वे भी दूसरे में चली जाती हैं जैसे रानी मक्खी के पीछे शहर की सब मक्खियाँ जाती हैं । दूसरे शरीर में जाके योगी अपम शरीर के समान ही सब व्यवहार करता है क्योंकि चित्त और आत्मा व्यापक हैं जब उनका भोग मृच्छा ही न रही तब उनका सर्वत्र आमन्द मिलता है क्योंकि भोग के साधन कर्म शिथिल हो गये हैं अतएव योगी सर्वत्र स्वतन्त्र भाव से सुखी रह सकता है ॥ ३८ ॥

और विधि कहत है—

उदानजयाज्जलपक्कट्टकादिष्वसगुत्क्रान्तिश्च ६६

सू० का प०—(उदानजयात्) कण्ठ में रहने वाले उदान वायु के जीतने से (अस्रपंककट्टकादिपुष्पसङ्गः) मल, पक्क और कण्ठक आदि शरीरमेदक पदार्थों का स्पर्श नहीं होता (उत्क्रान्तिश्च) और मरण अपने वश में हो जाता है ॥ ३६ ॥

सू० अ० भा०—आमादि वायु के जीतने से कण्ठकमदिका स्पर्श

नहीं होता और मरण भी यथारुचि होता है ॥ ३६ ॥

व्या० भा०—समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा
जीवनं तस्य क्रिया पञ्चतयी । प्राणो मुखनासिकागतिरा-
हृदयवृत्तिः । समनयनात्समानश्चानाभिवृत्तिः । अपनयना-
दपान आपादतलवृत्तिः उभयनादुदान आशिरोवृत्तिः ।
व्यापी व्यान इति, एषा प्रधानं प्राणः । उदानजयाज्जल-
पंकण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च प्रयाणकाले भवति । तं
वशित्वेन प्रतिपद्यते ॥ ३६ ॥

भा० का पदा०—सम्पूर्ण इन्द्रियों में रहनेवाला प्राण आदि
वायु ही सबका आजीवन अर्थात् आधार है उस प्राण की ५ गति
हैं उनमें से प्राण उसे कहते हैं जिसका मुख और नासिका के
द्वारा गमन होता है और यह हृदय तक वर्तमान रहता है समता
को प्राप्त करने वाला समान वायु नाभि तक रहता है अधोगामी
वायु को अपान कहते हैं जो नाभि के अधोभाग से पैरों तक गमन
करता है ऊर्ध्वगमन से उदान कहलाता है जो कण्ठ से सिर पर्यन्त
पूरित है शरीर में पूर्ण होनेसे व्यान कहलाता है, इन सब में प्रधान
प्राण हैं प्राण और उदान का संयम करने से जल, पंक और
कण्टक आदि के स्पर्श से पीड़ा नहीं होती । उत्क्रान्ति जो मरने
समय होती है उसको वश में करता है ॥ ३६ ॥

भा० का भावार्थ—सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने गमनागमन से
स्थिर रखनेवाला वायु है जिसके प्राणादि ५ भेद हैं प्राण वह वायु
है जिसकी गति मुख नासिका से हृदय पर्यन्त है । समगतिवाला
नाभिपर्यन्त जाने वाला वायु समान कहाता है । अधोगमनशील
जो चरण पर्यन्त भ्रमण करता है वह अपान वायु कहा जाता है

भोत्राकाशयोः सम्बन्धस्यमादिव्यं भोत्रम् ॥ ४० ॥

सू० का पदार्थ—(भोत्राकाशयोः सम्बन्धस्यमादिव्यं)
कर्ण इन्द्रिय और आकाश में संयम करने से (किं
भोत्रम्) दिव्यभवण होता है ॥ ४१ ॥

सू० का भा०—कर्णेन्द्रिय और आकाश में संयम करने से
दिव्यभवण अर्थात् दूर देश का भी भवण होता है ॥ ४१ ॥

व्या० भा०—सर्वभोत्राकाशप्रतिष्ठा शब्दानां च । यथोक्तम्—तस्यदेशभवणानामेकदेशभक्तिं सर्वेषां भवतीति तच्चैतदाकाशस्य लिङ्गम् । अत्रोक्तम् । तथाहि अमृतस्यावरणदर्शनाद्विदुस्त्वमपि तमाकाशस्य । शब्दग्रहणानुमितं भोत्रम् । बहिरावृत्तिरेकः शब्दं गृह्णात्यपरो न गृह्णातीति । तस्मात्क्षेत्रेण शब्दविषयम् । भोत्राकाशयोः सम्बन्धे कृतसंयमस्य बोधो दिव्यं भोत्रं प्रवर्तते ॥ ४१ ॥

भा० का प०—समस्त प्राणियों की कर्णेन्द्रिय का एक आकाश है और सम्पूर्ण शब्दों का भी आधार आकाश ही ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है । एक स्वप्न पर उद्वारित शब्दों का मुनना सर्वत्र पाया जाता है और यही आकाश का बिना अथात् बिना आकाश के शब्द का कर्ण इन्द्रिय में प्रवेश करना असम्भव है और इसी से आकाश का आवरणरहितत्व भी सिद्ध होता है ऐसे ही का पदार्थ अमृत अथात् अपरहित है उसकी सर्व व्यापकता भी प्रसिद्ध है किन्तु शब्द के ग्रहण करने का विधि

कर्ण ही है क्योंकि बहरा और सुननेवाला इन दोनों में से एक शब्द को ग्रहण करता है और दूसरा नहीं करता इसलिये कर्ण ही शब्द का विषय है कर्णेन्द्रिय और आकाश का जो सम्बन्ध है उसमें संयम करने से दिव्य श्रवण होता है ॥ ४१ ॥

भा० का भा०—सब की कर्णेन्द्रिय का आधार आकाश है और वह अमूर्त होने से व्यापक है यदि केवल आकाश ही से शब्द का सम्बन्ध होता तो बहिरे को भी शब्द सुनाई देता किन्तु ऐसा नहीं है इससे प्रतीत होता है कि शब्दग्रहण कर्णेन्द्रिय से होता है । कर्णेन्द्रिय और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से योगी को दिव्य श्रवण शक्ति हाती है ॥ ४१ ॥

भो० वृ०—श्रोत्रं शब्दग्राहकमाहङ्कारिकमिन्द्रियम् । आकाशं व्योम शब्दतन्मात्रकार्यम् । तयोःसम्बन्धो देशदेशिभावलक्षणस्तस्मिन् कृत संयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्तते युगपत्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टशब्दग्रहणसमर्थं भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

सिद्धयन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—कर्णेन्द्रिय शब्द को ग्रहण करने वाली है, आकाश का जो तन्मात्र शब्द है उसके सम्बन्ध में संयम करने से योगी को दिव्य श्रोत्र प्राप्त होते हैं अर्थात् सूक्ष्मशब्द व्यवहित छिपे हुए और दूरके शब्दों को सुनने की शक्ति उत्पन्न होती है ॥ ४१ ॥

आगे और सिद्धि कहते हैं—

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेः
श्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

सूत्र का पदार्थ—(कायाकाशयोः) शरीर और आकाशके (सम्बन्धसंयमात्) सम्बन्ध में संयम करने से

और जो कण्ठसे सिर पर्यन्त घूमता है उसका नाम ध्यान है और जो सब शरीर में व्यापक है वह ध्यान, कहलाता है । प्राण और ध्यान के संयम करने से सब कीपद और कण्ठकादि का मय योगी का निवृत्त हो जाता है और मरण भी योगी के वश हो जाता है (अर्थात् अपने जीवन का द्विगुण कर सकता है) ॥ ३६ ॥

भा० वृ० —समस्तानामिन्द्रियाणां तु परबालावया युगपदुत्थिता वृत्तिः सा जीवनशक्त्याख्या । तस्याः क्रियाभेदात् प्राणापानादि संज्ञामिच्छपदेशाः । तत्र हृदयान्मुखनासिकाद्वारेण वायोः प्रवयनात् प्राण इत्युच्यते । नाभिदेशात् पादाङ्गुल्यभ्यन्तमपमयनात् पानम् । नाभिदेशं परिबेष्ट्य समन्ताभ्यन्तयनात् समानम् । कृच्छाटिकाद्वारा शिरोवृत्तेऽभ्यन्तयनादुदानम् । व्याप्यमयनात् सर्वशरीरव्यापी ध्यानः । तत्रोदानस्य संयमद्वारेण व्याधितरेषां वायूनां निरोधाद्भव्यगति स्वेन जले महानद्यादौ महति वा फले में तीक्ष्णेषु कण्ठकेषु वा न सस्य सऽतिमृक्त्वात् तूत्रपिण्डबद्धज्ञादौ मरिद्रताऽप्युद्गच्छतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

सिद्धयन्तरमाह—

भा० वृ० —समस्त इन्द्रियों की वृत्ति भूमि में तुपकी अग्नि के समान एक संग प्रवर्धित होनवाली है वही वृत्ति को जीवन कहते हैं वही वृत्ति के क्रियाभेद से प्राणादिक सुदे सुदे नाम हैं । हृदय से मुख और नासिका के द्वारा वायु का चलाने के कारण प्राण नाम है नाभि से पैर के अंगूठे तक जिसकी गति है उसे अपान कहते हैं नाभि स्थान को वष्टित करके चारों ओर से जो जीवन शक्ति का ठीक रखती है उसे समान कहते हैं गले के भीतर जो कृच्छाटिका अर्थात् पाटी है उससे शिर तक जो गमन करता है और शक्ति को स्थिर रखता है उसे उदान कहते हैं व्यापक होने से वायु का नाम व्याम है । ध्यान में संयम करने से और उसके जीतने से मूलाधार के द्वारा उसकी गति को रोकने से

योगी जल में अर्थात् बड़ी बड़ी नदियों में वा महापंक में और शरीर को वेधने वाले काटों में भी नहीं फँसता है जल पर योगी ऐसे फिरता है जैसे रुई का ढेर तैरता हो ॥ ३६ ॥

सिद्ध्यन्तर का वर्णन करते हैं—

समानजयात्प्रज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

सू० प०—(समानजयात्) समान वायु को अपने वश में करने से (प्रज्ज्वलनम्) अधिक तेज होता है ॥४०॥

सू० का भा०—समान वायु का वश में करने से योगी का अधिक तेज होता है ॥ ४० ॥

व्या० भा०—जितसमानस्तेजसउपध्मानंकृत्वाज्वलति ॥ ४० ॥

भा० का प०—जीत लिया है समान वायु को जिसने वह योगी तेज की वृद्धि करके जाज्वल्यमान होता है ॥ ४० ॥

भा० का भा०—स्पष्ट है ॥ ४० ॥

३८—पूर्वसूत्रों में लिखी हुई सिद्धि योग का विधन है इस कारण से योगी लोग उनके फेर में नहीं पड़ते हैं किन्तु योगभ्रष्ट ही उनकी इच्छा करते हैं ॥ ४० ॥

भो० वृ०—अग्निनावेष्ट्य व्यवस्थितस्य समानाख्यस्य वायो-
र्जयात् सयमेन वशीकारान्निरावरणस्याग्नेरुद्भूतत्वाच्चेजसा प्रज्व-
लन्निव योगी प्रतिभाति ॥ ४० ॥

४ सिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—शरीर की अग्नि को घेर कर जो समान वायु रहती है उसको संयम से जीतकर अर्थात् अपने वश में करके योगी ऐसा तेजस्वी जान पड़ता है मानो अग्नि का पुञ्ज है ॥४०॥

और सिद्धि कहते हैं—

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमादिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४० ॥

सू० का पदार्थ—(श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्)
कर्ण इन्द्रिय और आकाश में संयम करने से (दिव्य
श्रोत्रम्) दिव्यभवण होता है ॥ ४१ ॥

सू० का भा०—कर्णोद्ग्रिय और आकाश में संयम करने से
दिव्यभवण अर्थात् दूर देश का भी भवण होता है ॥ ४१ ॥

व्या० भा०—सर्वश्रोत्रावाकाशप्रतिष्ठा सर्व-
शब्दानां च । यथोक्तम्—तस्य देशभवनानामेकदेशभुक्तिर्न
सर्वेषां भवतीति तच्चैतदाकाशस्य सिंगम् । अनावरसं-
शोक्तम् । तथाहि अमूर्तस्यावरवदशनाद्विशुत्वमपि प्रक्या
समाकाशस्य । शब्दग्रहणानुमित श्रोत्रम् । पधिरावधिरयो-
रेकः शब्दं गृह्णात्यपरो न गृह्णातीति । तस्माच्छ्रोत्रमेव
शब्दविषयम् । श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धे कृतसंयमस्य योगिनो
दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्तते ॥ ४१ ॥

भा० का प०—समस्त प्राणियों की कर्णोद्ग्रिय का आधार
आकाश है और सम्पूर्ण राज्यों का भी आधार आकाश ही है
ऐसा ही अम्यत्र भी कहा है । एक स्थान पर उक्तारित शब्दों का
का सुनना सर्वत्र पाया जाता है और यही आकाश का चिह्न है
अर्थात् बिना आकाश के शब्द का कर्ण इन्द्रिय में प्रवेश करना ही
असम्भव है और इसी से आकाश का आवरणरहितत्व भी सिद्ध
होता है जैसे ही जो पदार्थ अमूर्त अर्थात् स्पर्शरहित है उसकी सर्व-
व्यापकता भी प्रसिद्ध है किन्तु राज्य के महत्त्व करने का निमित्त

कर्ण ही है क्योंकि बहरा और सुननेवाला इन दोनों में से एक शब्द को ग्रहण करता है और दूसरा नहीं करता इसलिये कर्ण ही शब्द का विषय है कर्णेन्द्रिय और आकाश का जो सम्बन्ध है उसमें संयम करने से दिव्य श्रवण होता है ॥ ४१ ॥

भा० का भा०—सब की कर्णेन्द्रिय का आधार आकाश है और वह अमूर्त होने से व्यापक है यदि केवल आकाश ही से शब्द का सम्बन्ध होता तो बहिरे को भी शब्द सुनाई देता किन्तु ऐसा नहीं है इससे प्रतीत होता है कि शब्दग्रहण कर्णेन्द्रिय से होता है । कर्णेन्द्रिय और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से योगी को दिव्य श्रवण शक्ति हाती है ॥ ४१ ॥

भो० वृ०—श्रोत्रं शब्दग्राहकमाहङ्कारिकमिन्द्रियम् । आकाशव्योम शब्दतन्मात्रकार्यम् । तयोःसम्बन्धो देशदेशिभावलक्षणस्तस्मिन् कृत संयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्तते युगपत्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टशब्दग्रहणसमर्थं भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

सिद्धयन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—कर्णेन्द्रिय शब्द को ग्रहण करने वाली है, आकाश का जो तन्मात्र शब्द है उसके सम्बन्ध में संयम करने से योगी को दिव्य श्रोत्र प्राप्त होते हैं अर्थात् सूक्ष्मशब्द व्यवहित छिपे हुए और दूरके शब्दों को सुनने की शक्ति उत्पन्न होती है ॥ ४१ ॥

आगे और सिद्धि कहते हैं—

**कायाकाशयोः सम्बधसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेः
श्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥**

सूत्र का पदार्थ—(कायाकाशयोः) शरीर और आकाशके (सम्बन्धसंयमात्) सम्बन्ध में संयम करने से

(लघुत्वात्समापत्तेः) लघु अर्थात् इसके लई आदि पदार्थों की समापत्ति से (आकाशगमनम्) आकाश में गमन सिद्ध होता है ॥ ४२ ॥

सू० का भा०—शरीर और आकाश का जो परस्पर सम्बन्ध है उसमें संयम करने से और लघु पदार्थों के समर्थ परिज्ञान से योगी को आकाशगमन सिद्ध होता है ॥ ४२ ॥

व्या० भा०—यत्र कायस्तत्राकाशं तस्यावकाशदानात् कायस्य तेन सम्बन्धः प्राप्तिस्तत्र कृतसंयमो चित्वा तत्सम्बन्धं लघुषु सूत्रादिष्वापरमाणुस्यः समापत्तिं सम्भवाच्चित्तसम्बन्धो लघुर्मवति । लघुत्वान्ध अन्ते पादाभ्यां विहरति । तवस्त्वर्चनामितन्तुमात्रे विहस्य रश्मिषु विहरति ततो यथेष्टमाकाशगतिरस्य भवतीति ॥ ४२ ॥

भा० अ० प०—यहाँ २ शरीर दाया है वहाँ २ आकाश भी अवश्य होता है क्योंकि आकाश शरीर का अवकाश देने वाला है अर्थात् आकाश और शरीर का आधाराधेयभाव सम्बन्ध है इस हेतु से आकाश और शरीर का सम्बन्ध है उस सम्बन्ध में संयम करने वाला काया और आकाश के सम्बन्ध को छीटकर लघु आ लई आदि जिनमें ज्ञान प्राप्त करके गुरुता के सम्बन्ध को छीट कर योगी लघु हो जाता है लघु होने से पैरों से उस में बिहार करता है तस्यात् ऊर्ध्वनामितन्तु अर्थात् भकड़ी के आगे पर बिहार करता है तब योगी को निविज्ज आकाशगति होती ४२

भा० का भा० —आकाश और काया का जो आधाराधेय भाव सम्बन्ध है उसमें संयम करने से और लघु पदार्थों का पूर्ण

ज्ञान प्राप्त करने से योगी के शरीर की गुरुता नष्ट हो जाती है और उसके नष्ट होने से योगी जल के ऊपर गमनागमन कर सकता है फिर ऊर्णान्तु से किरणों पर विहार करने की शक्ति प्राप्त करके स्वच्छन्द आकाशगमन सिद्ध होता है ॥ ४२ ॥

भो० वृ०—कायः पाञ्चभौतिक शरीर तस्याकाशेनावकाशदा-
यकेन यः सम्बन्धस्तत्र संयम विधाय लघुनि तूलादौ समापत्ति
तन्मयी भावलक्षणा च विधाय प्राप्तातिलघुभावां योगी प्रथमं यथा-
रुचि जले सञ्चरन्क्रमेणोणनाभितन्तुजालेन सञ्चरमाण आदित्य-
रश्मिभिश्च विहरन् यथेष्टमाकाशेन गच्छति ॥ ४२ ॥

सिद्धयन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—पञ्चभौतिक शरीर को काया कहते हैं
उसका जो अवकाश देने वाले आकाश के साथ सम्बन्ध है उसमें
संयम और रुई आदि हल्की वस्तुओं की समानता में विशेष
भावना करके योगी प्रथम जल पर फिर मकड़ी के जाले पर
विहार करे पश्चात् सूर्य की किरणों पर विहार करके अपनी
इच्छानुसार आकाश में गमन कर सकता है ॥ ४२ ॥

आगे और सिद्धि कहते हैं—

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रका-
शावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

सूत्र का पदार्थ—(बहिरकल्पिता वृत्तिः) शरीर से
बाहर जो मनकी स्वाभाविक वृत्ति है (महाविदेहा) उसका
नाम महाविदेहा है (ततः प्रकाशावरणक्षयः) उसमें
प्रकाश के आवरण का नाश हो जाता ॥ ४३ ॥

सू० का मा०—मन की जो अकल्पित बाह्य वृत्ति है जिसको महा विवेकावृत्ति कहते हैं उसमें संयम करने से प्रकाश के आवरण का दूध हो जाता है ॥ ४३ ॥

व्या० मा०—शरीरादहिर्मनसो वृत्तिस्तस्या विवेका नाम धारणा । सा यदि शरीरप्रतिष्ठस्य मनसो बहिर्बुद्धि-मात्रेण भवति सा कल्पितेऽप्युच्यते । या तु शरीरनिरपेक्षा बहिर्भूतस्यैव मनसो बहिर्बुद्धिः सा सुखकल्पिता । तत्र कल्पितया साधयन्त्यकल्पिता महाविवेकमिति । यया परशरीराण्या विशन्ति योगिनः । ततश्च धारणातः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य यदावस्था फलेशकर्मविपाकत्रय रजस्तमोभूतं तस्य च दूयो भवति ॥ ४३ ॥

भा० का प०—शरीर से बाहर या मन की वृत्ति पात्र जाती है उस धारणा का नाम विवेका है शरीर में जो स्थिर मन है उसकी बाह्यवृत्ति मात्र से या होती है उस वृत्ति का नाम कल्पिता है और या शरीर की अपेक्षा न रखती हुई बहिर्भूत हुए मन की बाह्य वृत्ति है अकल्पित वृत्ति है । इन दोनों कल्पित और अकल्पित वृत्तियों में कल्पितवृत्ति द्वारा अकल्पित महाविवेका की साधना की जाती है जिसके द्वारा यागिजन पर शरीर में प्रविष्ट हाथ है उस महाविवेका धारणा से प्रकारा स्वरूप जो बुद्धि है अराक या आवरण क्लेशा कम और कम के फल हैं जो रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न हाथ हैं उस आवरण त्रय का नाश हो जाता है ॥ ४३ ॥

भा० का मा०—मन की दो प्रकार की वृत्ति बाह्य विषय में होती है एक कल्पित दूसरी अकल्पित । कम में से अकल्पित का महाविवेका वृत्ति कहते हैं या कल्पित वृत्ति के द्वारा स्थिर की

जाती है । जो योगियों का पर शरीर में प्रवेश होता है वह केवल इस वृत्ति का परिणाम है जब इस वृत्ति में योगी स्थिर होता है तब उसकी बुद्धि के आवरणत्रय क्लेश, कर्म और विपाक का क्षय होता है ॥ ४३ ॥

भो० वृ०—शरीराद्वहिर्या मनसः शरीरनैरपेक्ष्येण वृत्तिः सा महाविदेहा नाम विगतशरीराहङ्कारदाढ्यद्वारेणोच्यते । ततस्तस्या कृतात् संयमात् प्रकाशावरणक्षयः सात्त्विकस्य चित्तस्य यः प्रकाशस्तस्य यदावरणं क्लेशकर्मादि तस्य क्षयः प्रविलयो भवति । अयमर्थः—शरीराहङ्कारे सति या मनसो बहिवृत्तिः सा कल्पितेत्युच्यते । यदा पुनः शरीराहङ्कारभावं परित्यज्य स्वातन्त्र्येण मनसो वृत्तिः साः साऽकल्पिता, तस्या संयमाद्योगिन सर्वे चित्तमलाः क्षीयन्ते ॥ ४३ ॥

तदेवं पूर्वान्तविषयाः परान्तविषया मध्यभवाश्च सिद्धीः प्रतिपाद्यानन्तरं भुवनज्ञानादिरूपा बाह्याः कायव्यूहादिरूपा आभ्यन्तराः परिकर्मनिष्पन्नभूताश्च मैत्रादिषु बलानीत्येवमाद्याः समाध्युपयोगिनीश्चान्तःकरणबहिःकरणलक्षणेन्द्रियभवाः प्राणादिवायुभवाश्च सिद्धीश्चित्तादाढ्यात् समाधौ समाहवासोत्पत्ताये प्रतिपाद्येदानीं स्वदर्शेनोपयोगिमवीजनिर्वीजसमाधिसिद्धये विविधोपायप्रदर्शनायाह—

भो० वृ० का भा०—शरीर से बाहर शरीर के आश्रय की अपेक्षा न रखनेवाली जो मनकी वृत्ति है उसे महाविदेहा कहते हैं क्योंकि उससे अहकार का वेग दूर हो जाता है, उस वृत्ति में जो योगी संयम करता है उससे प्रकाश का ढक्कन दूर हो जाता है अर्थात् सात्त्विक चित्त का जो प्रकाश है उसको ढक्कने वाले अविद्यादि क्लेश और कर्म क्षय हो जाते हैं । अभिप्राय यह है कि जब तक शरीर का अहकार रहता है तब तक जो मन की बाह्य वृत्ति रहती है उसे कल्पिता कहते हैं । फिर जब शरीर के अहकार का

त्याग कर व्यवस्थामात्र से मन की वृत्ति बाहर रखती है उसे अक-
स्थिता कहते हैं उस अकस्थिता वृत्ति में संयम करने से योगी के
चित्त के मत सब दूर हो जात है ॥ ४३ ॥

उक्त प्रकार से पूर्वान्त विषय पराम्त विषय और सम्य भव
की सिद्धियों का वर्णन करके फिर सुबन्धनरूपादि बाह्य काव्य-
भ्यूह आदि आभ्यन्तर परिकल्प की सिद्धि करने वाले मैत्री आदि
से मैत्री आदि का वल वर्णन करके समाधि में सहायता देने वाले
अन्तःकरण और बाह्यकरण रूप इन्द्रियों के भावों का तथा
प्राणादि वायुभावों की सिद्धियों का चित्त की दृढ़ता का वर्णन
करके अब सबीख और निर्बीज समाधि सिद्धि के निमित्त विविध
भाति के उपायों का आग वर्णन करते हैं—

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजय ॥ ४४ ॥

सू० का प०—(स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमात्)
स्थूल गुण अर्थात् गन्धादि तत्त्व भूत सम्बन्धी परमाणुओं
का समूह सूक्ष्मन्वयार्थवत्त्व अर्थात् पञ्चतत्त्वों की तन्मात्रा
इनके संयम से (भूतजयः) भूतों का जय होता है ॥ ४४ ॥

सू० का मा०—पञ्च तत्त्व के गुण स्वरूप तथा तन्मात्रा में
संयम करने से भूतजय प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

तत्र पार्थिववायुः शब्दादयो विज्ञेयाः सहाकारादिभि
र्धम्मैः स्थूलशब्देन परिमायिताः । एतद्भूतानां प्रथमं रूपं
द्वितीयं रूपं स्वसामान्यं मूर्तिर्मूर्तिः स्नेहो वर्तु वह्निरुष्णता
वायुः प्रणामी सर्वतो गतिराकाशः इत्येतत् स्वरूपशब्देनोच्यते

अस्य सामान्यस्य शब्दादयो विज्ञेयाः । तथाचोक्तम्—

एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिरिति ।

सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र द्रव्यम् । द्विष्टो हि समूहः प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगतः शरीरं वृक्षो यूथं वनमिति, शब्देनोपात्तभेदावयवानुगतः समूह उभये देवमनुष्याः । समूहस्य देवा एको भागो मनुष्या द्वितीयो भागस्ताभ्यामेवाभिधीयते समूहः स च भेदामेदविवक्षितः । आम्नाणां वनं ब्राह्मणानां संघ आम्नवनं ब्राह्मणसंघ इति । स पुनर्द्विविधो युतसिद्धावयवोऽयुतसिद्धावयवश्च । युतसिद्धावयवः समूहो वनं संघ इति । अयुतसिद्धावयवः संघातः शरीरं वृक्षः परमाणुरिति । अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः । एतत् स्वरूपमित्युक्तम् । अथ किमेषां सूक्ष्मरूपं तन्मात्रं भूतकारणं तस्यैकोऽवयवः परमाणुः सामान्यविशेषात्माऽयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समुदाय इत्येव सर्वतन्मात्राणि एतत्तृतीयम् । अथ भूतानां चतुर्थं रूपं ख्यातिक्रियास्थितिशीलाः गुणाः कायस्वभावानुपातिनोऽन्वयशब्देनोक्ताः । अथैषां पंचमं रूपमर्थवत्त्वं भोगापवर्गार्थता गुणेष्वेवान्वयिनी, गुणास्तन्मात्रभूतभौतिकेष्विति सर्वमथवत् । तेष्विदानीं भूतेषु पंचसु पञ्चरूपेषु संयमात्तस्य तस्य रूपस्य स्वरूपदर्शनं जयश्च प्रादुर्भवति । तत्र पञ्चभूतस्वरूपाणि जित्वा भूतजयो भवति तज्जयाद्वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य संकल्पानुविधायिन्यो भूतप्रकृतयो भवन्ति ॥ ४४ ॥

भा० का प०—पृथ्वी आदि के शब्दादि विशेष गुण पृथ्वी आदि आकाशदि धर्म के साथ युक्त होने से स्पष्ट कह बात है तत्त्वों का यह प्रथम रूप है तत्त्वों का द्वितीय रूप सामान्य है अर्थात् पृथ्वी की मूर्ति, जल का स्नेह, अग्नि का दाह और प्रकाश वायु का वहन और आकाश का विस्तृत ये सब स्वरूप शब्द से गृहीत होते हैं उक्त सामान्य रूप के शब्दादि विशेष रूप हैं ऐसा कहा भी है य पंच भूत एक जाति अर्थात् भूतत्त्व गुण से एक हैं परन्तु अम्य धर्मों से भिन्न हैं सामान्य और विशेष का समुदाय ही द्रव्य है समूह दो प्रकार का है एक जिसमें भेद की उपलब्धि न हो जैसे शरीर, पृथ्वी, यून और वन है इनमें अवयव सामान्य द्रव्य और विशेष है । दूसरा शब्द के कथन से अवयवगत समूह भेद समझ साता है जैसे देव और मनुष्यों का एक समुदाय कथन से बोध होता है कि इस समुदाय के देवता साग एक भाग हैं और मनुष्य दूसरा भाग है । इन दोनों से समूह कहलाता है और वह भेद और अभेद की विवक्षा रखता है । जैसे आम के वृक्षों का वन प्राणियों की समग्र वह फिर दो प्रकार का है पहले के वृक्ष हरण वन और संघ है दूसरे के ज्वाहरण शरीर, बुद्ध और परमाणु हैं । एक युतसिद्धावयव दूसरा अयुतसिद्धावयव । पार्तवसूक्त आदि के मत में अयुत सिद्धावयव को ही द्रव्य कहते हैं इनका सूक्ष्म रूप क्या है ? तन्मात्राओं का जो भूत कारण है वह सूक्ष्म रूप है उसका एक अवयव परमाणु कहलाता है । (सामान्य-विशेषात्माऽयुतसिद्धावयवभेदासुक्तः समुदायः) सामान्य और विशेषरूप अयुतसिद्धावयव भेदानुगतसमुदाय पञ्चतत्त्व का तन्मात्र इनका तीसरा रूप है तत्त्वों का चतुर्थ रूप क्याति प्रकाश क्रिया और स्थिति स्वभाववासे गुण है । तत्त्वों का पाचवाँ रूप धर्म यथा है माग और मादरूप चित्तन धर्म हैं व सब तत्त्वों के गुणों

से सम्बन्ध रखते हैं गुण तत्वों के तन्मात्रों से सम्बन्ध रखते हैं इस क्रम से सब में अर्थवत्ता है पंचभूत औह उनके पाचरूपों में संयम करने से उस उस रूप का दर्शन होता है और उसमें जय लाभ होता है पंचभूतों के स्वरूपों का जोतकर तत्वों की जय होती है भूतजय से प्रकृति ऐसी दयालु होती है जैसे गौ अपने बच्चे को प्रेम से दूध देती है ॥ ४४ ॥

भा० का भा०—पंचतत्वों के पाच प्रकार के रूप हैं उनमें संयम करने से समस्तभूतप्रकृति योगी की इच्छा को पूर्ण करने करने वाली हो जाती है जैसे गौ अपने बच्चे की इच्छा पूर्ण करने वाली होती है ॥ ४४ ॥

भो० वृ०—पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानां ये पञ्चावस्था विशेषरूपा धर्माः स्थूलत्वादयस्तत्र कृतसंयमस्य भूतजयो भवति । भूतानि अस्य वश्यानि भवन्तीत्यर्थः तथा हि भूतानां परिदृश्यमानं विशिष्टाकारवत् स्थूलरूपं स्वरूपश्चैषा यथाक्रमं कार्यं गन्धस्नेहोष्णताप्रेरणामकाशदानलक्षणं कारणत्वेन व्यवस्थितानि गन्धादितन्त्राणि । अन्वयिनो गुणाः प्रकाश प्रवृत्तिस्थितिरूपतया सर्वत्रैवान्वयित्वेन समुपलभ्यन्ते । अर्थवत्त्वं तेष्वेव गुणेषु भोगापवर्गसम्पादनाख्या शक्तिः । तदेवं भूतेषु पञ्चसूक्तलक्षणावस्थाभिन्नेषु प्रत्यवस्थं संयमं कुर्वन् योगी भूतजयी भवति । तद्यथा प्रथमं स्थूलरूपे संयमं विधाय तदनुसूक्ष्मरूपे इत्येवं क्रमेण तस्य कृतसंयमस्य संकल्पार्थविधायिन्यो वत्सानुसारिण्य इव गावो भूतप्रकृतयो भवन्तीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

तस्यैव भूतजयस्य फलमाह—

भो० वृ० भा०—पृथिवी आदि पंचभूतों की जो पाच स्थूल आदि विशेष अवस्था हैं उनमें संयम करने से योगी को भूतजय प्राप्त होता है अर्थात् भूत (तत्व) योगी के वश में हो जाते हैं

भूतों का प्रत्यक्ष हीसत्ता विशेष स्वरूप इन भूतों के क्रमशः काय्य गन्ध आदिक और स्वरूप के कारण तन्मात्रा इसके सम्बन्धी गुण जो प्रकाश प्रबल और स्थिति रूप से सब भूतों में पाये जाते हैं भूतों की अर्धवशात् तत्त्वों में आ भाग और मोक्ष साधन की शक्ति रखी है इस प्रकार से पंचभूतों की अवस्थाओं का जानकर आ योगी इनमें स्वामी करता है जैसे योगी को भूतों की प्रकृति पत्नी इष्ट फल देने वाली होती है जैसे गो अपनी बछड़े को दुग्ध देती है ॥ ४४ ॥

आगे मूत्रत्रय का फल कहते हैं—

ततोऽपिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मा
नभिघातश्च ॥ ४५ ॥

सू० का प०—(ततः) इसके अनन्तर (अपिमा-
दिप्रादुर्भावः) अपिमादि सिद्धिओं का प्रकाश (का
यसम्पत्) शरीर सम्बन्धी सध सम्पत्ति प्राप्त होती है (च)
और (तद्धर्मानभिघातः) शरीर के गुणों का नाश नहीं
होता ॥ ४५ ॥

सू० का भा०—मूत्रत्रय के अनन्तर (योगी का) अपिमादि
सिद्धिओं की प्राप्ति और शारीरिक सम्पत्ति का विकास होता है
और शारीरिक गुण अविनाशी हो जाते हैं ॥ ४५ ॥

व्या० भा० तत्रापिमा मयस्यसुः । त्रिमा सधुर्म
वति । तदिमा महान् भवति । प्राप्तिरक्षुस्यप्रेयापि स्पृशति
घन्मससम् । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । भूमाधुन्मन्वति

निमज्जति यथोदके वशित्वं भूतभौतिकं वशो भवत्यवश्य-
 श्रान्येषाम् । ईशित्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे यत्र
 कामावसायित्वं सत्यसंकल्पता यथा संकल्पस्तथ न भूतप्रकृ-
 तीनामस्थानम् । न च शक्तोऽपि पदार्थं विपर्यासंकरोति
 कस्मात् अन्यस्य ! यत्र कामावसायिनः पूर्वसिद्धस्य तथा
 भूतेषु संकल्पादिति एतान्यष्टावैश्वर्याणि कायसम्पद्वक्ष्य-
 माणा तद्धर्मानभिघातश्च पृथ्वी मूर्त्या न निरुणद्धि योगिनः
 शरीरादिक्रियां शिलामप्यनुविशतीति नापः स्निग्धाः
 चलेदयन्ति नाग्निरुष्णो दहति न वायुः प्रणामी वहति
 अनावरणात्मकेऽप्याकाशे भवत्यावृतकायः सिद्धानामप्य-
 दृश्यो भवति ॥ ४५ ॥

भा० का प०—अणिमा सिद्धि वह है जिससे योगी अणु के
 समान सूक्ष्म हो जाता है लघु होने से लघिमा कहते हैं जिस
 सिद्धि के द्वारा महान् होता है उसे महिमा कहते हैं, प्राप्ति सिद्धि
 उसे कहते हैं जिससे योगी आकाशगामी चन्द्रलोक को भी स्पर्श
 कर सकता है प्राकाम्य सिद्धि उसे कहते हैं जिससे योगी की इच्छा
 पूर्ण होती है पृथ्वी में इस रीति से द्रवता है जैसे जल में पचभूत
 और समस्त भौतिक पदार्थ उसके वश में हाते हैं और वह किसी
 के वश में नहीं रहता है इस सिद्धि को वशित्व कहते हैं, ईशित्व
 सिद्धि वह है भूत भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति, प्रलय और स्थिति
 में समर्थ जहाँ इच्छा का अन्त हो, वहाँ तक इच्छानुसार प्रकृति
 की स्थिति होती है समर्थ होने पर भी योगी पदार्थों को चूटा
 पुटा अर्थात् सृष्टिक्रम विरुद्ध नहीं करता है क्योंकि और लोगों

की इच्छाभङ्ग रूप योग का भय रहता है ये आठ ऐश्वर्य या सिद्धि हैं अगले सूत्र में जो कही जायगी उन्हें कायसम्पत् कहते हैं तदुन्मोहनिमित्त का अर्थ यह है कि योगी की शारीरिक क्रियाओं को काय्यरूप पूछी नहीं जा सकती कठोर पापाय में भी योगी प्रवृत्त कर सकता है, अन्न उसको भिगो नहीं सकता अग्नि भी योगी को नहीं जला सकता, न इवा सुखामे बासी पड़ती है जो आकाश किसी का नहीं छिपाता अन्तर्में योगी का शरीर छिप जाता है अर्थात् योगी सिद्धों के नेत्रों से भी अदृश्य हो जाता ॥ ४५ ॥

भा० का भा०—महर्षि के अन्तर्गत योगी को अष्टिमात्र सिद्धियों की प्राप्ति होती है—अष्टिमा से अणु और अष्टिमा से अणु महिमा से महान् होता है प्राप्ति से योगी की वह शक्ति बढ़ती है जिससे योगी अम्बुजा की अंगुली से स्पर्श कर सकता है अर्थात् पूर्व जो आकाश गमन कहा था उसके द्वारा ही योगी अत्रस्त्य-शक्ति कठिनतर काय्य कर सकता है। प्राकाम्य का अर्थ है कि इच्छा पूरी होना, अशित्व वह सिद्धि है जिससे प्राप्तिमात्र बरा में में हा खींच और आप किसी के बरा में न रह (यहाँ बरा होने से रावदादि का प्रयोजन नहीं है) अशित्व का अर्थ है कि प्राप्ति की उत्पत्ति समय और स्थिति को जानता है योगी के संकल्प के अनुकूल ही पदार्थ हा जाता है। परन्तु इसमें शंका होती है कि जो योगी को पदार्थों के अन्न पुष्ट करने की शक्ति होती है तो इस अन्न के पदार्थों से विपर्यय क्यों नहीं करता? इसका समाधान यह है कि योगी समर्प होने पर भी नियम विरुद्ध काय्य नहीं करता सब सिद्धों का सिद्ध परम योगी परमेश्वर है उसके संकल्प में विघ्न होगा जो सर्वथा असम्भव है ॥ ४५ ॥

भा० ४०—अष्टिमा परमाणुरूपतापत्तिः। महिमा महत्त्वम्।

लघिमा लघुत्वं तूलपिण्डवल्लघुत्वप्राप्तिः । गरिमा गुरुत्वप्राप्तिः
अद्भुतत्वप्रेण चन्द्रादिस्पर्शनशक्तिः । शरीरान्तः करणेश्वरत्वमी-
शित्वम् । सर्वत्र प्रभविष्णुता वशित्वं, सर्वाण्येव भूतानि अनुगामि-
त्वात्तदुक्तं नातिक्रामन्ति । यत्र कामावसायो यस्मिन् विषयेऽस्य
कामः स्वेच्छाभवति तस्मिन् विषये योगिनोऽध्यवसायो भवति तं
विषयं स्वीकारद्वारैणाभिलाषसमाप्तिपर्यन्तं नयतीत्यर्थः । त ए
तेऽणिमाद्याः समाध्युपयोगिनीभूतजयाद्योगिनः प्रादुर्भवन्ति । यथा
परमाणुत्वं प्राप्तो वज्रादीनामप्यन्तः प्रविशति । एवं सर्वत्र योज्यम् ।
एतेऽणिमादयोऽष्टौ गुणा महासिद्धय उच्यन्ते । कायसम्पद्वद्भ्यमाणा
तां प्राप्नोति । तद्वर्मानभिघातश्च तस्य कायस्य ये धर्मा रूपादयस्-
तेषामनभिघातो नाशो न कुतश्चित् भवति । नास्य रूपमग्निर्दहति न
वायुः शोषयतीत्यादि योज्यत् ॥ ४५ ॥

कायसम्पदमाह—

भो० वृ० का भा०—अणिमा का अर्थ है कि पपमाणुवत् सूक्ष्म
हो जाना, महिमा का अर्थ महान् होना, लघिमा का अर्थ लघु या
हलका होना है, गरिमा का अर्थ गुरुत्व वा भारीपन की प्राप्ति,
प्राकाम्य का अर्थ इच्छा की पूर्ति है, ईशित्व का अर्थ शरीर और
अन्तःकरण पर प्रभुता की प्राप्ति अर्थात् इनको अपने वश में कर
लेना । सबको अपने वश में कर लेना अर्थात् कोई प्राणी इसके
वचन का उल्लंघन नहीं कर सकता है । यर्थात् जिस विषय की
योगी इच्छा करता है वही विषय योगी को प्राप्त होता है । कहीं
भी योगी की इच्छा का अभिघात नहीं होता, इन अणिमादिक के
समाधि में उपकारक होने से योगी को भूतजय प्राप्त होता है जैसे
अणु होने से अत्यन्त कठोर बज्र में भी योगी प्रवेश कर सकता है
ऐसे ही और सिद्धियों में भी समझना चाहिये, यह अणिमादि
आठ महासिद्धि कहलाती हैं इनके पश्चात् कायसम्पत् जिनका

ब्रह्मण आगे होगा उनकी प्राप्ति होती है इसके पश्चात् शरीर के वो रूपादि गुण हैं जिनका कहीं नाश नहीं होता अर्थात् योगी का शरीर अग्नि में नहीं बलता, वायु में नहीं सूखता ऐसे ही अन्यत्र भी सम्पन्ना ॥ ४५ ॥

काया की सम्पत्तियों का वर्णन करते हैं—

रूपज्ञावप्यबलवज्रसहननत्वानि कायसंपत् ॥४६॥

सू० का प०—स्पष्ट है ॥ ४६ ॥

सू० का मा —रूप में मनोहरता बल में वज्रसहनन अर्थात् वज्रादिके समान अप्रक्षेय होना यह कायसम्पत् कहलाती है ॥४६॥

व्या० दे० कु० मा०—दर्शनीयः कान्तिमान् अतिशय यत्नः वज्रसहननश्चेति ॥ ४६ ॥

मा० का प०—मनोहर रूपवाम् वज्रस्वी अधिक बल वाता वज्र के समान अप्रक्षेय होता है ॥ ४६ ॥

मा० का मा०—स्पष्ट है ॥ ४६ ॥

मा० कु०—रूपज्ञावप्यबलानि प्रसिद्धानि वज्रसहननत्वं वज्रवत् कठिना संहतिरस्य शरीरं मयतीत्यर्थः । इति कायस्य आधिभूत-गुणसम्पत् ॥ ४६ ॥

एवं भूतत्रयमभिधाय प्राप्तभूमिकायामिन्द्रियत्रयमाह—

मा० सू० का मा —रूप और लावण्य (सन्तानापन वा मनोहरता) प्रसिद्ध है वज्र सहननत्व का अर्थ यह है कि वज्र के समान योगी का कठार शरीर हो जाता है यही काया की प्रत्यक्ष सम्पत्ति है ॥ ४६ ॥

भूतत्रय का वर्णन करके अब योगी का भूमि प्राप्त हो जाती है तब इन्द्रियों में अर्थ प्राप्त होता है इसका वर्णन आगे करते हैं ।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः

सू० का प०—(ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंय-
मात्) ग्रहण अर्थात् जिनसे पदार्थ ज्ञान होता है इन्द्रिय,
स्वरूप—अर्थात् बुद्धि अस्मिता—अहंकार, इन्द्रियों के गुण
और वासना इन पाँचों में संयम करने से (इन्द्रियजयः)
इन्द्रियों वश में होती हैं ॥ ४७ ॥

सू० का भा०—इन्द्रिय, बुद्धि, अहंकार, गुण और वासना में
संयम करने से योगी की ममस्त इन्द्रियों वश में हो जाती हैं । ४७।

व्या० भा०—सामान्यविशेषात्मा शब्दादिग्राह्यः ।
तेष्विन्द्रियाणां वृत्तिर्ग्रहणम् । नच तत्सामान्यमात्रग्रहणा-
कारङ्कथमनालोचितः सविषयविशेष इन्द्रियेण मनसाऽनुव्य-
वसीयेतेति । स्वरूपं पुनः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य सामा-
न्यविशेषयोरयुतसिद्धावयवभेदानुगतःसमूहो द्रव्यमिन्द्रियम्
तेषां तृतीयं रूपमस्मितालक्षणोऽहंकारः । तस्य सामान्य-
स्येन्द्रियाणि विशेषाः । चतुर्थं रूपं व्यवसायात्मकः प्रका-
शक्रियास्थितिशीला गुणा येषामिन्द्रियाणि साहङ्कराणि
परिणामः । पञ्चमं रूपं गुणेषु यदनुगतं पुरुषार्थवत्त्वमिति ।
पञ्चस्वेतेष्विन्द्रियरूपेषु यथाक्रमेण संयमस्तत्र तत्र जयं कृत्वा
पञ्चरूपजयादिन्द्रियजयः प्रादुर्भवति योगिनः ॥ ४७ ॥

भा० का प०—सामान्य और विशेषरूप से शब्दादिक जितने
विषय हैं सब ग्राह्य हैं उन ग्राह्य विषयों में जो इन्द्रियों की वृत्ति

जाती है उस वृत्ति को ग्रहण करते हैं परन्तु वह वृत्ति सामान्य ग्रहणाकार नहीं है जिस २ रीति से विना विचार विषय वा मन इन्द्रियों से गृहीत हो सकता है इससे प्रथम जो ग्रहण द्वारा विषय गृहीत होता है वह प्रथम स्वरूप भूतों का क्लृप्ताता है और मन द्वारा जो विचार होता है वह द्वितीयरूप है फिर ज्ञान स्वरूप का वृत्ति वह तृतीय रूप है अहंकार चतुर्थ रूप है अमक कर्मों में व्यस्त प्रकाश करनवाले और स्थिर स्वभाव वाले जिनके अहंकार सहित सब इन्द्रियों काय है वह इन्द्रियों का पञ्चम रूप है गुणों के संग जो पुरुषार्थता अर्थात् ल्योग है इन्द्रियों के पाँचों रूपों में अथ करने से इन्द्रियों का अथ लाभ होता है ॥ ४७ ॥

मा० का भाषार्थ—इन्द्रियों के जो ५ प्रकार के रूप अर्थात् ग्रहण स्वरूप अस्मिता अन्वय और अर्थवरण उनमें स्वयं करके योगी को सचित है कि समाधि से अवलम्ब अर्थात् उनको अपम कर में करके समस्त इन्द्रियों को जीते ॥ ४७ ॥

भो० पु०—ग्रहणमिन्द्रियाणां विषयानिमुक्ती वृत्तिः । स्वरूपं सामान्येन प्रकाशकस्वम् । अस्मिता अहङ्कारमुगमः । अन्वयार्थेन स्वे पूर्ववत् । एतानिन्द्रियाणामवस्थापञ्चके संयमे कृत्वा इन्द्रिय जयी भवति ॥ ४७ ॥

तस्यफलमाह—

भो० पु० का मा०—इन्द्रियों की जो विषयों की ओर प्रवृत्ति होती है उसे ग्रहण करते हैं स्वरूप का अर्थ सामान्यता से प्रकाश करना है अस्मिता का अर्थ अहंकार है अन्वय और अर्थवरण पहल कहे गये । इन्द्रियों की इन पाँच अवस्थाओं से पूर्ववत् क्रम से संयम करने से योगी का त्रितेन्द्रियत्व प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

इन्द्रिय जय का फल कहते हैं—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च । ४८

सू० का प०—(ततः) इन्द्रिय जय के अनन्तर (मनोजवित्वम्) उत्तम गति (विकरणभावः) इन्द्रियों के अनुकूल वृत्ति की प्राप्ति (प्रधानजयश्च) और प्रकृति के सब विकार वश में होते हैं ॥ ४८ ॥

सू० का भा०—इन्द्रियजय विकरणभाव और प्रधानजय होता है ॥ ४८ ॥

व्या० दे० का भा०—कायस्यानुत्तमो गतिलाभो मनोजवित्वम् विदेहानामिन्द्रियाणामभिप्रेतदेशकालविषयापेक्षो वृत्तिलाभो विकरणभावः । सर्वप्रकृतिविकारवशित्वं प्रधानजय इत्येतास्तिस्त्र सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते एताश्च करणपञ्चकरूपजयादधिगम्यन्ते ॥ ४८ ॥

भा० का प०—शरीर की उत्तम गति का प्राप्त होना मनोजवित्व कहलाता है देहरहित अर्थात् अन्तर्बृत्तिवाली इन्द्रियो का जो इष्टस्थल समय और विषय की वृत्ति है उसकी प्राप्ति का विकरणभाव कहते हैं प्रकृति के विकारों के जीतने को प्रधानजय कहते हैं यह तीनों सिद्धियों मधुप्रतीक कहलाती हैं यह तीनों सिद्धि पूर्वोक्त करण अर्थात् ग्रहण पञ्चक के जीतने से होती हैं ॥ ४८ ॥

भो० का भा०—काया की उत्तम गति मनोजवित्व कहलाती है इन्द्रियो की इष्ट गति प्राप्ति का विकरणभाव और प्रकृति विकारों के जीतने को प्रधान जय कहते हैं इन तीनों सिद्धियों का नाम मधु प्रतीका है यह पूर्वोक्त पाँच करण के जय से प्राप्त होती है ४८

भो० वृ०—शरीरस्य मनोवदनुत्तमगतिलाभो मनोजवित्वम् ।

अयनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणां वृत्तिनामा विकरणमायः । सर्ववर्तिस्व
प्रधानत्रयः । एताः सिद्धया चित्तमिन्द्रियस्य प्रादुर्भवन्ति । ताभ्यास्मिन्म
शास्त्रे मधुप्रतीक इत्युच्यन्ते । यथा मधुन एकदेशोऽपि स्वयत्
एवं प्रत्यक्मेताः सिद्धयः स्वयन्त इति मधुप्रतीकाः ॥ ४८ ॥

इन्द्रियत्रयमभिधायान्तःकरणत्रयमाह—

भा० पू० का भा०—मन की गति के समान शरीर में भी
उत्तम गति की प्राप्ति का समाश्रित्य करते हैं शरीर के सम्बन्ध
को त्याग कर आ इन्द्रियों की वृत्ति का पाना। वास्तव विकरण भाव
कहत हैं सबके परा करने वास्तव का प्रधानत्रय कहते हैं । इन्द्रियों
का जीवन वास्तव योगी का यह सब सिद्धि प्राप्त होती है, इन सब
सिद्धियों का याग वर्णन में मधुप्रतीक लिखा है जैसे मधु (शास्त्र)
स्वायत् देता है एसे ही हममें से प्रत्यक् सिद्धि स्वायत् देती है इसी
कारण यह मधुप्रतीक कहलाती है ॥ ४८ ॥

इन्द्रियों की सब का वर्णन करके अन्तःकरण की सब का
वर्णन करते हैं—

सत्त्वपुरुषान्यतास्यातिमात्रस्य सर्वभावाधि
ष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

पू० का प०—(सत्त्वपुरुषान्यतास्यातिमात्रस्य)
सत्त्व ओ बुद्धि वह सब निर्मल होकर केवल परमेश्वर के
चिन्तन ही में लय हो तो उस योगी को (सर्वभावाधिष्ठा
तृत्वं) चितने भाव अर्थात् गुण हैं वे सब प्राप्त होते हैं
(सर्वज्ञातृत्वं च) और सब गुणों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त
होता है ॥ ४९ ॥

सू० का भा०—जब योगी की बुद्धि सब विषयों के त्याग से निर्मल होकर केवल ईश्वर चिन्तन में लय होती है तब उसे सर्व-भावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

व्या० दे० का भा०—निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धि-सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वम् । सर्वात्मानो गुणा व्यवसायव्यवसेयात्मकाः स्वामिनं क्षेत्रज्ञं प्रत्यशेषदृश्यात्मत्वेनोपस्थिता इत्यर्थः । सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मनां गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपाकृतं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः । इत्योषा विशोका नाम सिद्धिः यां प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेश-बन्धनो वशी विहरति ॥ ४६ ॥

भा० का प०—धोये गये हैं रजोगुण और तमोगुण के मल जिस सत्त्वगुण विशिष्ट बुद्धि के परम विशारद वशीकार संज्ञा में वर्तमान योगी को सर्व भावों में स्वामीपन प्राप्त होता है अर्थात् आत्मा के व्यवसाय और व्यवसेयात्मक जितने गुण हैं वे सब अपने स्वामी क्षेत्रज्ञ को दृश्यपन से प्राप्त होते हैं सर्वज्ञता का अर्थ यह है कि आत्मा के शान्त व्यापार रहित, उदित सचेष्ट और अव्यपदेश्य—अनिवर्चनीय जितने गुण हैं उनका क्रम रहित विवेक से उत्पन्न हुआ जो ज्ञान उसी का नाम सर्वज्ञता है । यह विशोका नाम सिद्धि है जिसको पाकर योगी सर्वज्ञ बन्धन रहित जितेन्द्रिय होकर विचरता है ॥ ४६ ॥

भा० का भा०—जब बुद्धि निर्मल होती है और योगी केवल

इश्वर के चिन्तन में तत्पर रहता है तब योगी को सर्वभाषाविष्ट-
तुल्य अर्थात् आत्मा के समस्त गुणों में स्वामिभाव प्राप्त होता
है और सर्वज्ञता अर्थात् आत्मा के समस्त गुणों के द्वारा विवेक
की उत्पत्ति और उससे सत्य ज्ञान की प्राप्ति होती है । इस सिद्धि
का नाम विशोक्य है और इसकी प्राप्ति से यागी सर्वज्ञ और
वम्बनरहित होकर विचरता है ॥ ४६ ॥

भा० ५०—तस्मिन् शुद्धे सात्त्विक परिणामे कृतसंयमस्य या
सत्त्वपुरुषयोरुत्पद्यत विवेकस्यातिगुणानां कर्तृ स्वामिमानयिबिन्ती
भावरूपा तन्माहात्म्यात् तत्रैव स्थितस्य योगिनः सर्वभाषाविष्टा-
तुल्यं सर्वज्ञातुल्यं च समावेर्भवति । सर्वेषां गुणपरिणामानां भावानां
स्वामिब्रह्ममयं सर्वभाषाविष्टातुल्यं तेषामेव च शास्त्रोदिताभ्यप-
देश्यधर्मित्वनावस्थितानां यथापद्विवेकज्ञानं सर्वज्ञातुल्यमयं वा-
स्मिन् शास्त्र परस्यां करीकारसंज्ञायाम् प्राप्तायाम् विशोक्य नाम
सिद्धि रित्युच्यते ॥ ४६ ॥

क्रमेण भूमिकाम्तरमाह—

भा० ५० का०—उस विज्ञानरूप सात्त्विक परिमाण से संयम
करम से जो सत्त्व और पुरुष का विवेक उत्पन्न होता है उसे अभ्य-
तात्माति कहते हैं । अंतःकरण के गुणों की जो कर्तृत्व अभिमान
की शिथिलता है उसमें संयम करने से योगी का सर्वाविष्टातुल्य
सर्वज्ञातुल्यरूप समाधि होती है । सर्वाविष्टातुल्य का अर्थ यह है
कि गुणों के बिलकुले परिणाम हैं उनके स्वामीपन को प्राप्त कर लमा,
कभी गुणों के जो शास्त्र उचित और अभ्यपदेश्य धर्म हैं उनमें
का यथार्थ विवेक ज्ञान होता है उसका सर्वज्ञातुल्य कहते हैं अब
इन्को योगी प्राप्त कर लेता है तब यह सिद्धि विशोक्य कही जाती
है ॥ ४६ ॥

आगे दूसरी भूमिका कहते हैं—

तद्वैराग्यादपिदोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥५०॥

सू० का प०—(तद्वैराग्यादपि) उक्त सिद्धियों के वैराग्य से (दोषबीजक्षये) दोषों के बीज नाश हो जाने से (कैवल्यम्) कैवल्य-मोक्ष होता है ॥ ५० ॥

सू० का भा०—सिद्धियों के वैराग्य से जब दोषों का बीज नष्ट हो जाता है तब योगी कैवल्य को प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

व्या भा०—यदास्यैवं भवति क्लेशकर्मक्षये सत्त्वस्यायं विवेकप्रत्ययो धर्मः सत्त्वश्च हेयपक्षे न्यस्तम्, पुरुषश्चापरिणामी शुद्धोऽन्यः सत्त्वादिति । एवमस्य ततो विरज्यमानस्य यानि क्लेशबीजानि दग्धशालिवीजकल्पान्यप्रसवसमर्थानि तानि सह मनसा प्रत्यस्तं गच्छन्ति । तेषु प्रलीनेषु पुरुषः पुनरिदं तापत्रयं न भुङ्क्ते, तदेतेषां गणानां मनसि कर्मक्लेशविपाकस्वप्नेणाभिव्यक्तानां चरितार्थानां प्रतिरूपसत्त्वे पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः, कैवल्यं, तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति ॥ ५० ॥

भा० का प०—जब योगी को ऐसा होता है क्लेश रूपी कर्मों के नाश होने से बुद्धि का विवेक ज्ञान रूपी धर्म सत्त्व को हेयपक्ष में रखकर पुरुष को अपरिणामी और शुद्ध तथा बुद्धि से भिन्न समझता है ऐसा मानकर योगी जब जगत् से उपरत होता है तब उसके सब क्लेशों के बीज ऐसे हो जाते हैं जैसे जले हुए धानों के बीज फिर उत्पन्न होने के योग्य नहीं रहते । तब मनके अर्थात् संकल्प विकल्प सहित अस्त होजाने से मनुष्य फिर आधिभौतिक

आधिवैषिक और आध्यात्मिक दुन्नों में नहीं फँसता । उक्त गुण वा मनमें क्लेश कर्म और क्लेशफल के रूप से रहते हैं वर्य यीश्व हा ज्ञान से पुरुष का गुणों से अस्यन्त वियाग हो जाता है इस अवस्था का कैवल्य, स्वरूप प्रतिष्ठ वा चितिशक्ति कहते हैं ॥५०॥

भा० का भा०—अथ योगी का विषयप्रत्यय अथात् विषय ज्ञान होता है तब योगी का कैवल्य प्राप्त होता है अथात् जब योगी विषय ज्ञान का लाभ करके जगत् से उपरत होता है तब उसका कैवल्य प्राप्त होता है तब योगी के चित्तन क्लेश कर्म और विषय हैं वे सब ऐसे वर्ययीश्व हा जाते हैं जैसे जला हुआ अन्न पक्ष्म ज्ञान योग्य नहीं रहता तब इससे संस्कारादि सब चिन्त हा जाते हैं और तापत्रय भी नहीं रहते ॥ ५० ॥

भा० पु०—एतस्यामपि विद्याकार्या सिद्धौ यदा वैराग्यमुत्पद्यत पागिनस्तदा तस्मादापाणा रागादीनां यद्वीजमविद्याइवस्तस्य ध्ये निमृक्षन कैवल्यमास्यन्ति की दुःखनिवृत्तिः पुरुषस्य गुणानामपि कार परिसमाप्तौ स्वरूपनिष्ठकम् ॥ ५० ॥

अस्मिन्नथ समाधौ स्थिरयुगायमाह—

भा० पु० का भा०—अथ विद्याया सिद्धि प्राप्त योगी को वैराग्य उत्पन्न होता है तब रागादि वापों की बीज रूप वा अविद्या है उसका नाश हा ज्ञान से आ कैवल्य अथात् दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति है यह प्राप्त होती है और पुरुष गुणों के अधिभूतों का समाप्त करके स्वरूपनिष्ठ हा जाता है ॥ ५१ ॥

इस कैवल्य समाधि में स्थिर ज्ञान का ज्ञाप कहते हैं—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सगस्मयाकरणा पुनरनि-
ष्टप्रसगात् । ५१ ॥

सू० का प०—(स्थान्युपनिमन्त्रणे) स्थानी अर्थात् योग की भूमिकाओं में स्थिर होने पर भी (संगस्मया-करणम्) संग और अहंकार नहीं करना चाहिये (पुनर-निष्टप्रसंगात्) फिर भी अनिष्ट अर्थात् दुःखप्रद सांसारिक विषय होते हैं ॥ ५१ ॥

सू० का भा०—योग भूमिकाओं में स्थिर होने पर भी सगादि दोष से योगी को अनिष्ट की प्राप्ति होती है ॥ ५१ ॥

व्या० दे० कु० भा०—चत्वारः खण्वमी योगिनः प्राथमकल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्चेति तत्राम्यासी प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः । ऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः । भूतेन्द्रियजयी तृतीयः । सर्वेषु भावितेषु भावनीयेषु कृतरक्षाबन्धः कर्तव्यसाधनादिमान् । चतुर्थो यस्त्वतिक्रान्त-भावनीयस्तस्य चित्तप्रतिसर्ग एकोऽर्थः सप्तविधास्य प्रान्त-भूमिप्रज्ञा ।

तत्र मधुमतीं भूमि साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते भो इहा-स्यतामिहरम्यतां कमनीयोऽयं भोगः कमनीयेयं कन्या रसायनमिदं जरामृत्यु बाधते वैहायसमिदं यानममी कल्प-द्रुमाः पुण्या मन्दाकिनी सिद्धा महर्षय उत्तमा अनुकूला अप्सरसो दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी वज्रोपमः कायः स्वगुणैः सर्व-मिदमुपार्जितमायुष्मता प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरस्था-

नदेवानांप्रियमिति । एवमभिधीयमानः सगदोषान् भावयेत् । घोरेषु संसारागारेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्तमानेन कर्षचिदासादितः क्लेशविमिरविनाशो योगप्रदीपस्तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयबाधः प्रतिपन्नाः । स सुखं ह सुखाशोक कथमनया विषयभूततृष्यया वञ्चितस्तस्यैव पुनः प्रदीपस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनीकुर्यामिति स्वस्ति वा स्वप्नोपमेयः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवं निश्चितमतिः समाधिं भावयेत् ।

सगमकृत्वा स्मयमपि न ह्यदिषमह देशानामपि प्रार्थनीय इति । स्मयादय सुस्थित मन्यतया मृत्युना केस्रेषु गृहोत्तमिषात्मानं न भावयिष्यति । तथा चास्य चिद्भ्रान्तरप्रक्षो नित्य यत्नोपचर्यः प्रमादो सुम्भविवरः क्लेशानुषम्भयिष्यति ततः पुनरनिष्टप्रसंगः । एवमस्य संगस्मयावकुबतो भावितोऽर्थो ह्रदो भविष्यति । भावनीपरचार्योऽभिमुखी भविष्यतीति ॥ ५१ ॥

भा० का प — ये योगी ४ प्रकार के होते हैं । उनमें से पहला प्राथमकस्विक दूसरा मधुमूत्रिक, तीसरा प्रक्षय्योति चौथा अतिश्रान्तभावनीय कहलाता है उनमें से प्रथम वह है जो अभ्यास करने में प्रवृत्त होता है दूसरा मृतम्भर प्रसन्न कहलाता है तीसरा प्रक्षय्याति वह है जिसमें अपन सब कर्तव्य साधनों में व्यर्थात् भावित और भावनीय विषयों में रचाबन्ध किया है इसी का मूलेन्द्रिय ज्ञानी भी कहत है । चौथा अतिश्रान्तभावनीय वह है जिसका

चित्त एक विषय में संलग्न रहता है इसकी सात प्रकार की प्रान्त-भूमि है उन भूमियों में से मधुमती भूमि में जब योगी प्राप्त होता है देव लोग योगी के चित्त की शुद्धि को देखकर स्वर्गादि स्थानों का लोभ दिखाकर उसको निमंत्रित करते हैं । अजी यहाँ आओ, यहाँ रमण करो, यह भोग मनोहर है, यह मनोहर कन्या है, यह रसायन अर्थात् औषधियों जरा (वृद्धावस्था) और मृत्यु को नाश करती है यह आकाशगामी यान अर्थात् सवारी है और ये कल्प-वृक्ष हैं, यह पवित्र गंगा नदी है, ये सिद्ध ऋषिलोग हैं, उत्तम और प्रेम करनेवाली यह अप्सरायें हैं, यह दिव्य श्रोत्र और नेत्र हैं वज्र के समान शरीर तुमने अपने गुणों से सबको प्राप्त किया है इस अक्षय अजर अमर देवतों के प्रिय स्थान को पाकर आनन्द भोगो । उनके ऐसे वचनों से मोहित न होकर उनमें संगदोष की भावना करे । संसार की अग्नि में जलते हुए मैंने क्लेशों का नाश करने वाला योगरूपी दीपक पाया है उसके ये तृष्णा है योनि जिनकी ऐसे यह विषयरूपी वायु शत्रु हैं सो मैं प्रकाश को प्राप्त होकर क्योंकर इस विषय मृगतृष्णा में फस कर फिर जलती हुई संसार अग्नि में अपनी आत्मा को इन्धन बनाऊँ ? सिद्धि दिखाकर देवता उत्तम विषयों में फसाने का प्रयत्न करें, तो उनसे योगी कहे कि आप लोगों का कल्याण हो ये सब स्वप्न के समान हैं दीन दरिद्र लोग ही इनको चाहते हैं इस मति में दृढ़ होकर समाधि की चिन्ता करे विषय और विषयिजनों का संग त्याग कर उनका अनुमोदन भी न करे । मेरी देवता भी स्तुति करते हैं इस अभिमान से यदि योगी अपने को सुस्थित मानकर ऐसा नहीं समझेगा कि मानो इसके केशों को मृत्यु ने पकड़ रक्खा है तो इसका छिद्रान्वेषी प्रभाव दोषों को पाकर क्लेशों को उठाने वाला होगा उससे फिर अनिष्ट की आशंका है ॥ ५१ ॥

भा० का० मा०—योगी चार प्रकार के हाथ हैं १ प्राथमिक २ मधुमूमिक ३ प्रज्ञाभ्यासि ४ अतिक्रान्तभाषनीय । इनसे प्रथम अस्मिक यागी यह है वा अभ्यास करने वाली भ्यासि में प्रपुत्र ही हुआ है दूसरा मधुमूमिक यह कहाता है जो पूर्वोक्त अतन्मरप्रज्ञा को प्राप्त हुआ है तीसरा प्रज्ञाभ्यासि उस यागी का कहते हैं जिसने शम्भुओं को जीत लिया है और कचव्य में कृतकार्य हुआ है । चौथा अतिक्रान्तभाषनीय कहालाता है । अतिक्रान्तभाषनीय यागी की बुद्धि की साथ मूमिक्य हैं—जन्म मूमिक्यों में से जब मधुमती मूमिका प्राप्त होती है तब वेबता अर्थात् विश्वम् लाग यागी की मानसिक शुद्धि की परीक्षा करने को अनेक सोम विस्मृतते हैं अर्थात् कहत हैं कि यह उत्तम भाग, मनोहर स्वाम और मनाहर श्री सुमका तुम्हारे उपावल से प्राप्त हुई है इत्यादि का सुनकर यागी को उचित है कि जन्म सग न करे और न यह अभिमान करे कि वेबता मेरी स्तुति करत हैं इससे मैं बड़ा सिद्ध हूँ क्योंकि उक्त विषयों का संग करन से वा अभिमान से प्रमाद ज्ञेयों की बुद्धि करेगा उससे फिर ज्यों ज्ञेयों में पड़ना होगा जिनसे जूटन का योग किया था ॥ ५१ ॥

भा पु—परवारा यागिना भवन्ति । तत्राभ्यासवान् प्रपुत्र मात्रभ्यासिः प्रथमः । अतन्मरप्रज्ञो द्वितीयः । अन्तेन्द्रियजयी तृतीयः । अतिक्रान्तभाषनीयश्चतुर्थः । तस्य चतुर्थस्य समाधेः प्राप्तमन्त्रविषमूमिप्रस्थस्यान्त्या मधुमती संज्ञा मूमिक्यं स्पष्टात्कुर्वेत् । स्वामिनो देवा उपनिमन्त्रयितारा भवन्ति । विभ्यस्त्रीवसना-धिकमुपढौक्यन्तीति । तस्मिन्नुपनिमन्त्रयो नामेन संगः कराभ्याः । नापि स्मयः । संगतिकरयो पुनर्विषयमोगे पतति । स्मयकरये कृतकस्यमात्मानं सम्यज्मानो न समाधौ अरुहते । अथा सज्जस्मय वास्तन वजनं कर्षेष्टम् ॥ ५१ ॥

अस्वामेव फलभूताया विवेकख्यातौ पूर्वोक्तसंयमव्यतिरिक्तमु-
पायान्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—योगी ४ प्रकार के होते हैं उनमें अभ्यास करनेवाला प्रथम प्रवृत्तमात्र ज्योति कहाता है) क्योंकि वह योग की ज्योति में अभी प्रवृत्त हुआ है) दूसरा ऋतम्भर प्रज्ञ कहा जाता है (क्योंकि उसकी बुद्धि योग में प्रविष्ट हो चुकी) तीसरा भूतेन्द्रियजयी कहलाता है (क्योंकि उसने समाधि के बल से इन्द्रियों को जीत लिया है) और चौथा अतिक्रान्तभावनीय अभिहित होता है, इनमे से जो चौथा योगी है उसने समाधि की ७ भूमिका प्राप्त करके मधुमती भूमिका को प्राप्त किया है इस कारण देवता उसको बुलाते हैं और उसके पास आते हैं, दिव्य स्त्री और दिव्य वस्त्र उसे स्वयं प्राप्त होते हैं परन्तु यह योगी उन सिद्धियों को देखकर अपने को कृतकृत्य नहीं समझता है क्योंकि कृतकृत्य समझने के समाधि में उत्साह नहीं रहता है इस कारण चतुर्थ योगी को संग और समय त्यागने चाहिये ॥ ५१ ॥

इस समाधि का फलरूप विवेकख्याति से पूर्वोक्त संयम के अतिरिक्त और भी उपाय कहते हैं—

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥५२॥

सू० का प०—(क्षणतत्क्रमयोः) जितने काल में एक परमाणु पलटा खाता है उतने काल को क्षण कहते हैं और उसके द्वितीय परमाणु से संयोग को क्रम कहते हैं उन दोनों में (संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्) संयम करने से विवेक अर्थात् अनुभव सिद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ५२ ॥

सू० का मा०—यद्यपि अर्थात् काल की सूक्ष्मावस्था और गति में संयम करने से विवेक ज्ञान होता है ॥ ५२ ॥

व्या० वे० कु० मा०—यथापकर्षपर्यन्त द्रव्य परमाणु-
रेव परमापकर्षपर्यन्तः कालः चक्षो यावता वा समवेन
वसितः परमाणुः पूर्वदेशं अस्मादुत्तरदेशमुपसंपद्येत स कालः
चक्षुः । तस्मादाहविच्छेदस्तु क्रमः । चक्षुस्तत्क्रमयोनास्ति
वस्तुसमाहार इति बुद्धिसमाहारो मुहूर्ताहोराश्रादयः । स
स्तस्य कालो वस्तुशून्योऽपि बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानु-
पाती लौकिकानां व्युत्पितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते

चक्षुस्तु वस्तुपतितः क्रमावतन्म्यो । क्रमश्च चक्षुःनन्त
र्यास्मा त कालविदः काल इत्याचक्षते योगिनः । न च द्वौ
चक्षौ सह भवतः । क्रमश्च न द्वयोः सहसुवारसम्भवात् ।
पूर्वस्मादुत्तरमाविनो यदानन्तर्यं चक्षुस्य स क्रमः । तस्मा
द्वतमान एवैकः चक्षो न पूर्वोत्तरचक्षुः सन्तीति । तस्मा
च्चास्ति तत्समाहारः । ये तु भूतमाविनः चक्षुस्ते परिष्ठा-
मान्विता व्याक्येयाः । तेनैकेन चक्षुः कृत्स्नो लोकाः परि-
क्षाममनुभवति । तत्चक्षोपाकृष्टाः सन्त्वमी सर्वे धर्माः ।
तयोः चक्षुस्तत्क्रमयोः संपमाचयोः साक्षात्करसम् । ततश्च
विशेषज्ञ ज्ञानं प्रादुर्भवति ॥ ५२ ॥

तस्य विषयविशेष उपचिप्यते—

भा० का प —जैसे द्रव्य पटल र अर्थात् सूक्ष्म दशा में पर

माणु रूप रह जाता है ऐसे ही परम सूक्ष्मावस्था के काल को क्षण कहते हैं अथवा जितने काल में चला हुआ परमाणु पूर्व स्थान को त्यागता और अगले स्थान को प्राप्त होता है उतने काल को क्षण कहते हैं उसकी गति वा प्रवाह को क्रम कहते हैं क्षण और उसके क्रम का समाहार वस्तुसमाहार नहीं है किन्तु क्षणादि व्यवहारवाली बुद्धि की स्थिरता से ही मुहूर्त और रात्रि दिन आदि का व्यवहार होता है सो यह काल वस्तुशून्य अर्थात् अमूर्त द्रव्य है और केवल बुद्धि का परिणाम मात्र है शब्दज्ञान से जानने योग्य उन संसारी मनुष्यों को वस्तु के समान जान पड़ता है जिनका चित्त स्थिर नहीं है क्रमावलम्बी अर्थात् क्रम के आश्रित होने से क्षण वस्तु मध्यपाती है क्रम क्षण से ही जाना जाता है उसको कालज्ञ योगी काल कहते हैं और न दो क्षणों का संयोग होता है और न दो क्षणों के कर्मों का संयोग होता है क्योंकि उनका एक क्षण से होने वाले उत्तर क्षण का जो भेद है उसे ही क्रम कहते हैं इसलिये वर्तमान ही एक क्षण होता है पूर्व क्षण और उत्तर क्षण नहीं होते । इस कारण क्षणों में समाहार अर्थात् इकट्ठा होना नहीं है और जो भूत अर्थात् पूर्वक्षण, भावी होने वाला अर्थात् उत्तरक्षण वर्तमान क्षण के ही परिणाम कहने योग्य है इस हेतु से समस्त जगत् एक ही क्षण में परिणाम अर्थात् दूसरी अवस्था को प्राप्त होता है इससे सब धर्म क्षण के आश्रित हैं क्षण और उसके क्रम में सयम करने से क्षण और क्रम का साक्षात् ज्ञान और उससे विवेक अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ५२ ॥

भा० का भावा०—जितने काल में परमाणु पलटा खाते हैं उतने काल को क्षण कहते हैं और जितने में दूसरे परमाणु से संयुक्त होता है उसे क्रम कहते हैं । बल्कि क्षण के पश्चात् जो प्रवाहावच्छिन्न काल है उसे उत्तरक्षण कह सकते हैं,

परन्तु वृत्त और क्रम का समाहार नहीं होता केवल बुद्धि के समाहार से रात्रि दिन भादि कल संज्ञा होती है । वस इस वृत्त और क्रम में संयम करने से योगी को सत्य ज्ञान प्राप्त होता है ५१

भो० ५०—वृत्ताः सर्वास्व कालावयवो यस्य कक्षाः प्रमत्तिरु न शक्यन्त । तथाविधानां कालकृत्यानां यः क्रमः पौर्वापर्येण परिणामस्तत्र संयमात् प्रागुक्त विवेकज्ञानमुत्पद्यत । अथमर्थो—अथ कालकृत्याऽमुष्मात् कालवृत्तादुत्तराऽयमस्मात् पूष इरवर्षविधे क्रमे कृतसंयमस्यात्कृतसूक्ष्मेऽपि वृत्तक्रमे यदा भवति साक्षात्स्वर स्तदाऽप्यपि सूक्ष्मं महदादि साक्षात्स्वर इति विवेकज्ञानोत्पत्तिः ५२

अस्यैव संयमस्य विषयविशेषोपयोगमाह—

भा० ५० का भा०—कालकृत कृत भाग का वृत्त कृत है जिसका कोई भाग न हो सक सस वृत्त का जो क्रम अर्थात् पूर्व परिणाम और उत्तरपरिणाम है उसमें संयम करने से विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है । अभिप्राय यह है कि यह कालवृत्त अमुक कालवृत्त से पहिले और अमुक कालवृत्त से पीछे है । इस क्रममें संयम करके योगी को जब क्रम का ज्ञान हो जायगा तब यह महत्त्वादि स्थूल पश्याय तथा सूक्ष्म पदार्थों के भी क्रम को और भागों को जान जायगा ॥ ५२ ॥

सस विवेक ज्ञान का विषय विशेष कृत है—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्य
योस्तत प्रतिपत्ति ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(जातिलक्षणदेशैः, अन्यतावच्छेदात्)
जाति, लक्षण और देशों से अनवच्छिन्न (तुल्ययोः)

तुल्य दो पदार्थों की (ततः) तदनन्तर (प्रतिपत्तिः)
प्रतिपत्ति होती है ॥ ५३ ॥

सू० का भा०—जाति लक्षण और देश की एकता वा भिन्नता
से दो पदार्थों का भेदाभेद जाना जाता है ॥ ५३ ॥

व्या० दे० कु० भाष्य—तुल्ययोर्देशलक्षणसारूप्ये जा-
तिभेदोऽन्यताया हेतुगौरियं बडवेयमिति । तुल्यदेशजाती-
यत्वे लक्षणमन्यत्वकरं कालाची गौः स्वस्तिमती गौरिति ।
द्वयोरामलकयोर्जातिलक्षणसारूप्याद्देशभेदोऽन्यत्वकर इद-
म्पूर्वमिदमुत्तरमिति । यदा तु पूर्वमामलकमन्यव्यग्रस्य ज्ञा-
तुरुत्तरदेश उपावर्त्यते तदा तुल्यदेशत्वे पूर्वमेतदुत्तरमेतदिति
प्रविभागानुपपत्तिः । असंदिग्धेन च तत्त्वज्ञानेन भवित्तव्य-
मित्यत इदमुक्तं ततः प्रतिपत्तिर्विवेकजज्ञानादिति ।

कथं पूर्वामलकसहचरणो देश उत्तरामलकसहचर्याद्दे-
शान्निन्नः । ते चामलके स्वदेशक्षणानुभवभिन्ने अन्यदेश-
क्षणानुभवस्तु तयोरन्यत्वे हेतुरिति । एतेन दृष्टान्तेन परमा-
णोस्तुल्यजातिलक्षणदेशस्य पूर्वपरमाणुदेशसहचर्यासाक्षा-
त्करणादुत्तरस्य परमाणोस्तद्देशानुपपत्तौ उत्तरस्य तद्देशा-
नुभवोभिन्नसहचरणभेदात्तयोरीश्वरस्य योगिनोऽन्यत्व-
प्रत्ययो भवतीति ।

अपरे तु वर्णयन्ति—येऽन्त्याविशेषास्तेऽन्यताप्रत्ययं-
कुर्वन्तीति तत्रापि देशलक्षणभेदो मूर्तिव्यवधिजातिभेदश्चा-

न्यत्वे हेतुः । वनमेवस्तु योगिषुद्विगम्य एवेति अत उक्तं
मूर्तिम्यवपिवातिमेवामावाप्तास्ति मूलपृषक्त्वमिति वार्ध-
गम्यः ॥ ५३ ॥

भा० प०—अब किन्हीं दो वस्तुओंमें से एक वस्तुका विवेकत्र
ज्ञान प्राप्त करना है तो उनका वेश लक्षण और जाति मेव ज्ञानमा
आवश्यक है यदि दोनों का वेश और लक्षण मिलता हो तो वहाँ
उनका जाति मेव ही विवेकत्र ज्ञान का हेतु होगा । यह गौ है और
यह घोड़ी है इस ज्ञान में दोनों का वेश एक है और पशुत्व जाति
एक ही है परन्तु वहाँ पर दोनों के लक्षण ही विवेक ज्ञान के कारण
हैं गौ के गल्ल में मांस होता है उसे स्वस्ति कहते हैं तो यह लक्षण
कि गौ स्वस्तिवासी है गौ के सत्य ज्ञान का बेमे धामा है । वहाँ
दो आँखों के ज्ञान से जाति और लक्षण समान हो वहाँ मेव से
मिथ्य होता है यह पूर्व वस्तु है और यह उत्तर वस्तु है अभिप्राय
यह है कि सम्बेदरहित तत्त्व ज्ञान होना चाहिये इस प्रयोजन से
उक्त पद कहा जाता है ॥ ५३ ॥

श्री० ५०—पदार्थानां मेवहेतुता जातिलक्षणवेशा मयमिति ।
कवचिन्न बहुतुर्जातिः यथा गौरियं महिपीयमिति । आत्मा तुल्यमा-
लक्षण मेवहेतु इय कस्मुरेयमस्तेति । आत्मा लक्ष्योमामिन्नया
मेवहेतुर्देशादपि । यथा तुल्यप्रमाणयोरामलक्ष्योर्मिन्नवेशास्थितयो
र्यत्र पुनर्मेवऽवधारयितुं न शक्यते । यथैकदेशस्थितयाः तुल्ययो-
पाविबयोः परमाण्वास्तयादिषु विषये मेवाय कृतसंप्रमस्य मेवेन
ज्ञानमुत्पद्यत । तथा तदभ्यासात् सूक्ष्माण्यपि तत्त्वानि मेवेन
प्रतिपद्यन्त । पठदुक्तं भवति—यत्र केनचित्तुपायन मेवो नावधारयितु
शक्यस्तत्र संप्रमाद्वस्यव मेवप्रतिपत्तिपत्तिः ॥ ५३ ॥

भा० ५० का भा०—पदार्थों के भेदके हेतु जाति, लक्षण और

देश होते हैं अर्थात् इन तीनों से ही पदार्थों में भेद जाना जाता है, कहीं जाति से भेद जान पड़ता है जैसे यह गौ है और यह भैंस है इन दोनों में पशुत्व रूप एक जाति रहने से भी गोत्व और महिषत्व जाति का भेद है, जहाँ दो गौओं में भेद ज्ञान जानना हो वहाँ लक्षण भेद कारक होता है यह चितली गौ है और यह लाल गौ है । जिन दो पदार्थों में जाति और लक्षण की एकता पाई जाती हो उनमें देशकारक भेद होता है जैसे समान प्रमाण वाले दो आवलों का भेद केवल स्थल विशेष से होता है परन्तु एक देश में जो दो परमाणु एक ही जाति और लक्षण युक्त रहते हैं उनमें भेद ज्ञान नहीं हो सक्ता है किन्तु जो भेद ज्ञान में संयम करता है उसको भेद ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् तत्त्वों के सूक्ष्म भेद को भी योगी जान जाता है ॥ ५३ ॥

सूक्ष्म तत्त्वों में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसकी विशेष संज्ञा आगे कहेंगे—

**तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति
विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥**

सू० का प०—(तारकम्) तारक अर्थात् विवेकज-ज्ञान (सर्वविषयम्) जिससे किसी विषय का ज्ञान छिपा नहीं रहता (सर्वथाविषयमक्रमं चेति) भूत, भविष्य और वर्तमान क्रम से रहित जो ज्ञान है (विवेकजं ज्ञानम्) वह विवेकज ज्ञान कह लाता है ॥ ५४ ॥

सू० का भा०—तारक वह विवेकज ज्ञान है जिससे सब विषय और सर्वकालीन ज्ञान होता है ॥ ५४ ॥

न्यत्वे हेतुः । घणमेवस्तु योगिबुद्धिगम्य एवेति अत उक्तं
मूर्तिव्यवधिजातिमेवामावान्नास्ति सूक्ष्मपक्षस्त्वमिति चार्प-
णायः ॥ ५३ ॥

भा० प० —अब किन्हीं दो वस्तुओंमें से एक वस्तुका विवेकज्ञान प्राप्त करना है ता उनका घेरा लक्षण और जाति मेव ज्ञानमा आवश्यक है यदि दोनों का घेरा और लक्षण मिलता हो तो जहाँ उनका जाति मेव ही विवेकज्ञान का हेतु होगा । यह गौ है और यह घोड़ी है इस ज्ञान में दोनों का घेरा एक है और बहुतस जाति एक ही है परन्तु यहाँ पर दोनों के लक्षण ही विवेक ज्ञान के कारण हैं गौ के गले में मांस होता है उसे स्वस्ति कहते हैं ता यह लक्षण कि गौ स्वस्तिवाली है गौ के सत्य ज्ञान का देने वाला है । जहाँ वा आबलों के ज्ञान से जाति और लक्षण समान हो यहाँ मेव से निश्चय होता है यह पूर्व वस्तु है और यह उत्तर वस्तु है अन्विष्टम् यह है कि सम्बेदरहित तत्त्व ज्ञान होना चाहिये इस प्रयोजन से उक्त यह कहा जाता है ॥ ५३ ॥

भा० बृ० —पदार्थानां मेवहतयो जातिलक्षणघेरा भवन्ति । क्वचिद्दुर्द्वैतुर्जातिः यथा गौरिषं सद्विधीयमिति । आत्मा तुस्यमा-
लक्षण मेवहतु इय कस्यु रेयमरुणति । आत्मा लक्षणेनाभिन्नयो
मेवहतुर्द्वैतुर्द्वैतु । यथा तुस्यप्रमाणयारामतक्योर्मिन्नघेरास्वितयो
येत्र पुनर्मेवाऽवधारयितुं न शक्यत । यथैकदेशस्वितयोः सुक्ष्मयोः
पात्रिकयोः परमाणवास्तवाविधे विषये मेवाय कृतसंयमस्य मेवेन
ज्ञानमुत्पद्यत । तदा तदभ्यासात् सूक्ष्माण्यपि तत्त्वानि मेवेन
प्रतिपद्यन्त । एतदुक्तं भवति—यत्र केनचिदुपायेन मेवो नावधारयितु
शक्यस्तत्र संयमाद्भवत्येव मेवप्रतिपत्तिपत्तिः ॥ ५३ ॥

भा० बृ० का भा० —पदार्थों के भेदके हेतु जाति लक्षण और

देश होते हैं अर्थात् इन तीनों से ही पदार्थों में भेद जाना जाता है, कहीं जाति से भेद जान पड़ता है जैसे यह गौ है और यह भैंस है इन दोनों में पशुत्व रूप एक जाति रहने से भी गोत्व और महिषत्व जाति का भेद है, जहाँ दो गौओं में भेद ज्ञान जानना हो वहाँ लक्षण भेद कारक होता है यह चित्तली गौ है और यह लाल गौ है । जिन दो पदार्थों में जाति और लक्षण की एकता पाई जाती हो उनमें देशकारक भेद होता है जैसे समान प्रमाण वाले दो आवलों का भेद केवल स्थल विशेष से होता है परन्तु एक देश में जो दो परमाणु एक ही जाति और लक्षण युक्त रहते हैं उनमें भेद ज्ञान नहीं हो सक्ता है किन्तु जो भेद ज्ञान में संयम करता है उसको भेद ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् तत्त्वों के सूक्ष्म भेद को भी योगी जान जाता है ॥ ५३ ॥

सूक्ष्म तत्त्वों में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसकी विशेष संज्ञा आगे कहेंगे—

**तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति
विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥**

सू० का प०—(तारकम्) तारक अर्थात् विवेकज-ज्ञान (सर्वविषयम्) जिससे किसी विषय का ज्ञान छिपा नहीं रहता (सर्वथाविषयमक्रमं चेति) भूत, भविष्य और वर्तमान क्रम से रहित जो ज्ञान है (विवेकजं ज्ञानम्) वह विवेकज ज्ञान कह लाता है ॥ ५४ ॥

सू० का भा०—तारक वह विवेकज ज्ञान है जिससे सब विषय और सर्वकालीन ज्ञान होता है ॥ ५४ ॥

न्या० वे० कु० मा०—तारकमिति स्वप्रतिमोत्थम-
नौपदेशिकमित्यर्थः । सविषय नास्य किञ्चिदविषयीभूत-
मित्यर्थः । सर्वथाविषयमतीतानागतप्रस्युत्पन्न सर्व पर्यायी
सर्वथा भ्रान्तीत्यर्थः । अक्रममित्येकपाशापाकृष्टं सर्वथा
गृह्यतीत्यर्थः । एतद्विवेकञ्च ज्ञान परिपूर्णम् । अस्यैवाशो-
योमप्रदीपो मधुमती भूमिसुपादाय यावदस्य परिवर्ति-
रिति ॥ ५४ ॥

मा० अ० ५०—तारक उसे कहते हैं जो अपनी प्रतिमा अर्थात्
बुद्धि से उत्पन्न हो अर्थात् बिना किसी के उपदेश किये जो ज्ञान
हो उसे तारक कहते हैं । सर्व विषय का अर्थ है कि कोई विषय
इस ज्ञान से छुटा नहीं रहता है अक्रम का अर्थ है कि पूर्वोक्त एक
क्षण में अतिमा परार्थ या कार्य अगत् में है उस सब को पूर्व
रीति से यागी जानता है यह पूर्ण विवेकञ्च ज्ञान है इसी का
एक माग योग प्रदीप है जो मधुमती भूमि से तारक ज्ञान प्राप्ति
पर्यन्त रहता है चाहे वह विवेक ज्ञान का प्रदीप हो या अमास
का हो ॥ ५१ ॥

मा का मा०—तारक ज्ञान उसे कहते हैं जो बिना किसी के
उपदेश किये योगी के हृदय में प्रकटित हो । सर्व विषयक भी
हो अर्थात् कोई परार्थ इस ज्ञान से बाहर नहीं रहता इसी ज्ञान का
नाम विवेकञ्च ज्ञान है ॥ ५४ ॥

मो० ५ —उत्तमयमपलादन्वाया भूमिः स्यात्पुत्पन्नं ज्ञानं
तारकस्य गाघात् ससारसागरात् योगिनमित्याम्बुबिन्द्या संख्या
तारकमित्युच्यते । अस्य विषयमाह सर्वविषयमिति । सर्वाणि
तत्त्वानि महत्वादीनि विषयोऽस्येति सविषयम् । स्वभावात्मास्य

सर्वथा विषयत्वम् । सर्वाभिरवस्थाभिः स्थूलसूक्ष्मादिभेदेन तैस्तैः
परिणामैः सर्वेण प्रकारेणावस्थितानि तत्त्वानि विषयोऽस्येति सर्व-
थाविषयम् । स्वभावान्तरमाह—अक्रमञ्चेति । निःशेषनानावस्था-
परिणतत्रयात्मकभावग्रहणे नास्य क्रमो विद्यत इति अक्रमम् । सर्व
करतलामलकवत् युगपत् पश्यतीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

अस्माच्च विवेकजात् तारकाख्यात् ज्ञानात् किं भवतीत्याह—

भो. वृ० का भा—उक्त संयम के बल से अन्त्यभूमिका में जो
ज्ञान उत्पन्न होता है उसे तारक ज्ञान कहते हैं क्योंकि वह योगी
को अगाध संसार सागर से तारता है इसी कारण उस ज्ञान का
नाम तारक है । अब इस तारक ज्ञान का विषय कहते हैं, वह सर्व
विषय है अर्थात् महत्तत्त्व आदि सम्पूर्ण इसके विषय हैं, तत्त्वों के
स्वभाव भी इसी के विषय हैं, चाहे जो तत्त्व किसी अवस्था वा
किसी परिणाम में हो तारक ज्ञान युक्त योगी सब को यथार्थ रूप
से जानता है । अब दूसरा स्वभाव कहते हैं, सम्पूर्ण अवस्थाओं
में परिणत होके जो तत्त्व अनेक रूप को धारण करता है उन सब
को योगी करामलकवत् जानता है ॥ ५४ ॥

इस तारक ज्ञान से क्या होता है इसको आगे कहते हैं—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ ५५ ॥

सू० का प०—(सत्त्वपुरुषयोः) बुद्धि और पुरुष
दोनों की (शुद्धिसाम्ये) शुद्धि और समता होने पर
(कैवल्यम्) मोक्ष होती है ॥ ५५ ॥

सू० का भा०—जब बुद्धि पुरुष के समान निर्मल अर्थात् पाप,
चिन्तादि दोषरहित होती है तब उस अवस्था को कैवल्य कहते
हैं ॥ ५५ ॥

व्या० वे० कु० मा०—यदा निरुत्तरत्वस्तमोमलं बुद्धि
सत्त्वं पुरुषस्यान्यताप्रत्ययमात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति
तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति तदा पुरुषस्यो-
पचरितमोगाभावः शुद्धिः एतस्यामवस्थायां कैवल्यं भवती-
त्यक्षरस्यानीश्वरस्य वा विवेकज्ञानमागिन इतरस्य वा नहि
दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति सत्त्वशुद्धिश्च
रेखैतत्समाधिजमैश्वर्य्यं ज्ञानं धोपक्रान्तम् । परमार्थतस्तु
ज्ञानाददर्शनं निवर्तते तस्मिन्निवृत्ते नश्यन्त्युत्तरे क्लेशाः ।
क्लेशाभावात्कर्मविपाकाभावः । चरित्वाधिकारमैतस्यामव-
स्थायां गुणा न पुरुषस्य पुनर्दृश्यत्वेनोपविष्टन्ते । तत्पुरुषस्य
कैवल्यस्य तदा पुरुषः स्वरूपमात्रन्योतिरमलः कैवल्यो भवति ।

मा० का प०—अब ध्याये गये हैं रजोगुण और तमोगुण रूपी
मल जिसके ऐसी निर्मल बुद्धि पुरुष से भिन्नतामात्र का जो अधि-
कार है उसका बीज दग्ध हो जाता है तब योगी की बुद्धि
पुरुष की जो शुद्धता है उसकी समानता को प्राप्त हो जाती है पुरुष
का जो मोगोका अभाव है उसे शुद्धि कहते हैं इस अवस्था में
इश्वर अपनीइश्वर वा किसी विवेक ज्ञान वाले को कैवल्य होता
है । दग्ध हो गये हैं कलश के बीज जिसके उसे किसी की सहाय-
सने की अपेक्षा नहीं रहती बुद्धि की शुद्धता द्वारा यह समाधि
से अत्यन्त परवर्ष और ज्ञानका प्राप्त होता है । परमार्थ में तो ज्ञान
से वियोग की निवृत्ति होता है वियोगनिवृत्ति से सभी कलशों का
नारा हो जाता है कलश मिश्रित होने से कर्म फल की निवृत्ति होती
है इस अवस्था में काम करम वाले गुण दग्धभाव से पुरुष को

दिखलाई नहीं देते पुरुष की इसी दशा को कैवल्य कहते हैं तब पुरुष प्रकाश स्वरूप निर्मल केवली होता है ॥ ५५ ॥

भा० का भा०—जब बुद्धि से रजोगुण तमोगुण के मल नष्ट हो जाते हैं तब वह निर्मल बुद्धि पुरुषस्थ निर्मलता के समान हो जाती है उस समय पुरुष को भोगों का अभाव हो जाता है और इसी अवस्था में कैवल्य प्राप्त होता है । कैवल्य प्राप्ति के अनन्तर पुरुष स्वतन्त्र हो जाता है क्योंकि ज्ञान से दर्शन अर्थात् विषय साधन निवृत्त हो जाता है साधन निवृत्ति से होने वाले क्लेशों की निवृत्ति होती है और उसके कर्म विपाकों का अभाव और कर्म विपाक के अभाव से दुर्गुणों का प्रादुर्भाव नहीं होता इसी अवस्था को कैवल्य कहते हैं ॥ ५५ ॥

भो० वृ०—सत्त्वपुरुषावुक्तलक्षणौ तयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यं सत्त्वस्य सर्वकर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्या स्वकारणेऽनुप्रवेशः शुद्धिः । पुरुषस्य शुद्धिरुपचरितभोगाभाव इति द्वयोः समानाया शुद्धौ पुरुषस्य कैवल्यमुत्पद्यते मोक्षो भवतीत्यर्थः ।

तदेवमन्तरङ्गं योगागत्रयमभिधाय तस्यच संयमसंज्ञा कृत्वा संयमस्य च विषयप्रदर्शनार्थं परिणामत्रयमुपपाद्य संयमबलोत्पद्यमानाः पूर्वान्तपरान्तमध्यभवाः सिद्धिरुपदर्श्य समाध्यभ्यासोपपत्तये बाह्याभुवनज्ञानादिरूपा आभ्यन्तराश्च कायव्यूहज्ञानादिरूपाः प्रदर्श्य समाध्युपयोगायेन्द्रियप्राणजयादिपूर्विकाः परमपुरुषार्थसिद्धये यथाक्रममवस्थासहितभूतजयोद्भवाश्च व्याख्याय विवेकज्ञानोपपत्तये तास्तानुपायानुपन्यस्य तारकस्य सर्वसमाध्यवस्थापर्यन्तभवस्य स्वरूपमभिधाय तत्समापत्तेः कृताधिकारस्य चित्तसत्त्वस्य स्वकारणानुप्रवेशात् कैवल्यमुत्पद्यत इत्यभिहितमिति निर्णीतो विभूतिपादस्तृतीयः ।

भो० वृ० का भा०—सत्त्व और पुरुष के लक्षण प्रथम कह

मुके हैं उन दोनों में अब पवित्रता की समानता होती है अर्थात्
सत्त्व में जो कष्ट रज का मिश्रणभिमान है अब वह निवृत्त हो जाता
है और पुरुष में सहचारी भोग का अभाव होता है यही दोनों की
समान छुट्टि है तब पुरुष का मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

इति भोजवैवर्धिरचितायां राजमार्चण्डामिधायं

पाठस्तप्तवृत्तौ विभूतिपादस्तृतीयः ।

—०—

उपसंहार ।

इस पाद में योग के तीन अंग ध्यान, धारणा समाधि का
वर्णन करके उन तीनों की एक संयमसंज्ञा नियत करके, संयम के
विषयों को विवक्षान के निमित्त तीन परिणामों का वर्णन किया,
संयम के बल से उत्पन्न हुई पुरुषात्म, परात्म और मध्यमाव की
सिद्धियों का वर्णन करके समाधि के अभ्यास को दृढ़ करने के
निमित्त बाह्य सुषुप्त अनादि रूप और आभ्यन्तर अयम्युह ज्ञान-
रूप सिद्धियों को करके समाधि के उपकार निमित्त इन्द्रियत्रय
और प्राणत्रय आदि का वर्णन भी किया परम पुरुषार्थ अर्थात्
मुक्ति की प्राप्ति के निमित्त क्रम से अवस्था सहित भूतन्त्रिय
और सूक्ष्मत्रय का वर्णन भी किया, विवक्षान के नियम के पालन
कर फिर सब समाधि और अवस्थाओं में उपकार करने वाले
तारकज्ञान का भी वर्णन किया उस तारक ज्ञान में यागी के चित्त
को अधिकार प्राप्त हो जाता है तब उसका कैवल्य प्राप्त होता है
यही वर्णन किया है ।

इति पाठस्तप्त सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे विभूतिपादस्तृतीयः ।

—०—

अथ कैवल्यपादः

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

सू० का प०—(जन्मौषधिमन्त्रतपस्समाधिजाः सिद्धयः)
सिद्धि जन्म से ओषधि से मंत्र से तप से और समाधि से
उत्पन्न होती है ॥ १ ॥

सू० का भा०—सिद्धि जन्मादि से उत्पन्न होती हैं ।

व्या० दे० का भा०—देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः ।
ओषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेनेत्येवमादिः । मन्त्रैराकाशग-
मनाणिमादिलाभः । तपसा संकल्पसिद्धिः, कामरूपी यत्र
तत्र कामग इत्येवमादिसमाधिजाः सिद्धयो व्याख्याताः ॥१

भा० का प०—जन्म से सिद्धि वह कहलाती है जो पूर्वजन्म के
शरीर द्वारा सम्पादित होकर इस जन्म में बिना श्रम के प्राप्त हो
जाती है रसायन आदि से असुर लोगों के स्थानों में अनेक
सिद्धियाँ होती हैं मन्त्रों से आकाशगमन और अणिमादि सिद्धि
होती है तप से संकल्प सिद्धि होती है अर्थात् अपनी इच्छानुसार
जहाँ चाहे तहाँ जा सकता है समाधि से जिन सिद्धियों की प्राप्ति
होती है उनका विभूतिपाद में वर्णन कर चुके हैं ॥ १ ॥

भा० का भा०—देहान्तर के साधन से जो सिद्धि प्राप्त होती
हैं वे जन्मसिद्धि कहलाती हैं जो रसायनादि से प्राप्त होती हैं वे

आपधिष्ठ सिद्धिः । संकल्पसिद्धिः को तपःसिद्धिः कथ्यते । और समाधिष्ठ सिद्धिः का वर्णन विमतिपाद में मिल चुके हैं ॥ १ ॥

इदानीं विप्रतिपत्तिसमुत्पन्नोन्मिष्टनिराकरणं युक्त्या कैवल्य-
रूपरूपज्ञानाय कैवल्यपाशाऽवमारम्भत—

तत्र याः पूर्वमुच्यः सिद्धयस्तासां नानाविधजन्मादिकारणप्रति-
पादनद्वारेणैव वाचयति । यदि वा या एताः सिद्धयस्ताः सर्वाः
पूर्वजन्माभ्यस्तसमाधिष्ठतात् जन्मादिनिमित्तमात्ररचनामित्य प्रवर्त-
न्ते । ततश्चानन्तरजन्माभ्यस्तसमाधिष्ठेति स्मिरस्तीत्यादिवासात्पादनाय
समाधिसिद्धिः च यामान्यस्यापनार्थं कैवल्योपयागार्थं वाह—

भा० वृ०—काश्चन जन्मनिमित्तं एव सिद्धयः । यथा पदार्थ-
मात्राकारागमनादयः । यथा वा कपिसमवर्तिप्रसूतीनां जन्मसमन्त-
रमेवोपजायमाना ज्ञानादयः सांसिद्धिका गुणाः । आपधिष्ठिसिद्धिः
यथा—पारदादिरसायनाद्युपयागात् । मन्त्रसिद्धियथा—मन्त्रजपात्
केपाज्जिवाकारागमनादि । तपःसिद्धियथा विद्वान्मिश्रादीनाम् ।
समाधिसिद्धिः प्राक् प्रतिपादिता । एताः सिद्धयः पूर्वजन्मनिमित्त-
कज्ञानानामेवोपजायन्ते । तस्मात् समाधिसिद्ध्यादिवाग्यासां
सिद्धीर्मां समाधिरिव जन्माभ्यस्तस्यैव कारणम् । मन्त्रादीनि तु
निमित्तमात्राणि ॥ १ ॥

तसु नन्वीदृश्यादिकामां आत्मादिपरिणामैऽस्मिन्नेव जन्मनि
दृश्यत उत्कर्षं जन्माभ्यस्तस्यैव तस्यैव समाधिः कारणत्वमुच्यते
इत्यार्शक्याह—

भा० वृ० का भा०—अथ संशय से उत्पन्न हुई भ्रमि को
खरन करके भुक्ति दाय कैवल्य ज्ञान का रूढ़ करने के निमित्त
कैवल्यपादका आरम्भ करत हैं—

पूर्व मिल सिद्धियों का वर्णन किया था उनके जन्मादि अनेक
कारण हैं व जब प्रकट होती हैं तब वेसा बोध कपती हैं भ्रमि

उनको पाकर योगी को ऐसा ज्ञान होता है कि मेरी यह सिद्धि पूर्व जन्म में सिद्ध समाधि के बल से उत्पन्न हुई है यहाँ जन्म लेते ही प्रगट हो गई है, इससे यह सिद्ध होता है कि अगले जन्म से जो योगाभ्यास करता हुआ योगी चला आता है उस योग की हानि नहीं हुई है, समाधि के अभ्यास को सिद्धि ही प्रकाशित करती है । इस कारण समाधि सिद्धियों की प्रधानता को वर्णन करते हैं ।

कोई सिद्धि जन्म कारण से ही उत्पन्न होती है जैसे पत्नी आदिकों का आकाशगमन आदि, अथवा महर्षि कपिल आदिके जन्म लेते ही ज्ञानादिक सासिद्धिक गुण प्रकट हो गये थे, ओषधियों से जैसे पारे आदि से जरा मृत्यु नाश कर जवान बनाये जाते हैं, मन्त्र से सिद्धि जैसे विज्ञान द्वारा आकाशगमनादि, तपसे सिद्धि जैसे विश्वामित्रादि की हुई थी और समाधि की सिद्धियों का पूर्व पाद में वर्णन कर चुके हैं । ये सब सिद्धि पूर्वक्लेशों की निवृत्ति के पश्चात् ही उत्पन्न होती हैं सिद्धियों के प्रादुर्भाव में समाधि ही कारण है और मन्त्रादि नाम मात्र के निमित्त हैं ॥१॥

तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातीयपरिणतानाम्—

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

सू० का प०—(जात्यन्तरपरिणामः) जाति का परिवर्तन (प्रकृत्यापूरात्) प्रकृति के कारण से है ॥ २ ॥

सू० का भा०—जाति का परिणाम प्रकृति के विकार से होता है ॥ २ ॥

व्या० दे० का भा०—पूर्वपरिणामापाय उत्तरपरिणामोपजनस्तेषामपूर्वावयवानुप्रवेशाद्भवति । कायेन्द्रियप्रकृतश्च

स्व स्व विकारमनुगृह्यन्त्यापूरेण धर्मादिनिमित्तमपेक्षामावा
इति ॥ २ ॥

भा० का प०—पूर्व परिणाम के माय ज्ञान पर आ इस
परिणाम होता है उस सबजन कहते हैं यह कुछ परिणामों के पूर्व
अवयवों के संयोग से होता है । शरीर, इन्द्रियाँ और प्रकृति
अपने २ विकार को धारण करती हैं और अपने धर्मादि निमित्त
की अपेक्षा रखती हैं ॥ २ ॥

भा० का भा०—अथ पूर्व परिणाम विनष्ट होता है तब उत्तर
परिणाम की उत्पत्ति होती है इस परिणाम का उपजन करते हैं
काया, इन्द्रिय और प्रकृति अपने २ विकारों को ग्रहण करती हैं
परन्तु आत्यन्तर परिणाम के हेतु धर्मादिक हैं ॥ २ ॥

भा० पु०—योऽप्यभिर्ह्येव जन्मनि नन्वीहवरादीनां आत्मादि
परिणामः स प्रकृत्यापूरात् पाप्मात्पा हि प्रकृत्योऽमुष्मिन् जन्मनि
विकारेणापूरयन्ति आत्यन्तराकारेण परिणमन्ति ॥ २ ॥

अनु धर्माधर्मादयस्तत्र क्रियमाणा उपलभ्यन्ते तत्कर्म प्रकृति
आमापूरकत्वमित्याह—

भा० पु० का भा०—नन्वीहवर आदि का आ इस ही जन्म में
आति परिणाम हुआ था यह सब पूर्वजन्म की प्रकृति के परिणाम
से ही हुआ था ॥ २ ॥

अथ सन्देह यह है कि धर्म और अधर्म रूप कर्म आ यहाँ
किये जाते हैं व क्योंकि प्रकृति के परिणाम हो सकते हैं इसके
उत्तर अगस्त सूत्र में करते हैं—

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु तत
चेन्निक्वत् ॥ ३ ॥

सू० का प०—(निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनाम्)
प्रकृतियों का निमित्त अप्रयोजक है (वरणभेदस्तु ततः
क्षेत्रिकवत्) वरण का भेद तो किसानों के समान है ॥३॥

सू० का प०—निमित्त प्रकृतियों का प्रयोजक नहीं है क्योंकि
वरणभेद क्षेत्रिकवत् होता है ॥ ३ ॥

व्या० भा०—नहि धर्मादिनिमित्तं तत्प्रयोजकं प्रकृ-
तीनाभवति । न कार्येण कारणं प्रवर्त्यत इति कथम् ? तर्हि
वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् यथा क्षेत्रिकः केदारादपां पूर्णा-
त्केदारान्तरं पिप्लाव यिषुःसमं निम्नं निम्नतरं वा नापः
पाणिनाऽपकषत्यावरणत्वासां भिनत्ति तस्मिन् भिन्ने स्वय-
मेवापः केदारान्तरमाप्लावयन्ति तथा धर्मः प्रकृतीनामावर-
णधर्मं भिनत्ति तस्मिन् भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः स्वं स्वं
विकारमाप्लावयन्ति । यथा वा स एव क्षेत्रिकस्तस्मिन्नेव
केदारे न प्रभवत्यौदकान् भौमान्वा रसान्धान्यमूलान्यनुप्र-
वेशयितुं, किन्तु तर्हि मुद्गगवेधुकश्यामाकादींस्ततोऽपक-
र्षति । अपकृष्टेषु तेषु स्वयमेव रसा धान्यमूलान्यनुप्रवि-
शन्ति तथा धर्मो निवृत्तिमात्रे कारणमधर्मस्य, शुद्ध्यशुद्-
ध्योरत्यन्तविरोधात् नतु प्रकृतिप्रवृत्तौ धर्मो हेतुर्भवतीति ।
अत्र नन्दीश्वरादय उदाहार्याः । विपर्ययेणाप्यधर्मो धर्मं
बाधते । ततश्चाशुद्धिपरिणाम इति । तत्रापि नहुपाजगरादय
उदाहार्याः ॥ ३ ॥

यदा तु योगी बहून् कायान्निर्मिमीते तदा किमकमन
स्कास्ते भवन्त्ययानेकमनस्का-इति-

भा० का प०—धर्मादि निमित्त प्रकृतियों का उत्पादक नहीं है क्योंकि कार्य से कारण उत्पन्न नहीं होता वरण भेद “तो यहाँ पर वरण का भय आबरण है” किसान के समान होता है जैसे किसान जल से मरी हुई कमारी से दूसरी कमारी में जल ले आने की इच्छा रख करता है तब बराबर की मीची वा अस्थम्व मीची कमारी में पानी को हाथ से नहीं खींचता है कमारियों के आबरण अर्थात् मैद वा होल का काटना है मैद के काटने से जल स्वयं ही दूसरी कमारियों में चला जाता है ऐसे ही धर्म प्रकृतियों के आबरण रूप धर्म का काट पड़ा है उसके नाश हान से प्रकृति आप से आप अपने विकारों का प्रहण कर लेती है जैसे वह किसान उस खेत में ओदक और पारिव रसों को अन्न की बड़ों में अपने हाथ से प्रवेश नहीं कराता किन्तु उनकी जड़ों स्वयं ही उनको खींचकर अपने में प्रविष्ट कर लेती हैं । ऐसे ही धर्म अधर्म की निवृत्तिमात्रका कारण है क्योंकि शुद्धि और अशुद्धि का अस्थम्व विरोध है परन्तु प्रकृति की प्रवृत्ति में धर्म इतु होता है । इस प्रकरण में मन्वीद्वर आदि उदाहरण हैं व्यस्य करने से भी धर्म अधर्म का बाधक होता है अब अधर्म धर्म का बाधक होता है तब अशुद्धि प्राप्ति होती है उसमें भी नहुप और अजगर प्रवृत्ति उदाहरण हैं ॥ १ ॥

अथ कि योगी अनक शरीरों का निर्माण करता है उस समय योगी अनक चित्त वाला होता है वा एक चित्तवाला ?

भा का भा०—धर्मादिक प्रकृति वा वरणभेद के कारण नहीं है क्योंकि कार्य से कारण उत्पन्न नहीं होता परन्तु वरणभेद होने का कर्म है कि जैसे किसान जब किसी जल से मरी कमारी से जल

दूसरी क्यारी में ले जाना चाहता है तब केवल क्यारियों के मेंढ काटने से जल स्वयं ही दूसरी क्यारी में चला जाता है। इसी रीति से धर्म के द्वारा अधर्मरूपी मेंढ काटने से प्रकृतिभेद स्वयं हो जाता है। जैसे एक ही जल अनेक अन्नो का कारण होता है ऐसे ही प्रकृति के परिणाम भी समझने चाहिये। प्रथमोक्त क्रम में नन्दीश्वर का उदाहरण है अर्थात् नन्दीश्वर नामक एक मनुष्य देवत्व को धर्म से प्राप्त होगया और नहुष अधर्माचरण से देश दशा से अजगर हो गया था यह सब कथा ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखी है ॥ ३ ॥

भा० वृ०—निमित्तं धर्मादि तत्प्रकृतीतानामर्थान्तरपरिणामे न प्रयोजकम् । नहि कार्येण कारणं प्रवर्तते । कुत्र तर्हि तस्य धर्मो-
देव्यापार इत्याह—वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् । ततस्तस्मादनुष्ठी-
यमानाद्धर्मात् वरणमावरणधर्मादि तस्यैव विरोधित्वात् भेदः
क्षयः क्रियते । तस्मिन् प्रतिबन्धके क्षीणे प्रकृतयः स्वयमभिमतकार्याय
प्रभवन्ति । दृष्टान्तमाह—क्षेत्रिकवत् । यथा क्षेत्रिकः कृषीवलः केदा-
रात् केदारान्तर जल निनीषुर्जलप्रतिबन्धकवरणभेदमात्रं करोति ।
तस्मिन् भिन्ने जल स्वयमेव प्रसरद्रूपं परिणाम गृह्णाति न तु जल-
प्रसरणे तस्य कश्चित् प्रयत्न एवं धर्मादेर्वोद्व्यम् ॥ ३ ॥

यदा साक्षात्कृतत्त्वस्य योगिनो युगपत्कर्मफलभोगायात्मी-
यनिरतिशयविभूत्यनुभवात् युगपदनेकशरीरनिर्मित्सा जायते तदा
कुतस्तानि चित्तानि प्रभवन्तीत्याह—

भो० का वृ० भा०—पूर्वोक्त जाति परिणाम का हेतु धर्मादिक
प्रकृति के अर्थान्तर परिणाम का कारण नहीं हो सकते हैं क्योंकि
कार्य से कारण की कभी उत्पत्ति नहीं होती है, तब यह सन्देह
होगा कि यदि धर्मादि प्रकृति के परिणाम के कारण नहीं हैं तो
वे निष्फल होंगे ? इसका उत्तर यह है कि उनसे वरण अर्थात्

आवरण का दूय होता है उन धर्मादि से आवरण करने वाले अधर्मादि का दूय होता है आवरण रूप अधर्म के दूय होने से प्रकृति आप ही अपनी रूपादि के कार्य को कर लेती है इसमें दृष्टान्त देते हैं । जैसे किसान अर्थात् किसान एक ब्यारी से सब दूसरी ब्यारी में ब्रह्म को ले जाना चाहता है तब ब्रह्म को राकन-बाली मेढ़ को ही केवल काटता है मेढ़ के कृमि से सब सबक बढ़ने लगता है किसान को ब्रह्म बढ़ाने के वास्तु कोई उद्योग करना नहीं पड़ता है ऐसे ही धर्मादि का समझना चाहिये ॥ ३ ॥

अब योगी का तर्कों का साक्षात् ज्ञान हो जाता है तब कई कर्मों का एक ही समय फल मागने के वास्ते अपनी सिद्धियों के प्रताप से एक समय में यदि अनेक शरीर धारण करने की इच्छा हो तब अनेक चित क्यों कर दोगे ? इसका उत्तर भाग देते हैं—

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

सूत्र का प०—(निर्माणचित्तानि) चित को उत्पन्न करने वाली (अस्मितामात्रात्) केवल अस्मिता है ॥४॥

सू का भा०—चित को बनाते वाली अस्मिता है ॥ ४ ॥

न्या० दे का, भा०—अस्मितामात्रं चितकारणरूपा-
दाय निर्माणचित्तानि करोति ततः सचित्तानि भवन्ति ॥४॥

भा० का प०—केवल अस्मिता चित के कारण का प्रत्यक्ष करके चितका उत्पन्न करती है तब प्राणी चित के सहित होते हैं ॥ ४ ॥

भा का भा०—अस्मिता से चित की उत्पत्ति होती है ॥ ४ ॥

भा पृ०—योगिनः स्वयं निर्मितेषु कायेषु यानि चित्तानि
तानि मूलकारणादस्मितामात्रादेव तद्विच्छेदा प्रसरन्ति अन्नेर्विस्तु-
भिर्गन्तु इव युगपत् पण्यमस्ति ॥ ४ ॥

ननु बहूना चित्ताना भिन्नाभिप्रायत्वान्नैककार्यकर्तृत्वं स्यादित्याह—

भो० वृ० का भा०—योगी ने जो अपने आप शरीरों की रचना की है वह चित्त की मूलभूत अस्मिता मात्र से चित्त युक्त होते हैं अर्थात् योगी एक अस्मिता से ही सब शरीरों को सचित्त करता है जैसे एक अग्नि से अनेक चिनगारियाँ निकलती हैं ॥४॥

अब यह शङ्का होती है कि यदि अनेक चित्त होंगे तो वह सब एक कार्य के कर्ता क्योंकर हो सकते हैं ? इसका उत्तर आगे देते हैं—

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकेषाम् ॥ ५ ॥

सू० का प०—(प्रवृत्तिभेदे) प्रवृत्ति के भेद से (एकश्चित्तमनेकेषाम्प्रयोजकम्) एक ही चित्त अनेक चित्तों का प्रयोजक होता है ॥ ५ ॥

सू० का भा०—प्रवृत्तिभेद से एक ही चित्त अनेक चित्तों का उत्पन्न करनेवाला होता है ॥ ५ ॥

व्या० भा०—बहूनां चित्तानां कथमेकचित्ताभिप्राय-
पुरः सरा प्रवृत्तिरिति सर्वचित्तानां प्रयोजकं चित्तमेकं निर्मि-
मीते ततः प्रवृत्तिभेदः ॥ ५ ॥

भा० का प०—एक ही चित्त अनेक चित्तों का कैसे प्रवर्तक हो सकता है । प्रवृत्तिभेद सब चित्तों के प्रेरक एक ही चित्त को निर्मित करता है ॥ ५ ॥

भा० का भा०—प्रथम एक ही चित्त अनेक चित्तों का प्रेरक निर्मित होता है पश्चात् प्रवृत्तिभेद हो जाता है ॥ ५ ॥

भो० वृ०—तेषामनेकेषा चेतसा प्रवृत्तिभेदे व्यापारनानात्वे

एकं यागिनश्चित्तं प्रयात्रकं प्रेरकमधिष्ठातृत्वन न तन भिन्नमवस्थम् ।
अयमर्थः—ययात्मीयशरीरं मनश्चक्षुः पाप्माणीनि यथच्छ्रुं प्रेरयति ।
अधिष्ठातृत्वन तथा कायाग्तरेऽवस्थीति ॥ ५ ॥

उन्मादिप्रभवरयात् सिद्धानां चित्तमपि सत् प्रमर्षं पञ्चविधमेव ।
अथा उन्मादिप्रभवविज्ञानं समाधिप्रभवस्य चित्तस्य वैलक्षण्यं
माह—

भा० सू० का भा०—अनेक चित्तों का आ अनक व्यापार और
पुत्ति है उन सबका प्रेरक यागी का एक ही चित्त होता है
क्योंकि सबका अधिष्ठाता वही एक चित्त है इससे यागी का कल्पित
अनक चित्तों में परस्पर मतभेद नहीं हो सकता है, अभिप्राय यह
है कि यागी शरीर और इन्द्रियों का प्रेरित कर सकता है उस ही
चित्त से अनक काम्य भी करा सकता है ॥ ५ ॥

सिद्धियों से उन्मादिक हो सकता है और सिद्धियों का ५ भेद
आ ऊपर कह गये हैं उनसे उत्पन्न ज्ञान यान्त्रा चित्त भी पाँच प्रकार
का हुआ उन पाँच प्रकार के चित्तों में से समाधि से उत्पन्न हुए
चित्त की विज्ञप्तिता का कहत है—

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

सू० का प०—(तत्र) तन्में (ध्यानजमनाशयम्)
ओ चित्त ध्यान से उत्पन्न होता है वह राग, द्वेषरहित
होता है ॥ ६ ॥

सू० का भा०—आ चित्त ध्यान से प्राप्त होता है, वह राग द्वेष
रहित होता है ॥ ६ ॥

ध्या० भा०—पञ्चविध निमायचित्तं जन्मोपधिमन्त्र-
तपः समाधिजाः सिद्ध्य इति । तत्र यदेव ध्यानजं चित्तं

तदेवानाशयं तस्यैव नास्त्याशयो रागादिप्रवृत्तिर्नातः पुण्य-
पापाभिसम्बन्धः क्षीणक्लेशत्वाद्योगिन इति इतरेषां तु
विद्यते कर्माशयः ॥ ६ ॥

भा० का प०—चित्त की ५ प्रकार की रीति है जन्म से,
श्लोषधि से, मन्त्रसे तपसे और समाधि से जो सिद्धि होती हैं उनमें
से जो ध्यान से चित्त उत्पन्न होता है वही आशय रहित है अर्थात्
उस चित्त की रागादि में प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि उसके क्लेश
क्षीण हो जाते हैं इससे उसमें पुण्य और पाप का सम्बन्ध नहीं
रहता है और चित्तों का कर्माशय होता है ॥ ६ ॥

भा० का भा०—पूर्व जो ५ प्रकार की सिद्धि कही थीं उनमें
ध्यानज चित्त राग द्वेष रहित है और अन्य चित्तों में रागादि का
सम्बन्ध रहता है, ध्यानज चित्त में क्लेश क्षीण हो जाने से पुण्य
पाप का सम्बन्ध भी नहीं रहता है ॥ ६ ॥

भो० वृ०—ध्यानजं समाधिजं यच्चित्तं तत् पञ्चसु मध्येऽनाशयं
कर्मवासनारहितमित्यर्थः ॥ ६ ॥

यथेतरचित्तेभ्यो योगिनश्चित्तं विलक्षणं क्लेशादिरहितं तथा
कर्मापि विलक्षणमित्याह—

भो० वृ० का भा०—ध्यान अर्थात् समाधिजन्य सिद्धि से
उत्पन्न हुआ चित्त उक्त पाँच प्रकार के चित्तों में से कर्मों की
वासना से रहित होता है ॥

जैसे योगी का चित्त औरों के चित्त से विलक्षण होता है वैसे
ही कर्म भी विलक्षण होते हैं यही अगले सूत्र में कहते हैं—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

सू० का प०—(कर्माशुक्लाकृष्णम्) शुक्ल और

कृष्ण के मेद से रहित कर्म (योगिनः) योगी के होते हैं (इतरेषाम्) अन्यो के (त्रिविधम्) ३ प्रकार के हैं ॥७॥

सू० का भा०—अग्न्य लोगो के कर्म, शुक्ल कृष्ण और मिश्रित तीन प्रकार के होते हैं पर यागियों का कर्म बिलक्षण है ॥ ७ ॥

व्या० दे० कु० भा०—चतुष्पदी सखिय कर्मजातिः कृष्णाशुक्लकृष्णाशुक्लाऽशुक्लाकृष्णाचेति । तत्र कृष्णा दुरात्मनां शुक्लकृष्णां बहिःसाधनसाध्या तत्र परपीडानुग्रहद्वारेण कर्माशयप्रचयः । शुक्ला तपः स्वाध्यायवताम् । सा हि केवले मनस्यायतत्वादबहिःसाधनाधीना न परान् पीडयित्वा भवति । अशुक्ला कृष्णा सन्यासिनां बीब-क्लेशानां धरमवेदानामिति । तत्राशुक्ल योगिन एव फल-सन्यासादकृष्ण चानुपादानात् । इतरेषान्तु भूतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति ॥ ७ ॥

भा० का प०—यह कर्मजाति चारपाद वाली अर्थात् चार प्रकार का है—एक कृष्णा दूसरी शुक्लकृष्णा, तीसरी शुक्ला, चौथी अशुक्लाकृष्णा । उनमें से दुरात्माओं की कर्मजाति कृष्णा है । जो बाह्य साधनों से कर्मजाति सिद्ध होती है वह शुक्लकृष्णा कहलाती है । उसमें परपीडा एवं अनुग्रह दोनों से ही कर्माशय की वृद्धि होती है । शुक्ला कर्मजाति तपस्वी ब्रह्माणी और ध्यान वालों की होती है । वह शुक्ल जाति केवल मन के अधीन होने से बाह्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं रखती । अग्न्य लोगोंको दुःख भी नहीं पड़ती अशुक्लाकृष्णा—बीया हो गये हैं क्लेश त्रिकके उन सम्य-सियों की होती है अग्न्या की पूर्वकथित ३ जातियाँ होती हैं ॥७॥

भा० का भा०—कर्म जाति चार प्रकार की हैं उनमें से दुरात्माओं की कर्मगति पापमय होने से कृष्णा अर्थात् काली होती है दूसरी अन्य जीवों को पीडा देना वा अनुग्रह करने से जो कर्म-समूह सञ्चित होता है वह शुक्लकृष्ण तीसरी जो गति अन्तःसाधनों के अधीन है वह शुक्ला कर्मगति स्वाध्याय और तप करने वाले लोगों की होती है और जो शुक्ला भी नहीं और न कृष्णा है वह सन्यासियों की कर्म जाति है ॥ ७ ॥

भा० वृ०—शुभफलदं कर्म योगादि शुक्लम् । अशुभफलदं ब्रह्महत्यादि कृष्णम् । उभयसङ्कीर्णं शुक्लकृष्णम् । तत्र शुक्लं कर्म विचक्षणानां दानतपस्वाध्यायादिमतां पुरुषाणाम् । कृष्णं कर्म दानवानाम् । शुक्लकृष्णं मनुष्याणाम् । योगिनान्तु संन्यासवता त्रिविधकर्मविपरीत विलक्षणं यत्फलत्यागानुसन्धाने नैवानुष्ठानं किञ्चित् फलमारभते ॥ ७ ॥

अस्यैव कर्मणः फलमाह—

भा० वृ० का भा०—उत्तम फल को देने वाले यज्ञादि शुक्ल कर्म कहलाते हैं, बुरे फल को देनेवाले ब्रह्महत्यादि कर्म कृष्ण कहे जाते हैं और दोनों मिले हुए शुक्ल व कृष्ण कर्म हैं, इनमें से शुक्ल कर्म उत्तम जनों के होते हैं, जो दान तप और वेद पाठ करते हैं । दानवों (राक्षसों) के कर्म कृष्ण हैं और मिश्रित अर्थात् शुक्ल कृष्ण कर्म मनुष्यों के हैं परन्तु योगियों के कर्म इन तीनों से विपरीत वा विलक्षण हैं जो फल त्याग की इच्छा से किये जाते हैं और किसी फल का आरम्भ नहीं करते हैं ॥ ७ ॥

इसी कर्म का फल कहते हैं ।

ततस्तद्विकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वाससनानाम् ८

सू० का प०—(ततस्तद्विकानुगुणानाम्) इसके

अनन्तर कर्मों के फल के अनुसार (अभिष्यक्तिर्वासना
नाम्) वासनाओं का प्रकाश होता है ॥ ८ ॥

सू० अथ मा०—कर्म फल क अनुसार ही वासना प्रकट होती
है ॥ ८ ॥

व्या० दे० कु० मा०—तत्र इति त्रिविधात्कर्मणः
तद्विपाकानुगुणानामेवेति यजातीयस्य कर्मणो यो विपा-
कस्तस्यानुगुणा या वासना कर्म विपाकमनुसरते तासा
मेवामिष्यक्तिः । नहि दैवं कर्मविष्यमाननारकतिर्यञ्च
नुष्यवासनामिष्यक्तिनिमित्तं समवति किन्तु दैवानुगुणा
एवास्य वासना व्यस्यन्ते । नारक तिर्यञ्चनुष्येषु वैव
समानवर्गः ॥ ८ ॥

मा० अथ प०—तीस प्रकार के कर्मों के फल के अनुसार अर्थात्
जिस प्रकार के कर्मों का वा फल उसके अनुसार वा वासनायें कर्मों
फल के आश्रय से सोई पड़ी हैं उन्हीं का प्रादुर्भाव होता है ।
क्योंकि दिव्यकर्म पुष्ट हुआ नरक सम्बन्धी योनि तिर्यक् पशु वा
सर्पादि वा मनुष्य वासना को प्रकट करने कारण होता है किन्तु
दैव कर्म से दिव्य वासना ही प्रकट होती है इसी रीति से नारक
तिर्यके और मनुष्य कर्म और वासनाओं का विचार है ॥ ८ ॥

मा० अथ भा०—पूर्व सूत्र में जो तीस प्रकार के कर्मों के फल के
अनुसार ही फल और फलानुसार वासना उत्पन्न होती है अर्थात्
जिस प्रकार का कर्म होता है उससे वैसी ही वासना होती है जैसे
दैव कर्म से दिव्य वासना होती है उससे न नरक वासना और न
तिर्यगादि वासना प्रकट होती है और ऐसे ही तिर्यगादि कर्मों से
दिव्यवासना नहीं होती ॥ ८ ॥

भो० वृ०—इह हि द्विविधाः कर्मवासनाः स्मृतिमात्रफला जात्यायुर्भोगफलाश्च । तत्र जात्यायुर्भोगफला एकानेकजन्मभवा इत्यनेन पूर्वमेव कृतनिर्णयाः । यास्तु स्मृतिमात्र फलास्तास्तत्कर्मणो येन कर्मणा यादृक् शरीरमारब्धं देवमनुष्यतिर्य्यगादिभेदेन तस्य विपाकस्य या अनुगुणा अनुरूपा वासनास्तासामेवाभिव्यक्तिर्भवति । अयमर्थः—येन कर्मणा पूर्वं देवतादिशरीरमारब्धं जात्यन्तरशतव्यवधाने पुनस्तथाविधस्यैव शरीरस्यारम्भे तदनु-रूपा एव स्मृतिफला वासनाः प्रकटीभवन्ति । लोकान्तरेष्वेवार्थेषु तस्य स्मृत्यादयो जायन्ते । इतरास्तु सत्योऽपि अव्यक्तसंज्ञां तिष्ठन्ति न तस्या दशाया न नारकादिशररोद्भवा वासना व्यक्ति-मायान्ति ॥ ८ ॥

आसामेव वासनाना कार्यकारणभावानुपपत्ति माशंक्य समर्थयितमाह—

भो० वृ० का भा०—कर्मवासना दो प्रकार की हैं एक स्मृति मात्रफला और दूसरी जात्यायुर्भोगफला, एक ही कर्म अनेक जन्म देता है यह प्रथम ही निर्णय कर चुके हैं जो कर्म वासना स्मृतिमात्र फला हैं उनसे वह होता है कि जिस कर्म से जैसा शरीर प्राप्त होता है वह शरीर चाहे देवयोनि का हो वा मनुष्य योनि का हो वा कीट पतंगादि योनि का हो जैसा कर्म का फल होगा वैसी ही वासना भी होगी । अभिप्राय यह है कि जिस कर्म से देव शरीर प्राप्त हुआ था उसके पश्चात् चाहे सौ जन्म का भी अन्तर पड़ जाय परन्तु फिर वैसा जन्म प्राप्त होने से योगी को वही देव जन्म की स्मृतिजन्य वासना प्रकाशित हो जाती है अर्थात् नरक भोगादि की वासना प्रकाशित नहीं होती ॥ ८ ॥

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृ-
तिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ६ ॥

सू० का प०—(जातिदेशकालव्यवहितानामपि)
ओ कर्म वासना, जन्म देश और काल से व्यवहित हैं
उनका भी (आनन्तर्यम्) क्रमपूर्वक उदय होता है
(स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्) क्योंकि स्मृति और संस्कार
दोनों का अमेद है ॥ ६ ॥

सू० का भा०—जिन कर्म वासनाओं में जन्म देश और काल
का व्यवधान भी है तो भी वह किसी समय उदय हो जाती हैं । ॥ ६ ॥

व्या० भा०—अपदर्शविपाकोदयः स्वप्नस्रक्काजन-
मिष्यक्तः । स यदि जातिशतेन वा दूरदेशतया वा कल्प-
शतेन वा व्यवहितः पुनश्च स्वप्नस्रक्काजन एवोदियात्प्रागि-
त्येष पूर्वानुभूतपदशविपाकामिसंस्कृता वासना उपादाय
व्यज्येत कस्मात् ? यतो व्यवहितानामप्यासां सदर्शं कर्मा-
भिष्यञ्जक निमिचीभूतमित्यानन्तर्यमेव कृतम् ? स्मृतिसं-
स्कारयोरेकरूपत्वापयानुमनास्तथासंस्काराः । ते कर्मावा-
सनानुरूपाः । यथा च वासनास्तथास्मृतिरिति जातिदेश-
कालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः । स्मृतेभ्य पुनः
संस्कारा इत्येत स्मृतिसंस्काराः कर्माशयवृत्तिलाभवशाद्बुद्धि-
ज्यन्त । अतश्च व्यवहितानामपि निमित्तर्नमित्तिकमावानु-
बन्धदाशनन्तर्यमेव सिद्धमिति ॥ ६ ॥

भा० का प०—कर्मफल अपने साधनों को पाकर प्रकाशित होता है यदि वह सौ जन्मों से दूरदेश से अथवा सौ कल्प से व्यवहित भी हो फिर अपने साधनों को पाकर उदय होता है इस रीति से पूर्वकाल में अनुभव किया है, जिन कर्मफलों को उनसे उत्पन्न हुई जो वासना अपने साधनों को पाकर प्रकाशित होती है क्योंकि यदि यह वासना व्यवहित भी हो तो इनके कर्म को प्रकाश करने वाला एक ही निमित्त है इससे अभिच्छेदकता क्रम से ही हो सकती है क्योंकि स्मृति और संस्कार एक ही हैं जैसा अनुभव होता है उसके अनुसार ही संस्कार होता है वे अनुभव और संस्कार भी कर्म तथा वासना के अनुकूल ही होते हैं जैसी वासना वैसी ही स्मृति होती है इस रीति से जन्म, देश और काल से व्यवहित संस्कारों से स्मृति होती है और स्मृति से फिर संस्कार उत्पन्न होते हैं इस रीति से स्मृति और संस्कार कर्मफल की वृत्तिलाभ के समान प्रकाशित होते हैं इसलिये व्यवधान सहित वासनाओं का निमित्त और नैमित्तिक भाव कि अनुच्छेद से आनन्तर्य ही सिद्ध होता है ॥६॥ •

भा० का भा०—कर्मफल अपने साधनों के द्वारा प्रकाशित होता है व्यञ्जक अर्थात् उदित होने में सहायक के पाने से प्रकट होता है ऐसे ही कर्म की वासना भी उदित होती है वह यदि सौ जन्म से अथवा अधिक दूरदेश से सौ कल्प से व्यवहित हो तो भी अपने आश्रय को पाकर उदित होता है क्योंकि इन स्मृति और वासनाओं का प्रकाशित करनेवाला निमित्त एक ही है क्योंकि इन स्मृति और संस्कार एक ही रूप हैं जैसा अनुभव होता है वैसा ही संस्कार होता है वे कर्म और वासना के अनुकूल ही होते हैं जैसी वासना होती है वैसी ही स्मृति है । इस रीति से जन्म, देश और काल से जो व्यवहित संस्कार हैं उनसे स्मृति उत्पन्न होती है स्मृतिसे फिर

संस्कार होते हैं यह स्मृति और संस्कार कमफल में समान रहित होते हैं ॥ ६ ॥

भो० वृ०—इदमाना योनिषु भ्रमतां संसारिणां कश्चिद्योनिस्तु भूययवा योम्यंतरस्तद्व्यवधानेन पुनस्तामेव योनिप्रतिदृश्यते तथा तस्यां पूर्वानुमृतायां योनौ तथाविधशरीरादिभ्यस्तद्व्यवधानेन वासनायाः प्रकटीमृता आसस्ताम्यथाविधम्यस्तद्व्यवधानावातिरादिताः पुनस्तथाविधम्यस्तद्व्यवधानेन प्रकटीमप्रवृत्तिः । आतिदेशकत्वम्यवधानेन अपि तासां स्वानुमृतास्मृत्याविषयसंसाधन आनन्तर्यम् नैरन्तर्यम् कृतम् ? स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् । तथा अनुष्ठीयमानात् कर्मणश्चित्तसत्त्व वासनारूपाः संस्कारास्तमुत्पद्यते । स च स्वर्गानरक्यदीनां फलानामङ्कुरीभवः कर्मणां वा योगादीनां शक्तिरूपतयाऽवस्थानम् । कच वा तथाविधमोम्यमोक्तत्वरूपं सामर्थ्यम् । संस्कारात् स्मृतिः स्मृतेश्च सुखदुःखोपभोगस्तदनुमयाश्च पुनरपि संस्कारस्मृत्यादयः । एवं च यस्य स्मृतिसंस्कारादयः मिमास्तस्यानन्तर्याभावो दुर्लभः । अर्थ्यकारणमायः । अस्माकं तु यदाऽनुभव एव संस्कारी भवति संस्कारश्च स्मृतिरूपतया परिणमते तदैकस्यैव चित्तस्यानुसम्भा एवेन स्थितत्वात् अर्थ्यकारणभावो न दुर्लभः ॥ ६ ॥

मयस्थानन्तर्यं कार्यकारणभावश्च वासनायां यदा तु प्रथममेवा अनुभवः प्रवर्तते तथा किं वासनामिमित्तं चतुर्निर्मितम् इति शङ्काम्यपनस्तुमाह—

भो वृ० का भा०—संसार में अनेक योनियों में भ्रमण करने वाले जीव अब एक योनि का भाग कर दूसरी सृष्टि की योनियों में घूमकर फिर वही योनि में प्राप्त होता है तब जिस योनि को पहिले भोगा था उसी योनि के शरीर के अवयव से उस योनि की वासना कारण के अभाव से छिपी हुई थी फिर अब उसी योनि का शरीर प्राप्त हुआ तो वही वासना फिर प्रकट हो जाती है । अति,

देश और काल का व्यवधान अर्थात् अन्तर होने पर भी अपने अनुभव किये फलसाधन से व्यवधान नष्ट हो जाते हैं क्योंकि स्मृति और संस्कार एक ही रूप होते हैं उनके अनुष्ठान से कर्मों के चित्त में वासना रूपसंस्कार उत्पन्न होते हैं वह वासना स्वर्ग और नरक आदि फलों का अंकुर रूप है उस अंकुर में यज्ञादि कर्म शक्तिरूप से रहते हैं अर्थात् कर्ता की भोग्य और भोक्तृ रूप शक्ति भी उसी वासना में रहती है वासना से स्मृति उत्पन्न होती है स्मृति से सुख और दुःख का भोग होता है और उनसे फिर संस्कार जिनके मत में स्मृति और संस्कार भिन्न-भिन्न हैं उनके मत में प्रवाह के अभाव से स्मृत्यादि में कार्यकारण भाव का होना कठिन है । हमारे मत में तो अनुभव ही संस्कार है और संस्कार ही, स्मृतिरूप में परिणत होता है एक ही चित्त का सब में सम्बन्ध रहता है इससे कार्यकारण भाव कठिन नहीं है ॥ ६ ॥

अब यह शंका होती है कि वासनादि का कार्यकारण भाव तो ठीक हुआ परन्तु जो प्रथम ही अनुभव (भोग) होता है वह वासना के निमित्त से होता है वा विना निमित्त ? इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं—

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥१०॥

सू० का प०—(तासामनादित्वम्) वासना अनादि हैं (आशिषो नित्यत्वात्) क्योंकि आशीर्वाद अर्थात् अपनी कल्याणेच्छा नित्य है ॥ १० ॥

सू० का भा०—आशीर्वाद के नित्य होने से वासना अनादि है ॥ १० ॥

व्या० दे० कु० भा०—तासां वासनानामाशिषो नित्य-

स्वादनादित्वम् वेयमात्माशीर्मा न भूवं भूयासमि
 द्रश्यते सा न स्वभाविकी । कस्मात् ? चातमत्र
 रननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेपदुःखानुस्मृतिमित्रो न
 कथं भवेत् । न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादा
 दनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्तवशात्
 वासनाः प्रतिलम्ब्य पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति ।
 सादप्रदीपकस्य सङ्कोचविकासि चित्तं शरीरपरिण
 मात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः । तथा चान्तराभासः
 युक्त इति । इतिरेवास्य विभुनः सङ्कोचविकासि
 चार्यः । तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षम् निमित्तं च वि
 माद्यमाध्यात्मिकं च । शरीरादिसाधनापेक्षं वाच्यं
 नाभिवादनादिचित्तमात्राधीनं भूदायाध्यात्मिकं त्व
 कम्—ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारस्ते ब्रह्मसं
 रनुग्रहात्मानः प्रकृष्ट धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति । त्वोर्मा
 वलीयः । कथं, ज्ञानवीर्याये केनातिशय्येते, दयःकर्म
 चित्तपल्लव्यतिरेकेण कः शरीरेण कर्मणा धून्व कः
 सुत्सहेतु समुद्रमगस्त्यबद्धा पिवेत् ॥ १० ॥

भा. का. प०—आशीर्वाद के नित्य हाने से ब्रह्मना धर्म
 में सर्वदा रहूँ मेरा नाश कभी न हो यह जो अपने ब्रह्म
 आशीर्वाद है सबमें शीलता है क्या यह स्वाभाविक नहीं
 अर्थात् अथर्व ही स्वाभाविक है क्योंकि तत्त्व ही के हैं ।

जन्तु को जिसने मरने के दुःख को नहीं भोगा है स्मृति के बिना मरने का भय कहाँ से होगा ? स्वाभाविक वस्तु निमित्त का आश्रय नहीं रखती इससे अनादि वासना से युक्त जो चित्त है, वह कारण-वश से किसी २ वासना को पाकर पुरुष को भोग देनेवाला होता है इस रीति से घट और अटारी के दीपक के समान अर्थात् दीपक को यदि घट में रखें तो वह घट से बाहर प्रकाश प्रदान नहीं कर सकता और जो दीपक को अटारी के ऊपर रख दो तो वह स्थान भर को प्रकाशित कर देता है ऐसे ही चित्त संकोच और विकास करता है शरीर के परिणाम के समान ही वह प्रकाश करता है यह भी किसी का मत है वैसे ही विच्छेद रहित ससार चित्त से व्याप्त है । इससे सिद्ध हुआ कि चित्त विभु अर्थात् व्यापक है और उसकी शक्ति संकोचविकास को प्राप्त होती है यह पतञ्जलि आचार्य का मत है । चित्त के संकोच और विकास धर्मादि निमित्तों के अधीन हैं । निमित्त दो प्रकार का है बाह्यनिमित्त और आध्यात्मिक निमित्त । जिसमें शरीरादि बाह्य साधनों की अपेक्षा हो वह बाह्य-निमित्त कहलाता है, जैसे स्तुति, दान और वन्दन करना अर्थात् प्रणाम करना आदि और जो केवल चित्त के ही आश्रित हो जैसे श्रद्धा आदि आध्यात्मिक निमित्त कहाते हैं ॥ १० ॥

भा० का भा० — वासना अनादि हैं क्योंकि मैं सदा रहूँ मेरा विनाश कभी न हो ऐसे अपने कल्याण की इच्छा प्राणिमात्र को होती है सो यह इच्छा स्वाभाविक है क्योंकि इस ही क्षण में उत्पन्न हुआ जो जन्तु है उसको भी मरने का भय होता है, यदि उसने मरने का दुःख भोगा नहीं तो उसे भय क्यों हुआ ? उसके भय होने से सिद्ध होता है कि वासना अनादि हैं, उन अनादि वासनाओं से भरे हुये चित्त में किसी निमित्त को पाकर वही वासना पुरुषों के भोग की कारण हो जाती है । चित्त दीपक के

स्वादिनादिस्वम् येयमात्माशौर्मा न भूयं भूयासमिति सर्वस्य
 दृश्यते सा न स्वभाविकी । कस्मात् ? जातमात्रस्य अन्तो-
 रननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेपदुःखानुस्मृतिमिच्छो मरणश्रासः
 कथं भवेत् । न च स्वाभाविक वस्तु निमित्तमुपादत्ते तस्मा
 द्नादिवासनानुबिद्मिदं चित्तं निमित्तमशात्काभिदेव
 वासनाः प्रवृत्तिभ्यः पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति । घट्प्रा-
 सादप्रदीपकम्प सङ्कोचविकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकार
 मात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः । तथा चान्तराभावः ससारम-
 युक्त इति । इतिरेवास्मिन् चित्तुनः सङ्कोचविकासिनीत्याः
 चार्थः । तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षम् निमित्तं च द्विविधम्
 माद्यमाध्यात्मिकं च । शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यं स्तुतिदा-
 नाभिवादिनादिचित्तमात्राधीनं भद्राद्याध्यात्मिकं तथाचो-
 क्तम्—ये चैते मैत्र्यादयो व्यापिनां विहारस्ते बाह्यसाधननि-
 रनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति । तयोर्मानस-
 वस्तीयः । कथं, ज्ञानवैराग्ये केनातिशय्येते, दण्डकारण्यच-
 चित्तवृत्तव्यातिरेकेण कः शारीरेण कर्मणा धून्य कः कर्तुं
 सुत्सहेतुः ससुखमगस्त्यवद्वं पिबेत् ॥ १० ॥

भा० का प०—आशीर्वाद के निमित्त होने से वासना अनादि हैं
 मैं सर्वदा रहूँ मरा नाश कभी न हो यह जो अपने आत्मा का
 आशीर्वाद है सबमें दीखता है क्या यह स्वाभाविक नहीं है ?
 अर्थात् अवश्य ही स्वाभाविक है क्योंकि तत्त्वज्ञ ही के अस्तित्व हुए

जन्तु को जिसने मरने के दुःख को नहीं भोगा है स्मृति के बिना मरने का भय कहाँ से होगा ? स्वाभाविक वस्तु निमित्त का आश्रय नहीं रखती इससे अनादि वासना से युक्त जो चित्त है, वह कारण-वश से किसी २ वासना को पाकर पुरुष को भोग देनेवाला होता है इस रीति से घट और अटारी के दीपक के समान अर्थात् दीपक को यदि घट में रखें तो वह घट से बाहर प्रकाश प्रदान नहीं कर सकता और जो दीपक को अटारी के ऊपर रख दो तो वह स्थान भर को प्रकाशित कर देता है ऐसे ही चित्त सकोच और विकास करता है शरीर के परिणाम के समान ही वह प्रकाश करता है यह भी किसी का मत है वैसे ही विच्छेद रहित ससार चित्त से व्याप्त है । इससे सिद्ध हुआ कि चित्त विभु अर्थात् व्यापक है और उसकी शक्ति सकोचविकास को प्राप्त होती है यह पतञ्जलि आचार्य का मत है । चित्त के सकोच और विकास वर्मादि निमित्तों के अधीन हैं । निमित्त दो प्रकार का है बाह्यनिमित्त और आध्यात्मिक निमित्त । जिसमें शरीरादि बाह्य साधनों की अपेक्षा हो वह बाह्य-निमित्त कहलाता है, जैसे स्तुति, दान और वन्दन करना अर्थात् प्रणाम करना आदि और जो केवल चित्त के ही आश्रित हो जैसे श्रद्धा आदि आध्यात्मिक निमित्त कहाते हैं ॥ १० ॥

भा० का भा० — वासना अनादि हैं क्योंकि मैं सदा रहूँ मेरा विनाश कभी न हो ऐसे अपने कल्याण की इच्छा प्राणिमात्र का होती है सो यह इच्छा स्वाभाविक है क्योंकि इस ही क्षण में उत्पन्न हुआ जो जन्तु है उसको भी मरने का भय होता है, यदि उसने मरने का दुःख भोगा नहीं तो उसे भय क्यों हुआ ? उसके भय होने से सिद्ध होता है कि वासना अनादि हैं, उन अनादि वासनाओं से भरे हुये चित्त में किसी निमित्त को पाकर वही वासना पुरुषों के भोग की कारण हो जाती हैं । चित्त दीपक के

समान, है उसे प्रकाश करने को जितना अपकाश मिलेगा उतना ही वह प्रकाशित होगा, इससे कोई २ मानत हैं कि चित्त शरीर के अनुसार ही प्रकाश करता है परन्तु उसकी शक्तियों का संकोच और विकास होता है। चित्त के संकोच और विकास का निमित्त धर्मादि हैं। निमित्त वा कारण वा प्रकार क हात है—एक बाह्य और दूसरा आध्यात्मिक। जिसमें बाह्य शरीरादि साधनों की आवश्यकता हो वे ज्ञान और शिष्टवृत्त्यादि बाह्य हैं और दूसरा वह है जिसमें केवल चित्त वृत्तियों की ही अपेक्षा हो जैसे भ्रष्टादि इन दोनों में से मानसिक वस्तुज्ञान हैं क्योंकि ज्ञान और वैराग्य से अधिक कोई नहीं है शारीरिक कर्म से कौन दण्डकारण्य को उजाड़ सकता है और अगस्त्य के समान समुद्र का कौन सुखा सकता है अभिप्राय यह है कि ज्ञान और वैराग्य से सुख प्राप्त होता है योग से नहीं ॥ १० ॥

भा० पु०—तासां वासनामाममादित्यं न विद्यत आदिर्यस्य तस्य भावस्तस्य तासामादिर्नास्तीत्यर्थः। कुत इति—आशिषा नित्यत्वात् वेदमाशीममहामाहस्या सदैव सुखसाधनामि मे भूयात्तु, मा क्वा चन तैमवियागाऽभूदिति। य सङ्गस्त्वविद्येया वासमानां कारणं तस्य नित्यत्वाद्वाचनादिरवादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति—कारणस्य समिहित-त्वाद्नुमवसंस्कारादीनां कल्प्याणां प्रवृत्तिः कम बाध्यते अनुमव संस्कारानुविद्यु सङ्गावपि कस्यमि चित्त तत्त्वमिष्यत्वात्कलाभात् तत्तत् फलरूपतया पारम्यमत इत्यर्थः ॥ १ ॥

तासामानम्यान् हानं कर्म भवतीत्यारोक्य हानापायमाह—

भा० पु० का मा —वासनाओं के अनादि होने से ऊपर किसी शंका नहीं हो सकती है। अनादि का अर्थ यह कि—नहीं हैं आदि जिसकी। वासना अनादि क्यों है? इसका उत्तर यह है कि आत्मा सम्बन्धी आशीर्वाद अर्थात् शुभाशंका नित्य है इस

कारण वासना भी नित्य है, यह जो महामोह रूप आशीर्वाद है अर्थात् मुझे सदैव सुख के साधन रहें उनसे मेरा वियोग कभी न हो, यही संकल्प वासना का कारण है अभिप्राय यह हुआ कि कारण के समीप रहने से अनुभव और संस्कार रूपी कार्य नहीं रुक सकते हैं, अनुभव और संस्कार से युक्त चित्त संस्कारादि के प्रकाशक को पाकर परिणाम को धारण करता है ॥ १० ॥

संकल्प और वासनादि के अनादि और नित्य होने से उनका नाश क्योंकर होगा ? इस शङ्का का समाधान अगले सूत्रमें करते हैं

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे

तदभावः ॥ ११ ॥

सू० का प०—(हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वात्) कर्मादि के हेतु, फल और आश्रय के आलम्बन द्वारा संगृहीत होने से (एषामभावे) इन हेत्वादि के अभाव में (तदभावः) उसका भी अभाव हो जाता है ॥ ११ ॥

सू० का भा०—हेतु, फल और आश्रयके आलम्बन से वासनादि रहती हैं, और इनके अभाव से उनका भी अभाव हो जाता है ॥ ११

व्या० दे० कृ० भा०—हेतुर्धर्मात् सुखमधर्मात् दुःखं, सुखाद्रागो दुःखाद्द्वेषस्ततश्च प्रयत्नस्तेन मनसा वाचा कायेन वा परिस्पन्दमानः परमनुगृह्णात्युपहन्ति वा ततः पुनर्धर्माधर्मौ सुखदुःखे रागद्वेषाविति प्रवृत्तमिदं षडरं संसारचक्रम् । अस्य च प्रतिक्षणमावर्तमानस्याविद्या नेत्री मूलं सर्वक्लेशानामित्येष हेतुः । फलन्तु यमाश्रित्य यस्य प्रत्युत्पन्नता धर्मादेः,

नष्टपूर्वोपवनः । मनस्तु साधिकारमाश्रयो वासनानाम् ।
 नष्टवसिताधिकारे मनसि निराश्रया वासनाः स्यादुमुत्सहन्ते ।
 यदमिसुखीभूत वस्तु यां वासनां व्यनक्ति तस्यास्तदाव
 लम्बनम् । एष हेतुफलाभ्यालम्बनैरेतैः संगृहीताः सर्वा
 वासनाः । एषामभावे तत्समयाद्यामपि वासनानामभावः ११

नास्त्यसप्तः सम्मथो, न चास्ति सतो विनाश इति
 द्रव्यत्वेन सम्मथन्त्यः कथं निवर्तिष्यन्ते वासना इति —

भा० क्य प०—हेतु का बर्धन करते हैं—धर्म से सुख और
 अधर्म से दुःख हाता है सुख से राग हाता है और दुःख से द्वेष
 हाता है । राग द्वेष से प्रयत्न मन से धर्म से वा शरीर से चेष्टा
 करता है इस रीति से इन सबके हेतु धर्म और अधर्म हुए उस
 अनुभव और निमग्न से फिर भी धर्म और अधर्म तथा राग द्वेष
 हात हैं इस रीति से ज्ञः आरे धात्रा यह संसार चक्र प्रवर्तित है
 यह जो प्रतिक्षण संसार चक्र चकता रहता है इसका अधिष्ठा ही
 मूल है सर्व क्लेशों का हेतु अधिष्ठा है । फल उसे कहते हैं जिसका
 आश्रय परकर जिस धर्मादि की सात्त्विक उत्पत्ति होती है ।
 अनूर्ध्व उत्पत्ति नहीं हाती और मन वासनाओं का अधिकार
 अर्थात् संस्कार सहित आधार है जिस मनमें वासना का अधि
 कार अर्थात् संस्कार नहीं हाता उसमें आश्रय सहित वासना भी
 नहीं रह सकती । जिस गुण वाली वस्तु जिस वासना को प्रकट
 करती है उस वासना का वही आश्रय वा आधार है इस रीति से
 हेतु फल और आश्रय के आलम्बन से सब वासनायें संगृहीत हैं
 इत्यादिकों के अभाव में उनके आश्रय में रहने वाली वासनाओं
 का भी अभाव हाता है ॥ ११ ॥

असत् की विद्यमानता कभी नहीं होती और न सत् का कभी अभाव होता है इससे द्रव्यत्व के रूपमें उत्पन्न होने वाली वासनायें कैसे दूर होगी—

भा० का भा०—सूत्र में लिखे हुये हेतु का अर्थ यह है कि धर्म से सुख, अधर्म से दुःख, सुख से राग, दुःख से द्वेष इन दोनों से प्रयत्न उत्पन्न होता है उस प्रयत्न से मानसिक, बाह्यमयी वा शारीरिक क्रिया होती है जिससे अन्य प्राणियों पर कृपा वा प्रहार किया है उस अनुग्रह वा निग्रहसे पुनरपि धर्म वा अधर्म का प्रादुर्भाव होता है उनसे फिर सुख, दुःख और राग, द्वेष उत्पन्न होते हैं इस रीति से यह संसार चक्र जिसके धर्मादिक छः आरे हैं घूमता रहता है परन्तु इस संसार चक्र का मुख्य हेतु अविद्या है । फल उसे कहते हैं जिसके आश्रय से वासना उत्पन्न हों, यदि कोई शका करे कि वासना मन के आश्रय से उत्पन्न होती है तो क्या फल चाञ्च्य मन है ? इसका उत्तर यह है कि जिस मनमें जिस प्रकार का वस्तु संस्कार होगा वैसी ही वासना को उत्पन्न करेगा इस लिये हेतु और फल के आश्रय से वासना का प्रादुर्भाव होता है और इनके अभाव से वासनाओं का भी अभाव होता है क्योंकि असत् का होना और सत् का विनाश कभी नहीं हो सका ॥११॥

भा० वृ०—वासनानामनन्तराऽनुभवा हेतुस्तस्याप्यनुभवस्य रागादयस्तेषामविद्येति साक्षात् पारम्पर्येण हेतुः फलं शरीरादि स्मृत्यादि च । आश्रयो बुद्धिसत्त्वम् । आलम्बनं यदेवानुभवस्य तदेव वासनानामतस्तैर्हेतुफलाश्रयालम्बनैरनन्तानामपि वासनाना सगृहीतत्वात्तेषां हेत्वा दीनामभावे ज्ञान योगाभ्या दग्धबाजकल्पत्वे विहिते निर्मूलत्वान्न वासनाः प्ररोहन्ति न कार्यमारभन्त इति सासामभावः ॥ ११ ॥

ननु प्रतिक्षणं चित्तस्य नश्वरत्वोपलब्धेर्वासनाना तत्फलानाञ्च

कार्य्यकारणभावेन युगपद्भाविस्थान् वे कश्चनेकस्थमित्यारभ्य एक
स्वसमर्थनायाह—

मो० पू० का भा० वासनाओं का हेतु अनुभव है और अनुभव
का हेतु रागादिक हैं और रागादि की हेतुमूल अभिधा है और इन
के फल शरीरादि वा स्मृति आदि हैं और बुद्धि इनका अभिज्ञान
है । जो अनुभव के अभिज्ञान हैं वही वासनाओं के भी हैं इस
कारण वासना अनादि और अनन्त होने पर भी हेतु के अभाव
से और योग तथा ज्ञान से उसके दृष्टादि का व्यव धीमे दग्धवत्
हो जाता है तब वासना व्यय होकर अपन कार्य्य का नहीं कर
सकती है इससे वासनाओं का अभाव कहा जाता है ॥ ११ ॥

अब सन्देह यह होता है कि चित् प्रति वृत्ति विनष्ट होता है
वासना और वासना के फल आ कार्य्य कारण भाव से एक समय
में होने वाले हैं और भिन्न भिन्न हैं तब उनको एक क्योंकर कहा
जाता है इसका उत्तर अगले सूत्र में करते हैं—

अतीतानागत स्वरूपतोऽस्त्यध्वमेदादूर्माणाम् १२

सू० का प०—(अतीतानागतम्) भूत और भविष्य
(स्वरूपतोऽस्ति) स्वभाव से है (अध्वमेदादूर्माणाम्)
गुणों के मार्ग विभिन्न होने से ॥ १२ ॥

सू० का प — तीनों कास गुणों से भिन्न २ हैं ॥ १२ ॥

व्या० दे० क० भा०—भविष्यवृत्त्यक्तिकमनागतम्,
अनुभूतवृत्त्यक्तिकमतीतम्, स्वप्नापारोपारूढ वर्तमानम्, त्रय
वैतद्वस्तुज्ञानस्य रूपम् । यदि चैतत् स्वरूपतो नामविष्य-
न्नर्धं निविषय ज्ञानमुदपत्स्यत । तस्मादतीतानागतं स्वरूप-

तोऽस्तीति । किंच भोगभागीयस्य वापवर्गभागीयस्य वा कर्मणः फलमुत्पित्सु यदि निरुपाख्यमिति तदुद्देशेन तेन निमित्तेन कुशलानुष्ठानं न युज्येत । सतश्च फलस्य निमित्तं वर्तमानोकरणे समर्थं नापूर्वोपजनने । सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्य विशेषानुग्रहणं कुरुते नापूर्वमुत्पादयतीति । धर्मी चानेकधर्मस्वभावस्तस्य चाध्वभेदेन धर्माः प्रत्यवस्थिताः । नच यथा वर्तमानम् व्यक्तिविशेषापन्नं द्रव्यतोऽस्त्येवमतीतमनागतं च । कथं तर्हि स्वेनैव व्यङ्ग्येन स्वरूपेणानागतमस्ति । स्वेन चानुभूतव्यक्तिकेन स्वरूपेणातीतमिति वर्तमानस्यैवाध्वनः स्वरूपव्यक्तिरिति न सा भवत्यतीतानागतयोरध्वनोः । एकस्य चाध्वनः समये द्वावध्वानौ धर्मिसमन्वागतौ भवत एवेति नाभूत्वा भावस्त्रयाणामध्वनामिति । १२

भा० का प०—भविष्यकाल अनागत कहलाता है, जिस काल का अनुभव किया गया है उसे अतीतकाल कहते हैं । जो अपनी क्रिया कर रहा है उसे वर्तमान काल कहते हैं । ये तीनों वस्तुओं के ज्ञान में प्रथम ज्ञेय हैं अर्थात् विना काल ज्ञान के किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता । यदि यथार्थ में यह कुछ न हो तो निर्विषय ज्ञान ही उत्पन्न न हो और भी भोग भाग वाले कर्म अथवा मोक्ष भागवाले कर्म का उत्पन्न होने वाला फल यदि उपाधि रहित है तो उद्देश्य से वा उसकी प्रयोजकता से उत्तम कर्मों का करना भी नहीं हो सकेगा । होने वाले फल का निमित्त उसे वर्तमान करने में समर्थ हो सकता है । इससे सिद्ध हुआ निमित्त नैमित्तिक पर विशेष अनुग्रह करता है । न कि पहले उसे उत्पन्न करता है । धर्मी

अर्थात् गुणी अमक गुण वासा होता है मार्ग मेव से गुण स्थिर होते हैं न कि जैसे द्रव्य रूप से व्यक्तिस्थ को प्राप्त हुआ है, वैसे ही मूत और भविष्य भी होते हैं, तब किस रीति से मूत और भविष्य का व्यक्तिस्थ जाना जाता है अपन व्यङ्ग रूप से भविष्यत् और अनुमूत रूपसे मूत काल है वर्तमान मार्ग के ही स्वरूप की व्यक्ति होती है अनागत और मूत की नहीं। वह प्रकाश एक काल के मार्ग में वा अन्य मार्गों का नहीं हो सक्ता है परन्तु गुणी क सम्बन्ध से वो हो सक्ता है किन्तु तीनों कर्मों का अभाव नहीं हो सक्ता ॥ १२ ॥

भा० का मा०—भविष्यत्, मूत और वर्तमान ये तीनों काल वास्तव में भिन्न २ हैं और ज्ञानादि में वही सहायक हैं यदि ये न हों तो किसी वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान न हो। एवं मोग भागीय अवस्था माघ भागीय कर्म का फल संशय रहित हो उत्पन्न होने वाला है उसके उद्देश्य से अवस्था उसके निमित्त से कोई भी शुभ कर्म का प्रारम्भ न करे अतएव गुणी एक काल होने पर भी उसके गुणों के मार्ग भिन्न २ हैं ॥ १२ ॥

मो० ५०—इहात्यग्तमसता मायानामुत्पत्तिर्न युक्तिमती तेषां सत्य सम्बन्धायोगात्। न हि शशबिपायादीनां क्वचिदपि सत्य सम्बन्धो ऽस्ति। निरुपाक्यं च काय किमुद्दिश्य कारयानि प्रवर्त्तेरन्। नहि विषयमनालोप्य कश्चित् प्रवर्त्तते। सतामपि विरोधान्नामात्र सम्बन्धाऽस्ति यत्स्वरूपेणाप्रवृत्तता तत्कर्म निरुपाक्यताममात्ररूपतां वा भ्रमन न विरुद्ध रूप स्वीकरोतीत्यर्थः। तस्मात्सतांशानामवस्थावसतां चोत्पत्त्यसम्बन्धाद्वैतैर्धर्मैर्विरिण्ममानो धर्मी सर्ववैकरूपतयावतिष्ठति। यमास्तु अपि कस्त्वन प्रैकालिकस्त्वन व्यवस्थिताः स्वस्मिन् स्वस्मिन् धर्मानि व्यवस्थिता न स्वरूपं त्यजन्ति। वर्तमानाऽध्वमि व्यवस्थिता कबलं भाग्यता भ्रमन्ते। तस्मात्समाप्ति-

मतीतानागतादिभेदात्तेनैवरूपेण कार्यकारणभावोऽस्मिन् दर्शने प्रतिपाद्यते । तस्मादपवर्गपर्यन्तमेकमेव चित्तं धर्मितयानुवर्तमानं न निन्दोतुं पार्यते ॥ १२ ॥

त एते धर्मधर्मिणः किं रूपा इत्याह—

भो० वृ० का भा०—संसार में अत्यन्त असत् भावों की उत्पत्ति युक्त नहीं है क्योंकि असत् वस्तुओं का बुद्धि के साथ सम्बन्ध नहीं होता खरहे के सींगों का सम्बन्ध कहीं भी नहीं देखते जो असत् कार्य हैं उनमें कारण की प्रवृत्ति ही नहीं होती है कोई भी बुद्धिमान् असत् के विचार में प्रवृत्त नहीं होता और जो सत् पदार्थ हैं उनका अभाव के साथ सम्बन्ध नहीं होता । जिस रूप का भाव है, वह अभाव को क्योकर प्राप्त हो सकता है अर्थात् विरुद्ध धर्म को कोई धारण नहीं कर सकता है । इस कारण सत् के अभाव न होने से और असत् की उत्पत्ति न होने से धर्मी अनेक अवस्थाओं में परिणत होने से भी सत् स्वरूप रहता है । उस सत् रूप धर्मी में धर्म तीन काल के मार्ग से रहता है । वे काल भी अपने रूप को त्याग नहीं करते हैं जैसे वर्तमान मार्ग में स्थित वासना और कर्मादि केवल भोग्यभाव में स्थित रहते हैं इस कारण भूत और भविष्य आदि भेद से कार्यकारण भाव को धारण करता है । अब यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष पर्यन्त भी धर्मी रूप से चित्त एक ही रहता है बदलता नहीं ॥ १२ ॥

आगे धर्म और धर्मी के स्वरूप को कहते हैं—

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

सूत्र का प०—(ते) वे तीनों मार्ग (व्यक्तसूक्ष्माः)

व्यक्त और सूक्ष्म (गुणात्मनः) गुणवाले हैं ॥ १३ ॥

सू० का भा०—उक्त तीनों मार्ग प्रकट और सूक्ष्म गुणवाले हैं ।

व्या० दे० कु० मा०—तेष्वस्वमो व्यञ्जानो घर्मो वर्तमाना व्यक्तात्मानोऽतीतानागताः सूक्ष्मात्मानः पद् विधे पुरुषाः । सर्वमिदं गुणानां सन्निवेशविधेयमात्रमिति परमार्थसो गुणात्मानः तथाच शास्त्रानुशासनम्—

गुणानां परम रूपं न दृष्टिपथमुच्छति ।

यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकमिति ॥ १३ ॥

यदा तु सर्वे गुणाः कथमेकः शब्द एकमिन्द्रियमिति—

मा० का प०—पूर्वसूत्र में कहे तीन मार्गवाले घर्मों में वर्तमान प्रकट रूपवाले हाते हैं मूत और मविष्यत् सूक्ष्म रूपवाले हाते हैं यह जड़ों के रूप में समानता है यह सब गुणों के सम्भाव से ही मिश्रता है यथार्थ म वा गुणरूप ही है ऐसी ही अन्य शास्त्रों की भी व्याख्या है, गुणों का यथाथ रूप नष्टों से नहीं दीखता है और आ नेत्रों से दीखता है वह सब माया है ॥ १३ ॥

यदि वे सब गुण ही हैं तो किस प्रकार से यह कहा जाता है कि एक ही शब्द है और एक ही इन्द्रिय है—

मा० का मा०—पूर्व सूत्र म कहे वा गुणों के तीन मार्ग उनमें से वर्तमान मार्ग तो प्रकट रहता है और मूत तथा मविष्यत् मार्ग सूक्ष्म रूप से रहते हैं अन्य शास्त्रों में भी कहा है कि गुणों का यथार्थ रूप दृष्टिगत नहीं होता और आ इन्द्रियों से देखा जाता है वह सब माया है ॥ १३ ॥

मा० पु०—एतं धर्मवर्णिताः प्राक्तनस्त व्यक्तसूक्ष्मभेदेन व्यवस्थिता गुणः सत्त्वरजस्तमा रूपास्तदात्मानस्तसत् सत्त्वमायास्तत्परिणामस्या इत्यर्थः । यतः सत्त्वरजस्तमाभिः सुक्ष्मदुःखमादरूपैः सर्वास्त बाह्याभ्यन्तरभेदमिमानां मायम्यकिनामन्वबाहुगमा दृश्यत ।

यद्यदन्वयि तत्तत्परिणामिरूपं यथा घटादयो मृदन्विता मृत्परिणाम
रूपाः ॥ १३ ॥

यद्येते त्रयो गुणाः सर्वत्रमूलकारणं कथमेको धर्मीति व्यपदेशः
इत्याशंक्याह—

भो० वृ० का भा०—यह जो वर्म धर्मी पूर्व कहे वे प्रत्यक्ष और
सूक्ष्मरूप से रज, और तमोगुण रूप से उनके ही परिणाम और
उनके ही स्वभाव वाले होते हैं क्योंकि सत्व, रज और तमोगुण से
ही वे सब भाव जो कि बाह्य और आभ्यन्तर भेदों से प्रकट होते
हैं भाव रूप दिखाई देते हैं जोर जिसका अनुगामी वा सम्बन्धी
होता है वह उसका ही परिणाम होता है जैसे घट मट्टी का
अन्तिम वा सम्बन्धी होता है इस कारण मट्टी का ही परिणाम
है ॥ १३ ॥

अब शंका यही होती है कि यदि वह तीनों गुण सर्वत्र कारण हैं
तो धर्मी एक क्योंकर हो सक्ता है इसका उत्तर अगले सूत्रमें देते हैं—

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

सू० का प०—(परिणामैकत्वात्) परिणाम की
एकता से (वस्तुतत्त्वम्) वस्तुओं का तत्त्व जाना जाता
है ॥ १४ ॥

सू० का भा०—परिणाम के अनुसार वस्तुओं का तत्त्व विदित
होता है ॥ १४ ॥

व्या० भा०—प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां
ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियं
आद्यात्मकानां शब्दभावेनैकः परिणामः शब्दो विषय इति

शब्दादीनां मूर्तिसमानधातीयानामेकः परिणामः पृथ्वीपर-
माणुस्तन्मात्रावयवस्तेषां चेकःपरिणामः पृथिवी गौरवः
पर्वत इत्येवमादिभूतान्तरेष्वपि स्नेहौष्ण्यप्रक्षामित्वावका-
शदानान्युपादाय सामान्यमेकविकारारम्भः समाधेयः ।
नास्त्यर्थो विज्ञानविसद्वचरोऽस्ति तु ज्ञानमर्थविसद्वर-
स्वप्नादौ कल्पितमित्यनया दिशा ये वस्तुस्वरूपमपहृवते
ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तु स्वप्नविषयोपमं न परमावतो-
ऽस्तीति य आहुस्ते तथेति प्रत्युपस्थितमिदं स्वमाहात्म्येन
वस्तु कथमप्रमाणात्मकेन विकल्पज्ञानवस्तेन वस्तुस्वरूपमुत्-
सृज्य तदेषापक्षपन्तः भक्षयवचनाः स्युः ॥ १४ ॥

कुतश्चेतदन्याय्यम्—

भा० का ५०—प्रख्या अर्थात् प्रकाशशील किंवाशील और स्थिति-
शील प्रख्यात्मक गुणों का कारण भाव से एक ही परिणाम मात्र
इन्द्रिय है और जो प्रख्य किये ज्ञान प्राप्त विषय हैं, उनका भी
तन्मात्र भाव से एक ही शब्द परिणाम है । शब्दादिकों का भी एक
ही परिणाम परमाणु रूप है और उन परमाणुओं का परिणाम
पृथिवी गौ पृथ्वी और पर्वत आदि हैं । स्नेह और उष्णता आदि
अन्य मूर्तों का परिणाम भी अवकाश पाकर एक विकार का
आरम्भ करत हैं । कोई भी अर्थ विज्ञान के बिना चरितार्थ होने
वाला नहीं है किन्तु ज्ञान अर्थ के बिना होता है । जो स्वप्नादि में
ज्ञान के बिना अर्थ होता है वह केवल कल्पना मात्र है वास्तव में
कुछ नहीं । इस रीति से जो लोग वस्तु के स्वरूपका अपव्याप करते
हैं कि ज्ञान कल्पना मात्र है वस्तु स्वप्न के समान होती है वगैरह

मे कुछ नहीं है उनका कथन ठीक नहीं ॥ १४ ॥

भा० का भा० — प्रकृति, क्रिया और स्थितिशील जो प्रधानात्मक गुण हैं, उनका कारण रूप एक परिणाम, आद्यात्मक दूसरा परिणाम, इन्द्रिय विषयरूप तीसरा परिणाम पृथिवी, परमाणु, तन्मात्रा और अवयव रूप चौथा परिणाम, और पृथिवी, गौ, वृक्षादि अन्य तत्वों के संयोग से पंचम परिणाम होता है । इन सब कारणों से एक विकार आरम्भ होता है ॥ १४ ॥

भो० वृ० — यद्यपि त्रयो गुणास्तथापि तेषापङ्गाङ्गिभावगमन-लक्षणो यः परिणामः क्वचित् सत्त्वमङ्गि क्वचिच्च तम इत्येवं रूपस्तस्यैकत्वाद्वस्तुतमेकत्वमुच्यते । यथेय पृथ्वी अयं वायुरित्येवमादि ॥ १४ ॥

ननु च ज्ञानव्यतिरिक्ते सत्यर्थे वस्त्वेकमनेकं वा वक्तुं युज्यते । यदा विज्ञानमेव वासनावशात् कार्यकारणभावेनावस्थितं तथा तथा प्रतिभाति तदा कथमेतच्छक्यते वक्तुमित्याशक्याह —

भो० वृ० भा० — यद्यपि गुण तीन हैं तब भी वह अङ्गाङ्गि भाव जो एक परिणाम को धारण करने अर्थात् कभी सत्त्वगुण अङ्गी और दूसरे गुण उसके अङ्ग हो जाते हैं । कहीं रजोगुण और कहीं तमोगुण अङ्गी हो जाता है इस प्रकार से अङ्गी गुण की एकता को समस्त के धर्मों भी एक कहा जाता है जैसे पृथ्वी में और तत्वों के भी परमाणु मिले हैं तो भी यह एक पृथ्वी कहलाती है ऐसे ही वायु आदि में भी एकता का व्यवहार होता है ॥ १४ ॥

यह सन्देह हो जाता है कि ज्ञान से भिन्न जो वस्तु हो उसमें एकता व अनेकता कही जा सकती है परन्तु जब विज्ञान ही वासन के द्वारा कार्यकारण भाव से प्रतीत होता है तब एकता वा अनेकता क्योंकर कही जा सकती है ? इसका उत्तर अगले सूत्र में कहते हैं —

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥१५॥

सू० का प०—(वस्तुसाम्ये) वस्तु की एकता में (चित्तभेदात्) चित्त के भेद से (तयोर्विभक्तः पन्थाः) धर्म और धर्मी का मार्ग भिन्न है ॥ १५ ॥

सू० का प०—वस्तु की एकता होने पर भी चित्तभेद से अज्ञा माग भिन्न है ॥ १५ ॥

व्या० भा०—बहुविधावलम्बनीभूतमेक वस्तु साधारणं, तत्संस्तु नैकचित्तपरिकल्पितं नाप्यनेकचित्तपरिकल्पितं किन्तु स्वप्रतिष्ठम् कश्च, वस्तुसाम्ये चित्तभेदात् । धर्मापेक्ष चित्तस्य वस्तुसाम्येऽपि सुखज्ञानं भवत्यधर्मापेक्षं तत् एव दुःखज्ञानमविद्यापेक्षं तत् एव मूढज्ञानं सम्यग्दर्शनापेक्षं तत् एव माप्यस्य ज्ञानमिति । कस्य तन्निश्चितेन परिकल्पितम् । न चान्यचित्तपरिकल्पितेनार्थेनान्यस्य चित्तोपरागो युक्तः । तस्माद्वस्तुज्ञानयोर्ब्रह्मण्यभेदभिन्नयोर्विभक्तः पन्थाः । नानयोः संकरगन्धोऽप्यस्तीति सांख्यपक्षे पुनर्वस्तु त्रिगुणं च तच्च गुणवृत्तमिति धर्मादिनिमित्तापेक्षं चित्तरमित्संशय्यते । निमित्तानुरूपस्य च प्रत्ययस्यात्ययमानस्य तेन तेनात्मना हेतुमवति । केचिदाहुः—ज्ञानसहभूरेवार्थो भाम्यत्वात् सुखादिवदिति त एतया द्वारा साधारणत्वं बाधमानाः पूर्वोच्येण वक्ष्यन् वस्तुरूपमेवापन्नुवते ॥ १५ ॥

भा का प०—अनेक चित्तों में आलम्बनीभूत एक वस्तु साधा-

एण अर्थात् सामान्य है । वह वस्तु एक चित्त के द्वारा कल्पित नहीं हुई है न अनेक चित्तों के कल्पना करने के योग्य है किन्तु वह वस्तु स्वप्रतिष्ठ अर्थात् अपरिणामी वा कल्पनारहित है क्योंकि ज्ञेयवस्तु की एकता होने पर भी चित्त भेद से । उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे धर्म के कारण से वस्तु की एकता में भी चित्त को सुख ज्ञात होता है अधर्म से उसी चित्त को दुःख ज्ञान होता है अविद्या के सस्कार से उसी चित्त को मूढ ज्ञान होता है और सम्यग्दर्शन से उसी चित्त को मध्यस्थ ज्ञान होता है । यह सब ज्ञान किसको होते हैं । उसी एक चित्त से परिकल्पित हैं क्योंकि दूसरे चित्त के कल्पित अर्थों से दूसरा चित्त उपरक्त नहीं हो सकता इस हेतु से वस्तु अर्थात् ज्ञेय पदार्थ और ज्ञानका मार्ग भिन्न २ है इन दोनों में मिलावट का लेश भी नहीं है । फिर साख्य के पक्ष में वस्तु त्रिगुण है और गुण चञ्चलवृत्तिवाले हैं इसलिये धर्मादि निमित्त से चित्त के संग सम्बन्ध रखते हैं धर्मादि निमित्त के अनुकूल ही उत्पन्न हुआ जो ज्ञान वह जिस आत्मा को हुआ है उसी आत्मा के ज्ञान का हेतु है । कोई २ कहते हैं कि वस्तु का इन्द्रियार्थभी ज्ञान के संग ही उत्पन्न होता है क्योंकि ज्ञेय के बिना ज्ञान का होना असम्भव है जैसे मुख अर्थात् जब सुख की सामग्री वा सुख ही न होगा तो मुखज्ञान कैसे होगा ॥१५

भा० का भा०—बहुत लोग कहा करते हैं कि बाह्य वस्तु कुछ नहीं है किन्तु अन्तःकरणस्य विज्ञान ही सब कुछ है क्योंकि यदि बाह्य वस्तु भी कुछ हो तो दोनों में अभेद हो जायगा इसका उत्तर यह है कि जो वस्तु अनेक चित्तों के द्वारा कल्पित नहीं है किन्तु ज्ञेयवत् धर्मयुक्त साधारण वस्तु है क्योंकि एक चित्त में निमित्तानुसार अनेक ज्ञान होते हैं जैसे धर्म से सुख ज्ञान, अधर्म से दुःख ज्ञान, अविद्या से मूढ ज्ञान और सम्यग्दर्शन से मध्यस्थ

ज्ञान एक ही चिन्तमें होता है । यदि ज्ञानमेव होता तो एक चिन्त में अनेक ज्ञान न होते और एक मनुष्य के ज्ञान का दूसरे के चिन्त में आरोप होना भी असम्भव है । इसलिये वस्तु अर्थात् वय और ज्ञान का असम्बन्ध भेद है इन दोनों में एकता की गम्भ भी नहीं है । साक्ष्य के सत् में वस्तु त्रिगुणात्मक है और गुण चञ्चल वृत्ति प्राप्त हैं । धर्मादि रूप से ज्ञान के हाकर चिन्त से सम्बन्ध रहित हैं एवं वंसा निमित्त हाता है वंसा ही ज्ञान अस्पन्ना हाकर आत्मा से संयुक्त होता है । किन्हीं २ लोगों का यह भी मत है कि ज्ञान के संग ही इन्द्रियों के विषय भी उपन्न हाते हैं क्योंकि बिना विषयों के ज्ञान किसी रीति से नहीं हा सकता है, जैसे-सुख वा दुःख बिना ज्ञान के नहीं हा सकते और बिना सुख दुःख के ज्ञान किसका हागा ॥ १५ ॥

भा० घृ०—तथाज्ञानाध्याविचिच्छः पम्या विचिच्छो मार्ग इति यावत् । कथं वस्तुसाम्यं चित्तमेवात् । समान वस्तुनि स्म्यादावुपलभ्यमाना साध्यादी नानाप्रमावृत्ता विचिच्छ मेवः सुखदुःखमाह रूपतया समुपलभ्यत । तथाहि—एकस्या रूपलाभण्यवस्था यापिति उपलभ्यमानाया सरागस्य सुखमुत्पद्यत सपस्यास्तुद्वेष्ट परित्रात्र कारेषु एतत्कस्मिन् वस्तुनि नानाविधविचिच्छायात् कथं चित्तका म्यस्य वस्तुन एकचित्तका म्यत्व वस्त्रकल्पतयेवावमासेत । किञ्च चित्तका म्यस्य वस्तुना यदीयस्य तद्वस्तु का म्य तस्मिन्मर्षान्तर म्यामक्त ऽतद्वस्तु न चिच्छिन्स्यात् । भवति च तदेव कथम न्येवहुभिन्नतलभ्यत उपलभ्यत च । तस्मात्त चित्तका म्यम् । अथ युगपद्वहुभि माऽर्थं क्रियत । तथा बहुनिमित्तस्यार्थस्यैकनिर्मिता द्वैलक्षण्य म्यात् । यदा तु वलक्षण्य नप्यत तदा कारणभेदे सति कार्यभेदस्याभाव निर्दनुक्रमकल्पे वा अगत म्यात् । एतदुक्तं भवति—सरपि भिन्न कारण यदि कार्यस्याभेदस्तदा सममे अगत

नानाविधकारणजन्यमेकरूपं स्यात् । कारणभेदाननुगमात् स्वा-
तंत्र्येण निर्हेतुकं वा स्यात् । यद्येवं कथं तेन त्रिगुणात्मना चित्ते-
नैकस्यैव प्रमातुः सुखदुःखमोहमयानि ज्ञानानि न जन्यन्ते । मैवम् ।
यथार्थस्त्रिगुणस्तथा चित्तमपि त्रिगुण तस्यार्थप्रतिभासोत्पत्ती धर्मा-
दयः सहकारिकारण तदुद्भवाभिभववशात् कदाचिच्चित्तस्य तेन तेन
रूपेणाभिव्यक्तिः । तथा च कामुकस्य सन्निहिताया योषिति धर्म-
सहकृतं चित्त सत्त्वस्याङ्गितया परिणममान सुखमयं भवति । तदे-
वाधर्मसहकारि रजसोऽङ्गितया दुःखरूपं सपत्नीमात्रस्य भवति ।
तीव्राधर्मसहकारितया परिणममानंतमसोऽङ्गित्वेन 'कोपनायाः
सपत्न्या मोहमय भवति । तस्माद्विज्ञानव्यतिरेकेणास्ति बाह्योऽर्थः ।
तदेव न विज्ञानार्थयोस्तादात्म्यं विरोधान्न कार्यकारणभावः ।
कारणभेदे सत्यपि कार्यस्य भेदेऽतिप्रसङ्गादिति ज्ञानाद्यतिरिक्तत्व-
मर्थस्य व्यवस्थापितम् ॥ १५ ॥

यद्यैव ज्ञानञ्चेत् प्रकाशत्वाद्ग्रहणस्वभावमर्थश्च प्रकाश्यत्वाद्
ब्राह्मस्वभावस्तत्कथं युगपत् सर्वानर्थान्नि गृह्णाति न स्मरति
चेत्याशक्य परिहर्तुमाह—

भो० वृ० का भा०—उन दोनों धर्म और धर्मी के ज्ञानों का
मार्ग भिन्न २ है क्योंकि वस्तु में एकता होने पर भी चित्त भेद
होने से वह भेद भान होता है जैसे एक ही स्त्री आदि वस्तु में
प्रमाता अर्थात् देखने वालों के चित्त भेद से सुख वा दुःख रूप
फल भी जुड़े २ होते हैं कि रूप और लावण्य युक्त स्त्री तो एक ही
होती है परन्तु जो पुरुष उससे प्रीति रखता है उसको वही रूपादि
सुख दायक होते हैं वही स्त्री सौत को दुःख देने वाली और
सन्यासी को घृणा उत्पन्न कराने वाली होती है । समझना चाहिये
कि एक ही स्त्री में प्रमाताओं के चित्त भेद से इतने भेद हो जाते
हैं इसी प्रकार से समझना चाहिये कि उस एक वस्तु में नानात्व

काम्यभेद से प्रतीत होता है ऐसे ही जगत् में विसृष्टता है । यदि काम्यभेद न माना जाय तो जगत् में विसृष्टता भी न है । यदि चित्तभेद न माना जायगा तो जगत् हस्त रहित होगा । यदि यही बात है तो सत्त्व, रजस् और तमोगुण एक ही चित्त के आवार से सुख दुःख और मोह को क्योंकर उत्पन्न करें ? ऐसा न कहना चाहिये क्योंकि जैसे विषय त्रिगुणात्मक है ऐसे ही चित्त भी त्रिगुणात्मक है उसको जो पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञान के धर्मादिक सहायकारी कारण हैं उस धर्म के प्रादुर्भाव (प्रकाशित होना) और विरोध (सुप्त होना) में चित्त भी वही धर्म के रूप में भान होम लगता है । जैसे कामी पुरुष के समीप जब की चर्चमान रहती है तब काम धर्म में परिणत हुआ उसका चित्त सुख रूप प्रतीत होता है वही चित्त अधर्म का जब सहायकारी होता है तब तमोगुण अङ्गी अर्थात् प्रधान होता है । जब क्रोध बली सौतिन का मोह उत्पन्न होता है । इससे सिद्ध हुआ कि विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ का रूप है इस रीति से विज्ञान और विषय में भेद रहन से काम्यकारण भाव नहीं है कारण से भेद रहन पर अव्ययस्था बाध होगा इसलिये विषय ज्ञान से भिन्न है सिद्ध हुआ ॥ १५ ॥

अब सन्देह यह होता है कि यदि काम प्रकाशक होने से महण-रूपभाव है और विषय बाध रूपभाव है तो एक ही समय सब विषयों का क्यों नहीं महण करता है अथवा सब विषयों का स्मरण क्या नहीं होता ?

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणक तदा किं स्यात् १६

सू० का प०—(न च, एकचित्ततन्त्रं, वस्तु) एक चित्त के अधीन वस्तु नहीं है (तद् अप्रमाणकं, तदा, किं

स्यात्) वह प्रमाण न हो तब क्या हो ? ॥ १६ ॥

सू० का भा०—यथार्थ ज्ञान एक चित्त के आधीन नहीं है । यदि ऐसा हो तो चित्त की अस्वस्थता से फिर क्या हो ? ॥ १६ ॥

व्या० दे० कु० भाष्य—एकचित्ततन्त्रं चेद्वस्तु स्यात्तदा चित्ते व्यग्रे निरुद्धे वाऽस्वरूपमेव तेनापरामृष्टमन्यस्या विषयीभूतमप्रमाणकमगृहीतस्वभावकं केनचित्तदानीं किं तत्स्यात् संवध्यमाने च पुनश्चित्तेन कुत उत्पद्येत । ये चास्यानुपस्थिता भागास्ते चास्य न स्युरेवं नास्ति पृष्ठमित्युदरमपि न गृह्येत । तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रति पुरुषं प्रवर्तन्ते । तयोः सम्बन्धादुपलब्धिः पुरुषस्य भोग इति ॥ १६ ॥

भा० भा०—यदि वस्तु (यथार्थज्ञान) एक चित्त के आधीन हो तो चित्त के व्यग्र या निरुद्ध होने पर उसके स्वरूप का निश्चय कैसे हो ? और फिर चित्त के सम्बन्ध होने पर उसकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी । तथा जो उसके भाग अनुपस्थित होंगे उनके न होने से उपस्थितों का भी त्याग करना पड़ेगा अर्थात् पृष्ठ नहीं है तो उदर का भी ग्रहण न होगा । इसलिये स्वतन्त्र ही प्रत्येक अर्थ है और स्वतन्त्र ही प्रत्येक पुरुष के चित्त हैं, उनके परस्पर सम्बन्ध से ही भोग की उपलब्धि होती है ॥ १६ ॥

इस सूत्र पर भोजवृत्ति नहीं है, इसलिए केवल भाष्य ही दिया गया है ॥ १६ ॥

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तुज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

सू० का प०—(तदुपरागापेक्षित्वात्) ज्ञेय वस्तु के

प्रतिबिम्बित होने से (चित्तस्य) चित्त को (वस्तु ज्ञाता
ज्ञातम्) वस्तु का ज्ञान और अज्ञान रहता है ॥ १७ ॥

सू० का भा०—ज्ञेय वस्तु का जब चित्त में प्रतिबिम्ब पड़ता है
तब उस समय चित्त को उसका ज्ञान होता है और जब प्रतिबिम्ब
नहीं पड़ता तब चित्त का उस वस्तु का अज्ञान रहता है ॥ १७ ॥

व्या० दे० का भा०—अयस्कान्तमस्तिकस्याविषया
अयः सधर्मक चित्तमनिसवम्भोपरलपन्ति । येन च विषये-
खोपरक चित्त सविषयो ज्ञातस्त्वतोऽन्यः पुनरज्ञातः ।
वस्तुनो ज्ञाताज्ञात स्वरूपस्यात्परिणामि चित्तम् ॥ १७ ॥

यस्य तु तदेवचित्तं विषयस्तस्य—

भा० का प०—विषय अर्थात् ज्ञेय पदार्थ बुम्बक पत्थर के
समान होते हैं और ज्ञात के समान चित्त है संयुक्त होकर विषय
चित्त पर प्रतिबिम्बित होकर है उस प्रतिबिम्ब से चित्रित होकर
चित्त जिस समय में असुरक्षित होता है उस विषय को ज्ञानता है
जिससे भिन्न विषय अज्ञात रहता है ज्ञेय वस्तु के ज्ञात और अज्ञात
रूप ज्ञान से चित्त परिणामी अर्थात् अदिभर वृत्ति वात्सा सिद्ध
हुआ ॥ १७ ॥

जिसका यही चित्त विषय है उसका ता—

भा० का भा०—विषय अर्थात् ज्ञेय पदार्थ बुम्बक पत्थर के
समान और चित्त ज्ञात के समान है उन दोनों का यही संयोग
ज्ञाता है यही विषय चित्त का अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है ।
यही जिस विषय से चित्त का संयोग होता है उसी का फटा
चित्त पर बिम्बित होता है और जिसका फटा चित्त पर बिम्बित है
उसी का चित्त को ज्ञान होता है और अन्य विषय अज्ञात रहते

हैं इससे यह सिद्ध हुआ कि चित्त का स्वभाव अस्थिर है ॥१७॥

भो० वृ०-तस्यार्थस्योपरागादाकारसमर्पणात् चित्ते बाह्यं वस्तु ज्ञातमज्ञातञ्च भवति । अयमर्थः-सर्व पदार्थ आत्मलाभे सामग्रीम पेक्षते । नीलादिज्ञानञ्चोपजायमानमिन्द्रियप्रणालिकया समागतमर्थो-पराग सहकारिकारणत्वेनापेक्षते । व्यतिरिक्तस्यार्थस्य सम्बन्धाभा-वाद् गृहीतुमशक्यत्वात् । ततश्च येनैवार्थेनास्य स्वरूपोपरागः कृत-स्तमेवार्थं तज्ज्ञानं व्यवहारयोग्यता जनयति । ततः सोऽर्थो ज्ञात इत्युच्यते । येन चाकारो न सपर्मिः स न ज्ञातत्वन व्यवहियते । यस्मिन्श्चानुभूतेऽर्थे सादृश्यादिरर्थः सस्कारमुद्बोधयन् सहकारितां प्रतिपद्यते तस्मिन्नेवार्थे स्मृतिरुपजायत इति न सर्वत्र ज्ञान नापि सर्वत्र स्मृतिरिति न कश्चिद्विरोधः ॥ १७ ॥

यद्येवं प्रमातापि पुरुषो यस्मिन् काले नीलं वेदयते तस्मिन् काले पीतादिमतश्चित्तसत्त्वस्यापि कदा चित् गृहीतरूपत्वादाकार-ग्रहणे परिणामित्वं प्राप्तमित्याशङ्का परिहर्तुमाह—

भो० वृ० का भा०-उस विषय के उपराग अर्थात् रंग का चित्त में जो फोटो या आकार खिंचता है उस विषय का ज्ञान वा अज्ञान होता है अभिप्राय यह है कि सब पदार्थों का ग्रहण करने में चित्त सामग्री की अपेक्षा रखता है । इन्द्रियों के द्वारा जो नील आदि वर्णों का ज्ञान होता है वह पदार्थ की सहकारिता की अपेक्षा रखता है अर्थात् रंगों का ज्ञान अकेला नहीं होता क्योंकि बिना साथी पदार्थ के जाने किसी रंग का ज्ञान नहीं हो सकता है तब जिस पदार्थ के रूप को रंग ने छिपाया है उस पदार्थ का यथार्थज्ञान ही उस रंग के ज्ञान का कारण होता है जब पदार्थ के सम्पूर्ण विषयों का ज्ञान हो जाता है तब कहा जाता है कि यह पदार्थ ज्ञात हुआ । जो पदार्थ विलकुल अपने अवयवों को ज्ञान द्वारा ज्ञाता को अर्पित नहीं करता है वह पदार्थ ज्ञात नहीं कहा जाता है, जिस अनुभव

किये पदार्थ में सादृश्य आदि विषय अनुभव के संस्कार को प्रकट शिथिल करने में सहायक हों वसी विषय की स्मृति क्षयमान होती है इस कारण सब पदार्थों में मनुष्य का ज्ञान भी नहीं हो सकता है और न सब पदार्थों की एक काल में स्मृति होती है ॥ १७ ॥

अब शंका यह होती है कि प्रमाता पुरुष जिस समय में नील रूप को जानता है उसी काल में पीठ रंग की छाया वाले चिह्न में गृहीत रूप होने से आकारप्रद्वय में परिवर्तमानिष्ठ बोध आसगा । इस शंका का समाधान अगले सूत्र में करेंगे—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभो पुरुषस्यापरि-
णामित्वात् । १८ ॥

सू० का प०—(सदा) सब काल में (ज्ञाताश्चित्त-
वृत्तयः) चित्त की वृत्तियाँ ज्ञात रहती हैं (तत्प्रभोः पुरुष-
स्यापरिणामित्वात्) वृत्तियों के स्वामी पुरुष के परिणाम
रहित होने से ॥ १८ ॥

सू० का मा०—वृत्ति का स्वामी पुरुष अर्थात् वीर्य अपरि-
णामी है अतएव उसे वृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं ॥ १८ ॥

व्या० भा०—यदि चित्तबलप्रभुरपि पुरुषः परिश्रमेण
स्तद्विषयाश्चित्तवृत्तयः शुब्दादिविषयवज्ज्ञातास्ताः स्मृः ।
सदाज्ञातत्वं तु मनसस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वमनुमा-
पयति ॥ १८ ॥

स्यादाशङ्का चित्तमेव स्वाभास विषयमासञ्च वैशेषि-
कानां चित्तास्मयादिनां च मविष्पत्यम्निवत्—

भा० का प०—यदि चित्त के समान चित्त का स्वामी पुरुष भी परिणाम को प्राप्त हो तो उसकी ज्ञेय वृत्ति भी ज्ञात और अज्ञात होंगी जो मन सदा वृत्तियों को जानता है इससे जीव का परिणाम रहितपन सिद्ध होता है ॥ १८ ॥

आशका हो सकती है कि चित्त ही स्वप्रकाशरूप है और विषय का आभास वही है । वैशेषिक और योग वाले जो चित्त को आत्मा मानते हैं उनके मत में चित्तही स्वभास रूप हो सकता है—

भा० का भा०—जो जीव भी परिणामी हो तो उसकी वृत्ति ज्ञाताज्ञात हो सकती है जब कि मन सब वृत्तियों को जानता है इसी से सिद्ध होता है कि आत्मा परिणामरहित है परन्तु इसमें यह शंका हो सकती है कि चित्त ही स्वभास रूप है ॥ १८ ॥

भो० वृ०—या एताश्चित्तस्य प्रमाणविपर्ययादिरूपा वृत्तयस्तास्तत्प्रभोश्चित्तस्य ग्रहीतुः पुरुषस्य सदा सर्वकालमेव ज्ञेयाः, तस्य चिद्रूपतायाऽपरिणामात् परिणामित्वाभावादित्यर्थः । यद्यसौ परिणामी स्यात्तदा परिणामस्य कदाचित्कत्वात् प्रमातुस्तासां चित्तवृत्तीनां सदा ज्ञातत्वं नोपपद्येत । अयमर्थः—पुरुषस्य चिद्रूपस्य सदैवाधिष्ठातृत्वेन व्यवस्थितस्य यदन्तरङ्ग निर्मल सत्त्वं तस्यापि सदैवावस्थितत्वाद्येन येनार्थेनोपरक्तं भवति तथाविधस्यार्थस्य सदैव चिच्छायासंक्रान्तिसद्भावस्तस्यां सत्या सिद्धं ज्ञातृत्वमिति न कदाचित् क्वचित् परिणामित्वाशङ्का ॥ १८ ॥

ननु चित्तमेव यदि सत्वोत्कर्षात् प्रकाशकं तदास्वपरप्रकाशरूपत्वादात्मानमर्थञ्च प्रकाशयतीति तावतैव व्यवहारसमाप्तिः किं ग्रही-
त्रन्तरेणोन्याशङ्कामपनेतुमाह—

भो० वृ० का भा०—चित्त की जो ये प्रमाण और विपर्यय आदि वृत्तियों हैं वे सब चित्त के प्रभु अर्थात् स्वामी जीव को हर समय ज्ञात रहता है क्योंकि आत्मा परिणामी नहीं है यदि आत्मा

एक रस अपरिणामी न हो ता परिणाम क अनित्य होने से सब वृत्तियों का ज्ञान भी उसका नहीं हो सकता। अमिमांश यह है कि चैतन्यस्वरूप जो पुरुष है उसके नित्य अधिष्ठान से जो अन्तरङ्ग निर्मल सत्त्व है वह भी सदैव रहता है क्योंकि नित्य वस्तु के गुण भी नित्य होते हैं। वस उस निर्मल सत्त्व में अिन विषयोंका उपराग होता है उससे उसका ज्ञान का परिणाम नहीं होता ॥ १८ ॥

अब यह शंका हो सकती है कि यदि चित्त ही को स्वप्रकाश रूप मान कर उसका द्वारा ही आत्मा का और विषयों का प्रकाश होता है और चित्त ही के प्रकाश तक सब व्यवहारों की समाप्ति हो जाती है ऐसा माना जाय ता फिर दूसरे प्रतीति की शंका क्यों करनी ? इसका उत्तर अगले सूत्र में दत्त है—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

सू० का प०—(न तत् स्वाभासं दृश्यत्वात्) चित्त स्वाभास अर्थात् आप ही विषयों का ग्राहक नहीं है क्योंकि वह भी दृश्य है अर्थात् श्रेय है ॥ १९ ॥

सू० का भा०—चित्त स्वप्रकाश रूप नहीं है क्योंकि वह दृश्य है ॥ १९ ॥

व्या० वे० कु० भा०—यथेतरादीन्द्रियाणि शब्दाद-
यथ दृश्यत्वान्न स्वाभासानि तथा मनोऽपि प्रत्येतन्मयम् ।
न चाम्भिरश्र दृष्टान्तः । न चाम्निरात्मस्वरूपमप्रकाशं प्रका-
शयति प्रकाशभाय प्रकाश्यप्रकाशकसंयोग दृष्टः । न च
स्वरूपमात्रेऽस्ति संयोगः किं च स्वाभासत्रिधमित्यत्राद्यमेव
कस्यचिदिति शब्दार्थः तद्यथा स्वात्मप्रतिष्ठामित्यर्थः । स्व-

बुद्धिप्रचारप्रतिसंवेदनात्सत्यानां प्रवृत्तिर्दृश्यते क्रुद्धोऽहं
भीतोऽहममुत्र मे रागोऽमुत्र मे क्रोध इति । एतत् स्वबुद्धेर-
ग्रहणे न युक्तमिति ॥ १६ ॥

भा० का प०—जैसे और इन्द्रियाँ तथा शब्द स्पर्शादि ज्ञेय होने से स्वप्रकाश रूप नहीं हैं तैसे ही मन को भी समझना चाहिये । चित्त के स्वभास होने में अग्नि का दृष्टान्त भी नहीं घट सकता, क्योंकि अग्नि प्रकाशरहित अपने स्वरूप का प्रकाश नहीं कर सकती है । प्रकाश्य और प्रकाशक के संयोग में ही प्रकाश देखा जाता है और स्वरूप मात्र में प्रकाश नहीं देखा जाता है, प्रकाश्य और प्रकाशक का संयोग तो है किन्तु चित्त की स्वप्रकाशता सर्वथा अप्राप्य है चित्त किसी का दृश्य है यह सूत्र का शब्दार्थ हुआ । जैसे आकाश अपने आधार से स्थित है दूसरे के आधार से नहीं अपनी बुद्धि के प्रचार के ज्ञान से जीवों की प्रवृत्ति देखी जाती है कि मैं क्रोधी वा भययुक्त हूँ इस वस्तु से मेरी प्रीति और इसमें मेरा द्वेष है यह सब जब बुद्धि ज्ञान का साधन न होगी तो रागादि का होना भी असम्भव होगा ॥ १६ ॥

भा० का भा०—जैसे अन्य इन्द्रियाँ वा शब्दादि विषय ज्ञेय हैं ऐसे ही चित्त भी जीव का ज्ञेय है अतएव स्वप्रकाशरूप नहीं है इससे ग्रहीता की कल्पना करना नितान्त आवश्यक है ॥ १६ ॥

भो० वृ०—तच्चित्तं स्वाभासं स्वप्रकाशकं न भवति पुरुषवेद्यं भवताति यावत् । कुतः दृश्यत्वात् । यत् किल दृश्यं तद्दृष्टृवेद्यं दृष्टं यथा घटादि । दृश्यञ्च चित्तं तस्मान्न स्वाभासम् ॥ १६ ॥

ननु साध्याविशिष्टोऽयं हेतुः दृश्यत्वमेव चित्तस्यासिद्धम् । किञ्च स्वबुद्धिरुपवदनद्वारेण हिताहितप्राप्तिपरिहाररूपा वृत्तया दृश्यन्ते । तथाहि क्रुद्धोऽहं भीतोऽहमत्र मे राग इत्यवमाद्या सविद्वुद्धेरसवे-

इने नोपपद्येतेत्याशङ्क्यमपन्नुमाह—

मां पृ० का मा०—चित्तका स्वयम् प्रकाश नहीं है क्योंकि चित्त आत्मवशम् अर्थात् आत्मन योग्य है ओ मां दृश्य पदार्थ होता है वह स्वयम् प्रकाश नहीं होते और द्रष्टा द्वारा ज्ञेय बात है जैसे घर चित्त दृश्य है इस कारण स्वयम् प्रकाश नहीं है ॥ १६ ॥

अथ सन्देह यह होता है कि उपर्युक्त अनुमान साम्यसे रहित है इस कारण यह साम्य नहीं है क्योंकि हेत्वाभास से युक्त है, चित्तका दृश्यत्व यदि सिद्ध हो तब ऊपर सिद्धास्तु ठीक हो सकता है अपनी बुद्धि के संवेदन से हित और अहितको नाश करनेवाली चित्त की वृत्ति ही दृश्य है जैसे मैं क्रोधी मैं डरता हूँ मुझे अमुक विषय में प्रीति है इत्यादि ज्ञान बुद्धि को असंवेदना से नहीं हो सकता है इससे चित्त दृश्य नहीं है किन्तु वृत्ति ही दृश्य है इस शंका को दूर करने के वास्ते अगला सूत्र कहा है—

एकसमये धोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

पृ० का प०—(एकसमये) एक काल में (उभया नवधारणम्) दोनों का ज्ञान नहीं होता ॥ २० ॥

सु का मा०—यदि चित्त स्वप्रकाश नहीं है तो उसका प्रकाशक दूसरा चित्त मानना चाहिये । परन्तु फिर उसका प्रकाशक कौन होगा क्योंकि एक काल में वह अपन स्वरूप और दूसरे के स्वरूप का ज्ञान नहीं कर सकता है ॥ २० ॥

प्या० मा०—नचैकस्मिन् कश्च स्वपररूपावधारण्य युक्त चयिक्रवादिनो यद्गुणनं सैव क्रिया तदेव च कारकमि त्यभ्युपगमः ॥ २० ॥

स्वान्मतिः स्वरसन्निरुद्धं चिधं चित्तान्तरेण समनन्त-

रेण गृह्यत इति—

भा० का प०—एक ही क्षण में अपने और पराये रूप का ज्ञान होना अयुक्त है । क्षणिक विज्ञानवादी के मत में तो जो उत्पत्ति है वही क्रिया है और वही कारक है यही सिद्धान्त है । २०

एक चित्त दूसरे चित्त से गृहीत होगा और वह किसी और से गृहीत होगा—

भा० का भा०—एक ही क्षण में चित्त में दो ज्ञान वा बोधकता होना युक्त नहीं है अर्थात् यदि एक चित्त का दूसरा चित्त प्रकाशक माना जायगा तो वह दूसरा चित्त एक ही काल में अपने और प्रथम चित्त के रूप को प्रकाश करने में कदापि समर्थ न होगा यदि उसका भी प्रकाशक तृतीय चित्त को मानियेगा तो अनवस्था दोष आवेगा इससे एक चित्त का दूसरा चित्त प्रकाशक नहीं है ॥ २० ॥

भो० वृ०—अर्थस्य संवित्तिरिदन्तया व्यवहारयोग्यतापादनम् । अयमर्थः—सुखहेतुर्दुःखहेतुर्वेति । बुद्धेश्च सविदहमित्येवमाकारेण सुखदुःखरूपतया व्यवहारक्षमतापादनम् । एव विधश्च व्यापारद्वयमर्थप्रत्यक्षकाले न युगपत् कर्तुं शक्यं विरोधात् । न हि विरुद्धयोर्व्यापारयोर्युगपत् सम्भवोऽस्ति अत एकस्मिन् काले उभयस्य स्वरूपस्यार्थस्य चावधारयितुमशक्यत्वात् न चित्त स्वप्रकाशमित्युक्तं भवति । किञ्चैवं विधव्यापारद्वयनिष्पाद्यस्य फलद्वयस्यासंवदनाद्बहिर्मुखस्तयैव स्वनिष्ठत्वेन चित्तस्य स्वयंवेदनादर्थनिष्ठमेव फलं न स्वनिष्ठमित्यर्थः ॥ २० ॥

ननु माभूद्बुद्धेः स्वयं ग्रहणं बुद्धयन्तरेण भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

भो० वृ० भा०—बुद्धि का ज्ञान सुख का हेतु है वा दुःख का हेतु है, मैं इस सुख वा दुःख का सहने वाला हूँ, इस व्यवहार की करने वाली बुद्धि ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि सुख और दुःख परस्पर अत्यन्त विरोधी हैं और वे एक कालमें दो भी नहीं सकते

हैं । परन्तु चित्त की वृत्तियों में सुख और दुःख की परीक्षा एक काल में होती है इस कारण चित्त एक काल में ही विस्तृत धर्म-वास्तवों की परीक्षा नहीं कर सकता इस कारण चित्त स्वयं प्रकाश नहीं है किन्तु वस्तु यह जो व्यापारों को स्पष्ट करके उसके फल-ज्ञान में चित्त बहिर्मुख हो जाता है इस कारण वृत्तियों का फल भी चित्तनिष्ठ नहीं है ॥ २० ॥

अब शंका यह होती है कि एक बुद्धि के द्वारा सुख दुःख का प्रत्यक्ष भवित ही किन्तु दूसरी बुद्धि के द्वारा उनका प्रत्यक्ष होगा ? इसका उत्तर आगे (अस्ति) है—

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंग स्मृति-

संकरश्च ॥ २१ ॥

सू० का प०—(चित्तान्तरदृश्ये) अन्यचित्त दर्श-
नता में (बुद्धिबुद्धेः) बुद्धि की बुद्धि का (अतिप्रसंग)
अतिप्रसंगदोष (च) और (स्मृतिसंकरः) स्मरण संकर-
दोष भी होगा ॥ २१ ॥

सू० का भा०—अब चित्त अनेक मानेंगे वा बुद्धि में १ अति-
प्रसंगदोष होगा और स्मरणशक्ति में २ संकरदोष हो आयेगा ॥ २१ ॥

व्या० भा०—अथ चित्तं चेन्निचिदान्तरस्य गृह्येत बुद्धि-
बुद्धि केन गृह्यते, साध्यन्यथा साध्य-यथेत्यतिप्रसंगः ।
स्मृतिसंकरश्च यावन्तो बुद्धिबुद्धौ नामनुभवास्तावस्यः स्मृतयः

१ अतिप्रसंग—वा प्रसंग का अतिक्रम कर अथात् अतबस्था वाप

२ संकरदोष—अ य मिला ज्ञान के दोष का फल है ।

प्राप्नुवन्ति । तत्संकराच्चैकस्मृत्यनवधारणं च स्यादित्येवं-
बुद्धिप्रतिसवेदिनं पुरुषमपलपद्भिर्वैनाशिकैः सर्वमेवाकुली-
कृतम् । ते तु भोक्तृस्वरूपं यत्र क्वचन कल्पयन्तो न न्यायेन
संगच्छन्ते केचित्तु सत्त्वमात्रमपि परिकल्प्यास्ति स सत्वो
य एतान् पञ्च स्कन्धान्निक्षिप्यान्यांश्च प्रतिसन्दधातीत्यु-
क्त्वा तत एव पुनस्त्यस्यन्ति तथा स्कन्धानां महन्निर्वेदाय
विरागायानुत्पादाय प्रशान्तये गुरोरन्तिके ब्रह्मचर्यं चरि-
ष्यामीत्युक्त्वा सत्त्वस्य पुनः सत्त्वमेवापन्हुवते सांख्ययो-
गादयस्तु प्रवादाः स्वशब्देन पुरुषमेव स्वामिन चित्तस्य
भोक्तारमुपयन्तीति ॥ २१ ॥

भा० का प०—अब यदि चित्त का दूसरे चित्त से ग्रहण करेंगे
तो बुद्धि की बुद्धि को किससे ग्रहण करेंगे उसको दूसरी से और
फिर उसको दूसरी से इसी को अप्रतिसग कहते हैं और स्मृति-
सकर भी होगा । जितने बुद्धियों के अनुभव हैं उतनी ही स्मृति
भी प्राप्त होगी, संकर होने पर एक स्मरण को धारण करना अस-
म्भव होगा इस प्रकार बुद्धि सवेदी पुरुष को कहने वाले वैनाशिको
ने सब मे ही गड़बड़ मचाई है व भोक्ता के स्वरूप को जहाँ कहीं
कल्पना करते हुए न्याय पर नहीं चलते । कोई केवल सत्व का भी
प्रकल्पना करके वही सत्व है जो इन पाचों स्कन्धों को निक्षेप करके
औरों को ग्रहण करता है ऐसा कहकर उसी से फिर भयभीत होते
हैं वैसे ही स्कन्धों का विराग के लिये अनुत्पादन करने को शान्ति
के लिये गुरु के घर में ब्रह्मचर्य करूँगा ऐसा कह कर सत्व के फिर
सत्त्वभाव को नष्ट करेंगे । सांख्य यागादिक के प्रवाद स्वशब्द से

पुरुष को ही स्वामी और चित्त को भाषा प्रहस्य करते हैं ॥ २१ ॥

भा० का भा०—तब चित्त को दूसरे चित्त से बुद्धि का दूसरी बुद्धि से प्रहस्य करने से अतिप्रसंगदोष और स्मृतिशङ्करदोष होगा क्योंकि चित्तनी बुद्धि छतन ही अनुभव । तब स्मृति नष्ट होना से स्मरण नष्ट होगा इस प्रकार पुरुष को बुद्धि संशयी मानकर वैना शिक लोग गड़बड़ मचाते हैं कहीं २ भोक्ता का स्वरूप कल्पना करके अभ्यास करते हैं । कोई केवल सत्त्व की कल्पना करके मही सत्त्व है या इन पांच स्कन्धों को छोड़कर औरों को धारण करता है यह कहकर तन्हीं से फिर मयमीत होते हैं और स्कन्धों की अनुत्पत्ति और विराग के सिधे गुरु क घर में प्रहस्य करें ऐसा ठानकर पुनः एक बुद्धि और एक स्मृति न होने से उस भाव का त्याग देंगे और कहेंगे कि सांख्य और योग तो बाद मात्र है ये स्वराज्य से चित्त के भोक्ता पुरुष का प्रहस्य करते हैं ॥ २१ ॥

भो० ५ —यदि हि बुद्धिबुद्ध पन्तरेण वेद्यत तदा सापि बुद्धिः स्वयमेव स्वीयभावरूपमज्ञात्वापुन्या बुद्धपन्तरं प्रकाशयितुमसमर्थेति तस्याप्रादुर्क बुद्धपन्तरं कल्पनीयं तस्याप्यन्यदित्यन्यस्वानात् पुरुषाधुपेक्षाप्यर्थप्रतीतिन स्यात् । न हि प्रतीताप्रतीतायामर्थः प्रतीता भवति स्मृतिसंकरश्च प्राप्नोति रूपे रसे वा समुत्पन्नायां बुद्धौतद्वमादिकस्यात्मनस्तानां बुद्धिनां समुत्पत्तबुद्धजनितैः संस्कारैः यदायुगपद् बहुयः स्मृतयः क्रियन्ते तदा बुद्धरूपव्यवसायात् बुद्धिः स्मृतीनां च यद्भिनां युगपदुत्पत्तोः अस्मिन्नर्थे स्मृतिरियमुत्पन्नति ज्ञातुमशक्यत्वात् स्मृतीनां संकरः स्यात् । इयं नरस्मृतिरिष रस स्मृतिरिति न ज्ञायेत ॥ २१ ॥

ननु बुद्ध स्वप्रकाशात्वाभावे बुद्धपन्तरेण चासंशयने कथमर्थ विषयस्य वदनरूपा व्यवहार इत्याशङ्क्य स्वसिद्धास्तमाह—

भा० ५० का भा०—यदि एक बुद्धि दूसरी बुद्धि का जानगी तो

वह अपने स्वरूप और भावों को बिना जाने उस बुद्धि के ज्ञान में प्रवृत्त हुई है, यदि अपने रूप और भावों को बिना जाने ही प्रवृत्ति हुई है तो उस के जानने को और बुद्धियों की आवश्यकता होगी, और वह बिना अपने जाने प्रथम बुद्धि को प्रकाशित भी नहीं कर सकती है और इस कल्पता में स्मृतिसंकरदोष भी आवेगा, उस बुद्धि का भी दूसरा विषयग्राह्य न होगा क्योंकि बुद्धिज्ञान में चरितार्थ हो चुकी, दूसरे पुरुष की भी प्रतीति न होगी और अप्रतीति में किसी विषय की प्रतीति नहीं हो सकती है । स्मृतिसंकरदोष यों आवेगा कि रूप और रसादिकों के उत्पन्न हुए ज्ञान वाली बुद्धि को ग्रहण करनेवाली बुद्धि अनन्त होगी और बुद्धियों के अनन्त होने से स्मृति भी अनन्त होगी, जब कि अनेक बुद्धि और अनेक स्मृति एक काल में उत्पन्न होगी तब यह परिज्ञान होना असम्भव है कि यह स्मृतिरस सम्बन्धिनी है वा रूप सम्बन्धिनी है ॥२१॥ अब सन्देह यह है कि यदि बुद्धि स्वप्रकाश नहीं है और दूसरी बुद्धि की कल्पना हो नहीं सकती तो विषय संवेदन क्योंकर होता है ? इसका उत्तर अगले सूत्र में देंगे—

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्

सू० का प०—(चितेः) चिति अर्थात् पुरुष के (अप्रतिसंक्रमायाः) इधर उधर गमन रहित होने से (तदाकारापत्तौ) तदाकार अवस्था में प्राप्त होने से (स्वबुद्धिसंवेदनम्) अपनी बुद्धि का ज्ञान होता है ॥२२॥

सू० का भा०—जब स्थिर पुरुष के समीप बुद्धि भी तदाकार को प्राप्त होती है तब बुद्धि को अपने रूप का ज्ञान होता है ॥२२॥

व्या० दे० का भा०—अपरिणामिनी हि भोक्तृश-

किरप्रतिसक्रमा च परिणामिन्यथ प्रतिसक्रान्तेव तद्वृत्ति
मनुपपत्ति । तस्याथ प्राप्तचैतन्योपग्रहस्वरूपाया बुद्धिवृत्तेर
नुकारिमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिराक्यायते ॥२२॥
तथाचोक्तम्—

“नपातालं न च विवर गिरोर्या नैवाधकार कृषयो नोद
धीनाम् । गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शास्वत बुद्धिवृत्तिमवि
शिष्टां कृषयो वेदयन्ते ॥” इति ॥२२॥ अतश्चैतदप्युपगम्यते—

भा० का प०—भोक्ता अर्थात् पुरुष की शक्ति परिणामरहित है
और गमनागमनरहित है परिणामी विषय में पुरुष की वृत्ति पञ्चस
रहती है और उस वृत्ति से संयोग प्राप्त बुद्धिवृत्ति के अनुकरण मात्र
से बुद्धिवृत्ति से ज्ञानवृत्ति भिन्न प्रतीत होती है ऐसा ही अन्यत्र भी
सिखा है अर्थात् न पाताल न पर्वतों के विवर, न अधकार, न
समुद्र की छाड़ी हैं जहाँ ब्रह्म बैठा हो । वह गुफा जिसमें ब्रह्म रहता
है कवि अथान् विद्वान् लोग उसका बुद्धि करते हैं ॥ २२ ॥

भा० का मा०—भोक्ता की शक्ति परिणाम और गमनागमन से
रहित है आ विषय परिणामी और गमनशील हैं उनके साथ चित्त
की वृत्ति भी गमन करती है परन्तु जब बुद्धि चैतन्य पुरुष के समीप
होती है तब उसकी वृत्ति भी स्थिर हो जाती है तब उस बुद्धि में
इष्टवर का यथायज्ञान होता है पमाही अन्यत्र भी सिखा है कि ब्रह्म
पातालादि में नहीं रहता इ वरन बुद्धिरूप गुफा में रहता है ॥२२॥

भा० प०—पुरुषभिन्न पश्चाच्चिपति साऽप्रतिसक्रमा, न विषय
प्रतिसक्रमाऽन्यत्र गमन यस्याः सा तथाच अभ्यनासंकीर्णैति
यावत् यथा गुणः अगादिभावज्ञस्य परिणामेऽङ्गुणं संक्षमन्ति
तदुपतामिवापद्यन्त यथावालाक परमाद्यधः प्रसरता विषयमारा-

अयन्ति नैवं चित्तिशक्तिस्तस्याः सर्वदैकरूपतया स्वप्रतिष्ठितत्वेन व्यवस्थितत्वात् अतस्तत्सन्निधाने यदा बुद्धिस्तदाकारतामापद्यते चेतनेवोपजायते, बुद्धिवृत्तिप्रतिसंक्रान्ता च यदा चिच्छक्तिः बुद्धि-वृत्तिविशिष्टतया संवेद्यते तदा बुद्धेः स्वस्यात्मनो वेदनं संवेदनं भवतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

इत्थं स्वमविदितं चित्तं सर्वानुग्रहणसामर्थ्येन सकलव्यवहार निर्वाहक्षमं भवतीत्याह—

भो० वृ० का मा०—पुरुषचैतन्य रूप है और उसकी चैतन्य शक्ति अप्रतिसंक्रमा है, अप्रतिसंक्रमा का अर्थ यह है कि नहीं है सक्रम अर्थात् अन्यत्रगमन जिसका, अभिप्राय यह है कि वह चित्ति शक्ति और भावों से संकीर्ण नहीं होती, जैसे गुण जब अङ्गादि भाव में परिणत होते हैं अर्थात् तमोगुणादि जब दूसरे प्रधान गुण के अंग होते हैं तब अंगों को संक्रमण कर जाते हैं अर्थात् अंग के रूप को धारण कर लेते हैं अथवा जैसे जगत् में परमाणु प्रसार पाकर विषयके रूप में परिणत हो जाते हैं ऐसे चित्ति शक्ति परिणत नहीं होती क्योंकि वह सदा एक रूप में स्थिर रहती है, उस चित्तिशक्ति के समीप में आकर बुद्धि जब उसके रूप में परिणत होती है तब चित्तिशक्ति उसके विषयों को जानती है इस प्रकार से संवेदन होता है ॥ २२ ॥

ऐसे जित्ता जब सविदित होता है तब सबके ऊपर अनुग्रह करने में समर्थ होता है यही अगले सूत्र में वर्णन करेंगे—

द्रष्टृदृश्योपरक्तचित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

सू० का प०—द्रष्टृदृश्योपरक्तम्) देखने वाले और देखने योग्य पदार्थ में उपरक्त (चित्तम्) चित्त (सर्वार्थम्) चेतन व अचेतन सब कुछ है ॥ २३ ॥

सू० का मा०—विषय और विषयी (विषयवान्) में स्पर्श-चेतन और अचेतन रूप चित्त है ॥ २३ ॥

व्या० भा०—मनो हि मन्तव्येनार्थेनोपरक्तं तत्स्वर्यं च विषयत्वाद्विषयिण्या पुरुषेणास्मीयया वृत्त्याभिसम्बद्ध, तदेतच्चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्मास चेताना चेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकम्प्यं सवार्थमित्युच्यते तदनेन चित्तं सारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः । अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्वं नास्ति सुखं च गवादिर्घटादिषु सकारणो लोका इति । अनुकम्पनीयास्ते कस्मात् । अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं सर्वरूपाकारनिर्मासं चित्तमिति । समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थः प्रतिबिम्बी भूतस्तस्याक्षम्बनीभूतत्वादन्यः स चेदर्थश्चित्तमात्रं स्यात्कथं प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधार्येत तस्मात् प्रतिबिम्बीभूतोऽर्थः प्रज्ञायां येनावधार्यते स पुरुष इति । एष प्रज्ञोत्प्रज्ञश्च प्राज्ञस्वरूपचित्तमेवात् त्रयमप्येतन्मातितः प्रविभज्यन्ते ते सम्यग्दर्शिनस्तैरधिगतः पुरुषः ॥ २३ ॥

भा० का प०—मन्तव्य अर्थ में लगा हुआ मन आप और विषय दोन स विषयी पुरुष से आत्मसम्बन्धी वृत्ति स संबद्ध है सा यह चित्त ही द्रष्टा और दृश्य स लगा हुआ अर्थात् विषय और विषय वाला को भासित करनेवाला चेतन और अचेतन स्वरूप का प्राप्त विषयात्मक भी अविषयात्मक क समान और अचेतन भी चेतन क समान है । स्फटिकमणि के तुल्य सवार्थ कइशाता है ।

इस चित्त की स्वरूपता से भूले हुए कोई वह चेतन है ऐसा कहते हैं दूसरे चित्त मात्र ही यह सब कुछ है । गवादि और मठादि चराचर लोक निश्चय ये नहीं हैं, कुछ नहीं है, ऐसा कहते हैं । वे दयापात्र हैं क्योंकि उनके मत में भ्रान्ति का बीज यही है कि वे चित्त को सर्वरूपाकार मानते हैं । समाधि की बुद्धि में ज्ञेय अर्थ आश्रय होने से प्रतिविम्ब से भिन्न है यदि वही अर्थ चित्तमात्र हो कैसे बुद्धि से बुद्धि के रूप को जानें ? इस वास्ते प्रतिविम्ब भूत अर्थ बुद्धि में जिससे जाना जाय वही पुरुष है । इस प्रकार जिनसे ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य ये तीनों स्वरूप और चित्त के भेद से जाति से विभाग किये जाते हैं वे तत्त्वदर्शी हैं उनसे ही पुरुष जाना जाता है ॥ २३ ॥

भा० का भा०—मन्तव्य अर्थ में लगा हुआ मन आपही विषय होने से विषयवान् (पुरुष से) अपनी वृत्ति से सम्बन्ध रखता है, देखनेवाले और देखने योग्य दोनों में अर्थात् विषय और विषयवान् को भासित करनेवाला चेतन भी अचेतनता को प्राप्त विषयात्मक होने पर भी अविषयात्मक है जैसे स्फटिक लाल नहीं होता परन्तु लाल के पास रहने से लाल भान होता है । अतएव चित्त को सर्वार्थ कहते हैं सो इस चित्त के रूप से भूले हुये कहते हैं कि यही पुरुष है दूसरे कहते हैं कि चित्त ही सब कुछ है और कुछ नहीं है ये सब दयापात्र हैं । तत्त्वदर्शी वही है जो ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य इनमें जातिगत भेद करते हैं ॥ २३ ॥

भो० वृ०—द्रष्टा पुरुषस्तेनोपरक्तं तत्सन्निधानेन तद्रूपतामिव प्राप्तं दृश्योपरक्तं विषयोपरक्तं गृहीतविषयाकारपरिणामं यदा भवति तदा तदेव चित्तं सर्वार्थग्रहणसमर्थं भवति । यथा निर्मलं स्फटिकदर्पणाद्येव प्रतिविम्बग्रहणसमर्थमेवं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं शुद्धत्वात् चिच्छायाग्रहणसमर्थं भवति, न पुनरशुद्धत्वाद्रज-

स्तमसी । तन्मयमूतरवस्तमोरूपमङ्गितया सस्यं निष्कलमदीपरि-
 साकारं सदैकरूपतया परिणममानं विच्छायापङ्कजसामर्थ्यादामो-
 दप्राप्तरवतिष्ठत । यथाऽयस्कान्तसन्निधाने तादृस्य वस्तनमाविर्भ-
 वति । एवं चिरूपपुरुषसन्निधाने सत्त्वस्याभिध्यम्यमभिध्यम्यते चैत-
 म्यम् । अतएव अस्मिन् दर्शने द्वे चित्तवृत्ती मिश्रादिताभिध्यम्या
 चानिमिश्रादिता विच्छक्तिपुरुषे तत्सन्निधानादभिध्यम्यचैतम्यं सत्त्व
 मभिध्यम्यम्या विच्छक्तिः । तदस्यस्तन्निहितरवावन्तरगं पुरुषस्य
 भाष्यतां प्रतिपद्यते । तदेव शान्तमहाबादिभिः सांख्यैः पुरुषस्य पर-
 मात्मनाऽधिष्ठेयं कर्मानुरूपं सुखदुःखभाक्त्वतया व्यपदिश्यत ।
 यश्चतुर्विक्तस्यादेकस्यापि गुणस्य कदाचित् कस्यचिद्विगिस्तात् त्रि-
 गुणं प्रतिक्षणं परिणममानं सुखदुःखमोहात्मकमनिमलं तत्तस्मिन्
 कर्मानुरूपे सुखे सत्त्वं स्यात्कारसमर्पणद्वारेण संश्लेषतामापादयति ।
 तन् सत्त्वमाद्यम् चित्तसत्त्वमेव प्रतिसंयन्तविच्छायासमन्वितोगृहीत-
 विपयाकारेण चित्तनोपहोक्तिरुत्पादकं चित्सङ्क्रान्तिबलात् चेतना-
 यमानं वास्तवचैतन्यामाद्यपि सुखदुःखस्वरूपं भोगमनुभवति । स-
 एव भोगाऽयन्तसन्निधानेन विवेक्यइत्यात् अभोक्तुरपि पुरुषस्य
 भोग इति व्यपदिश्यत । अनेनैवाभिप्रायेण विष्णुपास्तिनोक्तम्—
 ‘सत्यतत्परमेश्वरपुरुषसप्यस्यमिति’ अम्यत्रापि विम्बे प्रतिविम्बमा-
 नच्छायासदृशच्छायायोरुक्तः प्रतिविम्बराश्वेनोच्यते । एवं सत्त्वेऽपि
 पौरुषेणविच्छायासदृशचिदभिध्यक्तिः प्रतिसंक्रान्तिराधार्य इति ।
 ननु प्रतिविम्बनं नाम निमलस्य नियतपरिणामस्य निमले दृष्टं, यथा
 मुक्तस्य वर्पणं । अस्यस्तनिर्मलस्य व्यापकस्यापरिणामिनः पुरुषस्य
 तस्मादस्यन्तनिमलात्पुरुषादनिमले सत्त्वं कर्म प्रतिविम्बनमुपपद्यते ।
 उच्यते—प्रतिविम्बनस्य स्वरूपमनवगच्छता भवतदसम्भवायि । यैव
 सत्त्वगताया अभिध्यम्यायाविच्छक्तः पुरुषस्य साभिध्यम्यमिम्ब-
 क्तिः सैव प्रतिविम्बनमुच्यते । यादृशी पुरुषगता विच्छक्तिस्तच्छा

या तथाविर्भवति । यदप्युक्तमत्यन्तनिर्मलः पुरुषः कथं निर्मले सत्त्वे
प्रतिसंक्रामतीति तदप्यनैकान्तिकं नैर्मल्यादपकृष्टेऽपि जलादावादि-
त्यादयः प्रतिसंक्रान्ताः समुपलभ्यन्ते । यदप्युक्तमनवच्छिन्नस्य
नास्ति प्रतिसंक्रान्तिरिति । तदप्युक्तं, व्यापकस्याप्याकाशस्य दर्प-
णादौ प्रतिसंक्रान्तिदर्शनात् । एवं सति न काचिदनुपपत्तिः प्रतिवि-
म्बदर्शनस्य । ननु सात्त्विकपरिणामरूपे बुद्धिसत्त्वे पुरुषसन्निधानाद-
भिर्व्यंग्यायाश्चिच्छक्तेर्बाह्यार्थाकारसंक्रान्तो पुरुषस्य सुखदुःखरूपो
भोग इत्युक्तः, तदनुपपन्नम् । तदेव चित्तसत्त्वं प्रकृतावपरिणताया
कथं सम्भवति किमर्थश्च तस्याः परिणामः । अथोच्येत पुरुषस्या-
र्थोपभोगसम्पादनं तथा कर्तव्यम् । अतः पुरुषार्थकर्तव्यतया तस्या
युक्त एव परिणामः तच्चानुपपन्नम् । पुरुषार्थकर्तव्यताया एवानुप-
पत्तेः । पुरुषार्थो मया कर्तव्य एवंविधोऽध्यवसायः पुरुषार्थकर्तव्य-
तोच्यते । जडायाश्च प्रकृतेः कथं प्रथममेवविधोऽध्यवसायः । अस्ति
चेदध्यवसायः कथं जडत्वम् ? अत्रोच्यते—अनुलोमप्रतिलोमलक्षण-
परिणामद्वये सहजं शक्तिद्वयमस्ति तदेव पुरुषार्थं कर्तव्यतोच्यते ।
सा च शक्तिरचेतनाया अपि प्रकृतेः सहजैव । तत्र महदादिमहाभूत-
पर्यन्तोऽस्या बहिर्मुखतयाऽनुलोमः परिणामः पुनः स्वकारणानुप्र-
वेशद्वारेणास्मितान्तः परिणामः प्रतिलासः । इत्थं पुरुषः स्वस्याऽऽ-
भोगपरिसमाप्तेः सहजशक्तिद्वयक्षयात् कृतार्था प्रकृतिर्न पुनः परिणा-
ममारभते । एवंविधायाश्च पुरुषार्थकर्तव्यताया जडाया अपि प्रकृते-
र्न काचिदनुपपत्तिः । ननु यदीदृशी शक्तिः सहजैव प्रधानस्यास्ति
तत्किमर्थं मोक्षार्थिभिर्मोक्षाय यत्नः क्रियते मोक्षस्य चानर्थनीयत्वे
तदुपदेशकशास्त्रस्याऽऽनर्थक्यं स्यात् । उच्यते—योऽयं प्रकृतिपुरुष-
योरनादिर्भोग्यभोक्तृत्वलक्षणः सम्बन्धस्तस्मिन् सति व्यक्तचेतना-
याः प्रकृतेः कर्तृत्वाभिमानाद्दुःखानुभवे सति कथमियं दुःखनिवृत्ति-
रात्यन्तिकी मम स्यादिति भवत्येवाध्यवसायः । अतो दुःखनिवृत्त्यु-

पापापदशकशास्त्रापदेशापेक्षा-स्त्यत्र प्रधानस्य । तथाभूतमेव च
 क्मानुरूपं बुद्धिभार्यं शास्त्रापदेशस्य विषयः । दर्शनान्तरव्यप्यत्र
 विषय एवापि चास्वभावात् शास्त्रेर्द्रव्यक्रियतः । सप्त मापत्य प्रयत्नमान
 पर्यविधमेवशास्त्रापदर्शसहकारिणुमपश्य मापत्य फलमासादयति ।
 सप्ताप्यत्र काप्याणि प्राप्तायां सामप्रपामप्स्यन्तं लभन्त । अस्य च
 प्रतिल्लामशारणैवात्पाद्यस्य माप्यस्यस्य काप्यस्यैवदृश्यत्र सामग्री
 प्रमाणन निश्चिता प्रकारान्तरणानुपपत्तेः । अतस्तत्राविना कथं भवि
 तुमइति । अतः स्थितमतत संघ्नन्तविषयापमत्र रागमभिष्यक्त-
 चिच्छाये बुद्धिसत्त्वं विषयनिष्पद्यद्वारण समुदां साध्याश्रं निषाद
 यतीति । पर्यविधमेव विषयं पश्यन्ता भ्रान्ताः स्वसंवदमविषयमात्रं
 जगदित्ययं मू. वा. ॥ प्रतिबाधिता भवन्ति ॥ २३ ॥

भो० पु० का मा०—असं स्फटिक वा दर्पण ओ निमल हाथ है
 यही प्रतिबिम्बका प्रदण करनमें समर्थ हाथ है ऐसेही रज्जागुण और
 तमागुण में रहित सत्त्व गुण होने के कारण चित्त के प्रतिबिम्ब को
 प्रदण करता है किन्तु रज और तममगुण ज्ञान के कारण चिच्छाया
 को प्रदण नहीं कर सकत, सत्त्व वर्गी अर्थात् प्रधान गुण हाकर
 निष्कल बीपशित्वा के समान निष्कल और सदा एकस्य में चिच्छा-
 या को प्रदण करके और परिणाम का धारण करके भी मुक्ति
 पश्यन्त रहता है । जैसे चुम्बक परस्पर के समीप लोह की बलनस्पी
 क्रिया का प्रक्षर होता है ऐसे ही चित् पुरुष के समीप सत्त्वगुण
 की व्यस्तक रूप शक्ति अर्थात् चैतन्यता प्रकट होती है । इससे
 अनुमान होता है कि चित्त की दो वृत्ति हैं एक निश्चयविता और
 दूसरी अभिष्यक्त्या । निश्चयविता चित्त शक्ति पुरुष में रहती है
 और उसकी समीपता के कारण सत्त्वगुण में अभिष्यक्त्या चित्
 शक्ति होती है और अभिष्यक्त्या के अत्यन्त समीप होने से पुरुष
 में भोम्यपन सिद्ध होता है इसी को प्रवर्णादी शास्त्र, सत्त्ववासी

ने पुरुष का कर्मानुसार सुख दुःख का भोग कहा है, जो गुण किसी अंगी होता है वही फिर परिणाम को प्राप्त होकर अंग बन जाता है ऐसे ही तीनों गुण परिणत होते रहते हैं और इनसे सुख, दुःख; मोह और निर्बलता को प्रदान करते हैं चित्त स्वरूप ही है जब सत्त्व चित् के प्रतिविम्ब को ग्रहण करता है तब चैतन्यवत् प्रतीत होता है वास्तव में चैतन्य के बिना भी सुख और दुःखरूप भोग का अनुभव करता है वही भोग जब अत्यन्त समीप होता है तब विवेक के प्रभाव से अभोक्ता पुरुष को भोक्ता कहा जाता है, इसी अभिप्राय से विन्ध्यवासी ने कहा है, सत्त्वगुण का जो भोगादि तप है अर्थात् सत्त्व का भोग पुरुष में अध्यारोपित होता है अतः यह सिद्ध हुआ कि सत्त्वगुण में जो चित्त का प्रतिविम्ब होता है उसी से सत्त्व में चैतन्यता जान पड़ती है ॥ २३ ॥

**तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थसंहत्य-
कारित्वात् ॥ २४ ॥**

सू० का प०—(तत्) सो (असंख्येयवासनाभिः) असंख्य वासनाओं से (चित्रम्) विचित्र चित्त (अपि भी (परार्थम्) दूसरे के निमित्त हैं (संहत्यकारित्वात् संग्रहकारी होने से ॥ २४ ॥

सू० का भा०—सो चित्त असंख्य एव विचित्र वासनायुक्त हो पर भी दूसरे ही के निमित्त है क्योंकि वह संग्रह करनेवाला है ।२

व्या० भा०—तदेतच्चित्तमसंख्येयाभिर्वासनाभिरे-
चित्रीकृतमपि परार्थं परस्य भोगापवर्गार्थं न स्वार्थं संहत्य-
कारित्वादगृह्यत् संहत्यकारिणा चित्तेन स्वार्थेन भवितव्यः

न सुखचित्तं सुखार्थं न ज्ञान ज्ञानार्थमुभयमप्येतत्परार्थम् ।
यद्य मोगेनापवर्गेण चार्थेनार्थवान् पुरुषः स एव परो न
परः सामान्यमात्रम् । यद्यकिञ्चित्पर सामान्यमात्र स्वरूपे-
खोदाहरेद्वेनाशिकस्तत्सर्वं संहत्यकारित्वात्परार्थमेव स्यात्
यस्त्यसौ परो विधेयः स न संहत्यकारी पुरुष इति ॥२४॥

भा० का प०—सो वह चित्त असंख्य वासनाओं से चित्रित
हुआ भी परार्थ अर्थात् दूसरे के मोग और मोह के वास्ते हैं
अपने लिये नहीं क्योंकि वह संप्रह करने वाला है पर के समान ।
संप्रहकारी चित्त से स्वार्थ से कार्य नहीं हो सकता । सुख चित्त
के अर्थ नहीं, न ज्ञान के लिये है । वे दोनों दूसरे के अर्थ हैं । जो
माग और माह के प्रयाजनों का अर्थवाम है वह पुरुष है वही पर
है सो पर सामान्य नहीं है जो कुछ सामान्य मात्र पर का स्वरूप
स वैनाशिक आहरण देने वह सब संहतकारी होने से परार्थ ही
है जो वे विधेय पर है सो संहतकारी नहीं है ॥ २४ ॥

भा का भा०—वह चित्त असंख्य वासनाओं से चित्रित ज्ञान
पर भी जो करता है सो सब सेषक के समान पर (पुरुष) के अर्थ
करता है इसका सुख और ज्ञान दोनों अपने अर्थ नहीं हैं जो मोग
और मोह के अर्थों का अर्थ है सो पर पुरुष है सो सामान्य नहीं
किन्तु विधेय है क्योंकि जो पर भी स्वरूप से नाश होन वाला है
सो सब परार्थ है और य पुरुष विधेय है अतएव समुदाय के साथ
कता नहीं है ॥ २४ ॥

मो० पु०—तद्वच्चित्तं संख्यातुमशक्यमिर्वासमाभिधित्तमपि-
नानारूपमपि परायपरस्य स्वामिना माह मोगापवर्गसदृशमर्थ-
साधयतीति । इत्यः संहत्यकारित्वात्, संहत्य समूह मिश्रित। अर्थ-

क्रियाकारित्वात् यच्च संहत्यार्थक्रियाकारि तत्परार्थं दृष्टं यथाशयना
सनादि सत्वरजस्तमासि च चित्तलक्षणपरिणामभाञ्जि संहत्यकारीणि
चातः परार्थानि । यः परः स पुरुषः । ननु यादृशेन शयनासनादीना
परेण शरीरवता पारार्थमुपलब्ध तद्दृष्टान्तबलेन तादृश एव परः
सिध्यति । यादृशश्च भवता परोऽसद्वतरूपोऽभिप्रेतस्तद्विपरीतस्य
सिद्ध्येरयमिष्टघातकृद्ध्येतुः । उच्यते—यद्यपि सामान्येन परार्थमात्रे
व्याप्तिर्गृहीता तथापि सत्त्वादि विलक्षणधमिष्यर्थालोचनया तद्वि-
लक्षण एव भोक्ता परः सिध्यति यथा चन्दनवनावृते शिखरिणि
विलक्षणानधूमाद्वन्धिरनुमीयमान इतरवह्निविलक्षणश्चन्दनप्रभव एव
प्रतीयते, एवमिहापि विलक्षणस्य सत्त्वाख्यस्य भोग्यस्य परार्थत्वे-
ऽनुमीयमाने तथाविध एव भोक्ताधिष्ठाता परश्चिन्मात्ररूपोऽसद्वतः
सिध्यति । यदि च तस्य परत्वं सर्वोत्कृष्टत्वमेव प्रतीयते तथापि
तामसेभ्यो विषयेभ्यः प्रकृष्यते शरीरं प्रकाशरूपेन्द्रियाश्रयत्वात्,
तस्मादपि प्रकृष्यन्त इन्द्रियाणि, ततोऽपि प्रकृष्टं सत्त्वं प्रकाशरूपं
तस्यापि यः प्रकाशकः प्रकाश्यविलक्षणः स चिद्रूप एव भवतीति
कुतस्तस्य संहतत्वम् ॥ २४ ॥

इदानीं शास्त्रफलं कैवल्य निर्णेतुं दशभिः सूत्रैरुपक्रमते—

भो० वृ० का भा०—इस प्रकार से चित्त असख्य वासनाओं से
युक्त होने के कारण अनेक रूपवाला है तौ भी आत्मा के भोग को
सिद्ध करता है क्योंकि वह औरों से मिलकर काम करता है जो
जो मिलकर काम करनेवाले हैं वे परार्थ ही काम करते दीखते हैं,
जैसे शय्या वा आसन आदि । ऐसे ही सत्त्व, रज, तम आदि मिल
कर काम करते हैं इस कारण वे सब परार्थ कार्य करने वाले हैं,
यहाँ पर (दूसरा) पुरुष ही है इस कारण सिद्ध हुआ कि चित्त
पुरुष के भोग का साधक है । अब सन्देह यह होता है कि जैसे
शय्या और आसनादि से शरीरधारी का अर्थ सिद्ध होता है इसी

दृष्टान्त से वैसा ही पर (दूसरा) असहसकारी अर्थात् अकेला ही कार्य करनेवाला सिद्ध हो सकता है इस कारण आपका क्या हनु कवस हेरयाभास है ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि सामान्य रूप से आ व्याप्ति (यत्र यत्र संसृज्यकारित्वं तत्र तत्र परार्थत्वम्) करी थी उससे कुछ शंका हो सकती है पर सत्त्वगुणाधिक विशेष विचार करने से आपक कह पर से भावा रूप पर विज्ञप्ति है जैसे काष्ठ चन्दन से पुरित पयस के धुरे का वृत्तकर आ अग्नि का अनुमान किया जाता है वह धूम और वह अग्नि अथ धूम और अग्नियों से विलक्षण होता है उस ही धर्मों में विज्ञप्ति आ सत्त्वरूप भाव्य है उसकी परार्थता के अनुमान से विज्ञप्ति योग्यता अधिष्ठता और चिन्मात्र असहसकारी पर सिद्ध होता है यद्यपि उसका परस्व सबसे उत्तम या विज्ञप्ति है तो भी तमोगुणी विषयों से शरीर उत्तम है क्योंकि प्रकारा रूपी इन्द्रियों का आश्रय है । शरीर से इन्द्रियों उत्कृष्ट हैं उनसे भी चित्त (सत्य) उत्कृष्ट है और उससे भी पर अर्थात् पुरुष उत्कृष्ट है तब वह संसृज्यकारी अर्थात् सबके साथ मिलकर कार्य करनेवाला क्यों कर रहा ॥ २४ ॥

आगे योगशास्त्र का फल तो कैवल्य अर्थात् मुक्ति है उसका निर्णय १० सूत्रों में करेंगे —

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥ २५ ॥

सू० का प०—(विशेषदर्शिन) विशेषदर्शी को (आत्मभावभावनानिवृत्तिः) शरीर के भाव को भावना को निवृत्ति हो जाती है ॥ २५ ॥

सू० का भा०—विशेषदर्शी योगी का शारीरिक भावों की भावना नहीं रहती है ॥ २५ ॥

व्या० भा०—यथा प्रावृषि तृणाकुरस्योद्भेदेन तद्वी-
जसत्तानुमीयते तथा मोक्षमार्गश्रवणेन यस्य रोमहर्षाश्रुपातौ
दृश्येते तत्राप्यस्ति विशेषदर्शनबीजमपवर्गभागीयं कर्माभि-
निर्वर्तितमित्यनुमीयते । तस्यात्मभावभावना स्वाभाविकी
प्रवर्तते । यस्याभावादिदमुक्तं स्वभावं मुक्त्वा दोषाद्येषां
पूर्वपक्षे रुचिर्भवत्यरुचिश्च निर्णये भवति । तत्रात्मभावभावना
कोऽहमासं कथमहमासं किंस्विदिदं कथंस्विदिदं के भवि-
ष्यामः कथं भविष्याम इति सा तु विशेषदर्शनो निवर्तते
कुतः, चित्तस्यैष विचित्रः परिणामः, पुरुषस्त्वसत्यामवि-
द्यायां शुद्धचित्तधर्मैरपरामृष्ट इति ततोऽस्यात्मभावभावना
कुशलस्य निवर्तत इति ॥ २५ ॥

भा० का प०—जैसे वर्षाश्रुतु में घास के उत्पन्न होने से उनकी
सत्ता जानी जाती है तैसे ही मोक्षमार्ग के सुनने से जिसका रोमहर्ष
और आँसू गिरना दीखता है उसमें भी विशेषज्ञान का बीज है जो
कि मोक्षभागीय पूर्वजन्म के कर्मों से सिद्ध हुआ है उसको आत्म-
भाव भावना स्वभाव से ही होती है । जिसके अभाव से यह कहा
जाता है कि स्वभाव को त्याग कर विद्यमान दोष से जिनको पूर्व-
पक्ष में रुचि होती है और निर्णय में अरुचि होती है, वहाँ आत्म-
भाव भावना का अर्थ यह है—मैं कौन था, किस प्रकार था, यह
जन्म क्या है, क्योंकर है, कौन होंगे, कैसे होंगे ? यह आत्मभाव
भावना विशेषदर्शी की विवृत्ति हो जाती है । क्यों ? यह चित्त ही
का विचित्र परिणाम है पुरुष तो अविद्या के न होने पर शुद्ध चित्त
धर्मों से रहित है । यह आत्मभावना कुशल पुरुष की निवृत्ति

हाती है ॥ २५ ॥

भा० का भा०—जैसे वर्षा में घास के उत्पन्न होने से उसकी सत्ता का अनुमान होता है ऐसे ही साधक्या होने में जिनके राम सहे हा आर्य या आसू गिरें उनमें भी मुक्तिसम्बन्धी ज्ञान विशेष का बीज है ऐसा अनुमान करते हैं क्योंकि दोषमस्त स्वभाव बाध का पृथ पृथ में रुचि होती है और सिद्धांत में असुचि होती है

उसका "मैं पहिले कौन था ये वर्तमान जन्म क्या है भविष्यत् कैसे होंगे" ऐसे विशेषप्रश्न के संग तर्क होते हैं क्योंकि ये सब चित्त के अद्वितीय कार्य हैं जब अविद्या से मुक्त चित्त धर्मों से शुद्ध प्रकाशदर्शन में वृत्तचित्त होता है तब ये सब निवृत्त होते हैं ॥ २५ ॥

भा० पू०—एवं सत्त्वपुरुषयोरभ्युत्थ साधिते यस्तथाविष्टं पश्यति अहमस्मादन्य एव रूपं तस्य विज्ञातचित्तरूपसत्त्वस्य चित्ते यात्मभावभावना सा निवर्त्तते पित्तमेव कश्च दातृभोक्तृइत्यभिमानो निवर्त्तत ॥ २५ ॥

तस्मिन् सति किं भवतीत्याह—

भा० पू० का भा०—पूर्वोक्त रीति से सत्त्व और पुरुष की भिन्नता का प्रतिपादन करके कहते हैं कि आ इन दोनों में भेदभावना करता है उसका आ चित्त में आत्मभावना रहती है वह निवृत्त हो जाती है अथवा वह चित्त को कक्षा भाषा नहीं समझता किन्तु पुरुष का कक्षा समझता है ॥ २५ ॥

फिर क्या होता है सा भाग कहते हैं—

तदा विवेकनिम्न केवल्यप्राग्भार चित्तम् ॥ २६ ॥

मू० का प०—(तदा) तब (विवेकनिम्नम्) ध्यान से नम्र (केवल्यप्राग्भार चित्तम्) वक्ष्यमाण केशव के भार से युक्त चित्त ॥ २६ ॥

सू० का भा०—तव चित्त कैवल्यभागी होता है ॥ २६ ॥

व्या० भा०—तदानीं यदस्य चित्तं विषयप्राग्भारम-
ज्ञाननिम्नमासीत् तदस्यान्यथा भवति कैवल्यप्राग्भारं विवे-
कज्ञाननिम्नमिति ॥ २६ ॥

भा० का प०—तव योगी का चित्त जो पहले विषयों के प्रकृष्ट
भार से भरा था वह दूसरे प्रकार का हो जाता है मोक्ष के भार से
नत अर्थात् विवेक से उत्पन्न हुए ज्ञान से भर जाता है ॥ २६ ॥

भा० का भा०—जो चित्त पूर्वकाल में विषयों से भरा था सो
अब ज्ञान से गम्भीर हो जाता है ॥ २६ ॥

भो० वृ०—यदस्याज्ञाननिम्नपथं बहिर्मुखं विषयोपभोगफलं
चित्तमासीत्तदिदानीं विवेकमार्गमन्तर्मुखं कैवल्यप्राग्भारं कैवल्यप्रा-
रम्भ सम्पद्यत इति ॥ २६ ॥

अस्मिन् विवेकवाहिनि चित्ते येऽन्तरायाः प्रादुर्भवन्ति तेषां
हेतुप्रतिपादनद्वारेण त्यागोपायमाह—

भो० वृ० का भा०—पुरुष के अज्ञान का जो नीचा मार्ग है, वही
विषय भोग का फल है उसमें जब चित्त नहीं फँसता है तब इसको
विवेक मार्ग प्राप्त होता है और उससे मुक्तिका आरम्भ होता है ॥ २६ ॥

मुक्ति के हेतु का वर्णन करनेके द्वारा त्यागका उपाय कहते हैं—

तच्छिद्रेषु प्रत्यान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

सू० का प०—(तच्छिद्रेषु) समाधि दशा के अभाव
में (प्रत्यान्तराणि) अन्य ज्ञान (संस्कारेभ्यः) संस्कारों
से उत्पन्न होते हैं ॥ २७ ॥

सू० का भा०—योगी के संस्कारों से कभी २ दूसरे ज्ञान भी
उत्पन्न हो जाते हैं ॥ २७ ॥

म्या० वे० कु० भा०—प्रत्ययविवेकनिम्नस्य सत्त्वपु-
र्यान्यतास्यातिमात्रप्रवाहिरुचिचस्य तच्छिद्रेषु प्रत्ययांत
राप्यस्मीति वा ममेति वा जानामीति वा न जानामीति
वा कुतः वीयमाणोज्ञेभ्यः पूर्वसंस्कारेभ्य इति ॥ २७ ॥

भा० का प०—ज्ञान से गम्भीर पुरुष का सत्त्व मात्र प्रसिद्धि
वाले चित्त को उसक छिद्रों में वीयमाण संस्कारों से भी दूसरे ज्ञान
अनन्त हात है जैसे मैं हूँ, या मेरा है वा मैं जानता हूँ वा नहीं
जानता हूँ ॥ २७ ॥

भा० का भा०—जब चित्त धाममय हो जाता है तब पुरुष का
सत्त्वमात्र प्रसिद्ध करनेवाले चित्त में संस्कार के बीज भट्ट ज्ञान से
दूसरा ज्ञान—मैं हूँ जानता हूँ कि नहीं यह मेरे हैं वा नहीं, ऐसे
ज्ञानान्तर क्यों से होंगे ? ॥ २७ ॥

भा० पृ०—तस्मिन् समाधौ स्थितस्य छिद्रेष्वन्तरायेषु चानि
प्रत्ययान्तराणि व्युत्थानरूपाणि ज्ञानानि प्राग्भूतेभ्यः व्युत्थानानुभव-
जेभ्यः संस्कारेभ्यः। इह ममेत्येवं रूपाणि वीयमाणेभ्यः। अपि प्रभवन्ति
अन्तःकरणेष्विति द्वारेण तेषां ज्ञानं कर्तव्यमित्युक्तं भवति ॥ २८ ॥

ज्ञानापात्यम् पूर्वमेवाक्त इत्याह—

भा० पृ० का भा०—उस समाधि में स्थित पुरुष को भाग के

विधेय—यद्यपि योगी ज्ञान से पूर्ण होता है तथापि उस ज्ञान
के छिद्र अर्थात् समाधि द्वारा से निम्न सांसारिक अवस्था में हरर
ज्ञानमें निम्न और ज्ञान भी हात हैं । जैसे अपम शरीर का अप्यास
या अन्य यस्तुओं में ममत्व आदि परन्तु यह ज्ञान योगी का कुल
बाधा नहीं देता क्योंकि जिन संस्कारों से यह ज्ञान हात है यह
रुद्धम वीर्यबीज हात है ।

विघ्नों में जो व्युत्थानरूप ज्ञान उत्पन्न हुआ करते हैं वह व्युत्थान-
से उत्पन्न हुए संस्कार जब नष्ट हो जाते हैं इस कारण उन संस्कारों
के हान का उपाय अवश्य करना चाहिये ॥ २७ ॥

हान के उपाय जो पूर्व कह चुके हैं उसी को अगले सूत्र में
कहते हैं—

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

सू० का प०—(हानम्) नाश (एषाम्) इनका
(क्लेशवत्) क्लेशों के समान (उक्तम्) कहा है ॥ २८ ॥

सू० का भा०—इन संस्कारों का नाश अविद्यादि क्लेशों के
समान कहा है ॥ २८ ॥

व्या० भा०—यथा क्लेशा दग्धबीजभावा न प्ररोह-
समर्था भवन्ति तथा ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावः पूर्वसंस्कारो
न प्रत्ययप्रसूर्भवति । ज्ञानसंस्कारास्तु चित्ताधिकारसमाप्ति-
मनुशेरत इति न चिन्त्यन्ते ॥ २८ ॥

भा० का प०—जैसे अविद्यादि क्लेशों के बीज नष्ट हुये नहीं
उत्पन्न होते तैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि से जिसका बीज जल गया है
ऐसा संस्कार अन्य ज्ञानों का उत्पादक नहीं होता और ज्ञान के
संस्कार तो चित्त के अधिकारों की समाप्ति का अनुसरण करते
हैं ॥ २८ ॥

भा० का भा०—जिस प्रकार से पूर्वोक्त क्लेश के बीज दग्ध
होने से पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं तैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि से
संस्कार भी सबीज जलने से फिर उत्पन्न नहीं होते और ज्ञान-
संस्कार चित्त की समाप्ति तक रहते हैं ॥ २८ ॥

भो० वृ०—यथा क्लेशानामविद्यादीनां हानं पूर्वमुक्तं तथा

संस्कारणामपि कर्तव्यम् । यथा ते ज्ञानान्निमा प्लुप्य दम्बबीज
कस्या न पुनश्चिधमूमौ प्रराह समन्तं तथा संस्कारा अपि ॥ २८ ॥

एवं प्रत्ययान्तरानुदयेन स्थिरीभूते समाधि यादृशस्य पाणिना
समाधेः प्रकर्षप्राप्तिर्भवति तथाविधमुपायमाह—

मो० पु० का भा०—जैसे अविधावि क्लेशों का हान पूर्वमें कहा
था ऐसे ही व्युत्थान संस्कारों का हान भी करना चाहिये जिससे
वह व्युत्थान संस्कार ज्ञानान्नि के दम्बबीज होकर चित्तमूमि में
फिर अंकुरित वा उत्पन्न न हों ॥ २८ ॥

इस रीति से जब ज्ञान्यन्तर की उत्पत्ति न होगी और समाधि
स्थिर होगी तब योगी को समाधि की प्रकर्षता कर्षण प्राप्त हो
इसका उपाय अगले सूत्र में कृत है—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकस्यातैर्धर्म
मेघ समाधि ॥ २९ ॥

सू० का प०—(प्रसंख्यानेऽपि) तत्त्वों के विभाजन
में भी (अकुसीदस्य) फलाशारहित (सर्वथाविवेकक्यस्तैः)
विवेकस्यासि वाले योगी को (धर्ममेघः समाधि)
धर्ममेघ नाम समाधि होती है ॥ २९ ॥

सू० का भा०—तद्वचिन्ता में निरत योगी को भी यदि वह
फलाशा रहित हो तो उसे धर्ममेघ समाधि प्राप्त होती है ॥ २९ ॥

व्या० भा०—यदायं प्राज्ञः प्रसंख्यानेऽप्यकुसीद
स्तथाऽपि न किञ्चित् प्रार्थयते । तत्रापि विरक्तस्य सर्वथा
विवेककथातिरेक मनतीति संस्कारबीजव्याप्तास्य प्रत्ययान्त
राप्युत्पद्यन्ते । तदास्य धर्ममेघो नाम समाधिर्भवति ॥ २९ ॥

भा० का प०—जब यह योगी तत्त्वावधान में भी कुछ न चाहे अर्थात् उसमें भी विरक्त को सब प्रकार विवेक ज्ञान ही सिद्ध हो तो संस्कार के बीज नाश होने से इसको दूसरा ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है तब इसको धर्ममेघ नाम समाधि होती है ॥ २६ ॥

भा० का भा०—जब योगी योगतत्त्व का चिन्तन करता हुआ फलाशा से रहित होता है तब वहाँ भी विरक्त होने से उसका विवेक ज्ञान नष्ट नहीं होता । संस्कार के नष्ट होने से इसको दूसरे ज्ञान नहीं उत्पन्न होते तब उसे धर्ममेघ अर्थात् धर्म को वर्षा ने वाली समाधि होती है ॥ २६ ॥

भो० वृ०—प्रसंख्यानं यावता तत्त्वानां यथाक्रमव्यवस्थितानां परस्पर विलक्षणस्वरूपविभावनं तस्मिन् सत्यप्यकुसीदस्य फलमलिप्तोः प्रत्ययान्तराणामनुदये सर्वप्रकार विवेकख्यातेः परिशेषात् धर्ममेघः समाधिर्मवति । प्रकृष्टमशुक्तकृष्ण धर्म परमपुरुषार्थसाधकं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघः । अनेन प्रकृष्टधर्मस्यैव ज्ञानहेतुत्वमित्युपपादितं भवति ॥ २६ ॥

तस्माद्धर्ममेघात् किं भवतीत्याह—

भो० वृ० का भा०—प्रसंख्यान अर्थात् क्रम से स्थित जो तत्त्व हैं उन सबके रूप का यथावत् ज्ञान प्राप्त करके जब योगी को तत्त्वों में वितृष्ण वा फलप्राप्ति की अनिच्छा होती है तब योगी को ज्ञानान्तर की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् विवेकख्याति सब प्रकार से दृढ हो जाती है । तब योगी को धर्ममेघ नामक समाधि होती है । यह अशुक्त-कृष्ण उत्तम धर्म को वर्षाती है इस कारण इसका नाम धर्म मेघ है । यही समाधि ज्ञान और धर्म की हेतु है ॥ २६ ॥

इस धर्ममेघ समाधि से क्या होता है इसका वर्णन आगे करेंगे-

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

सू० का प०—(ततः) तब (क्लेशकर्मनिवृत्तिः)
क्लेश और कर्मों का नाश होता है ॥ ३० ॥

सू० का भा०—तब क्लेश और कर्मों का नाश हो जाता है । ३०

व्या० भा०—तन्नाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाप,
कषिता भवन्ति । कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघात इवा
भवन्ति । क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो
भवति । कस्मात् यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम् । नहि
धीश्वविपर्ययः कश्चित् कचिज्ज्वातो हरयत इति ॥ ३० ॥

भा० का प०—उस धर्ममेव समाधि के लाभ से क्लेश जब से
बीया होत हैं । दुःख या सुख वनवासे कर्म के फल जब समेत नष्ट
होते हैं । क्लेश कर्म निवृत्त होने पर बीता ही योगी मुक्त होजाता
है क्योंकि मिथ्याज्ञान ही बन्ध का कारण है । नष्ट अज्ञान बाधा
कोई किसी हेतु से कहीं उत्पन्न हुआ नहीं पीकता है ॥ ३० ॥

भा० का भा०—जब योगी को धर्ममेव समाधि प्राप्त हो जाती
है तब क्लेश और अण्डे पुरे कर्म के फल नष्ट हो आते हैं, उनक
नष्ट होन से योगी जीवमुक्त होता है क्योंकि अज्ञान ही संसार का
कारण है । कहीं नहीं ऐसा कि कोई ज्ञानी पुरुष किसी के द्वारा
कहीं उत्पन्न हुआ हो किन्तु सब योगी कैवलय को भाग चुकेगा
तब फिर संस्कार वरा उत्पन्न होने में कोई भी पाषक नहीं है ।

भा पृ —क्लेशानामविद्यादीनामभिनिवशाम्नाम् कर्मणाञ्च
गुणादिभवेन त्रिविधानां ज्ञानादयात् पूर्वेपूर्वकारणमिष्ट्या निवृत्ति-
र्भवति ॥ ३० ॥

तपु निवृत्तपु किं भवतीत्याह—

भा पृ० का भा०—अविद्या से लगे अभिनिवश पश्यन्त आ

क्लेश और शुक्लादि जो तीन प्रकार के कर्म हैं उनकी क्रम से निवृत्ति होती है और ज्ञान का उदय होता है ॥ ३० ॥

उनके निवृत्त होने से क्या होता है सो आगे कहेंगे—

**तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्
ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥**

सू० का प०—(तदा) तब (सर्वावरणमलापेतस्य) क्लेश कर्मादि मल दूर हुये को (ज्ञानस्यानन्त्यात्) ज्ञान के अनन्त होने से (ज्ञेयमल्पम्) जानने योग्य वस्तु कम रहती है ॥ ३१ ॥

सू० का भा०—जब आवरणरूपी मल योगी के दूर हो जाते हैं तब इसको ज्ञान हो जाता है और जानने योग्य विषय कम रह जाते हैं ॥ ३१ ॥

व्या० भा०--सर्वैः क्लेशकर्मविरणौविमुक्तस्य ज्ञानस्यानन्त्यं भवति । आवरकेण तमसाभिभूतमावृतमनन्तं ज्ञानसत्त्वं क्वचिदेव रजसा प्रवर्तितमुद्धाटितं ग्रहणसमर्थं भवति । तत्र यदा सर्वेरावरणमलैरपगतमलं भवति तदा भवत्यस्यानन्त्यम् । ज्ञानस्यानन्त्याज् ज्ञेयमल्पं सम्पद्यते । यथाकाशे स्वधोतः । तत्रेतमुक्तम्—

“अन्धो मणिमविध्यत्तमनंगुलिरावहत् ।

अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोऽभ्यपूजयत् ” ॥ ३१ ॥

भा० का प०—सब क्लेश कर्मरूपी आवरणों से छूटे हुये को, अनन्त ज्ञान होता है । तमोगुण से आवृत्त हुआ है, ज्ञान सत्त्वगुण

जिसका वह कहीं रसोगुण से प्रवर्तित प्रहण करने का समर्थ होता है। वहाँ जब सब आचरण करनेवाले मनों से महारहित होता है तब इसका अनन्त ज्ञान होता है, ज्ञान के अनन्त होने से ज्ञानने योग्य कम रहता है जैसे आकाश में धुन्। वहाँ ऐसा कम है—अन्धे ने मणि का बीजा दूँटे में उसे पकड़ लिया, बिना कण्ठ बास ने उसे जोड़ दिया, बिना जिह्वा भासे ने उसकी प्रशंसा की॥३१॥

भा० का भा०—जब योगी के सब आचरण और मल दूर हो गये तब इसको अनन्त ज्ञान होता है आशुत किया हुआ ज्ञान रसोगुण, रसोगुण से रहित और तमोगुण से शुभ्य होकर अन्धम दूर हो जाते हैं। जब सब मल दूर हो जाते हैं तब अनन्त ज्ञान उत्पन्न होता है अनन्त ज्ञान से ज्ञेय पदार्थ कम रह जाते हैं जैसे आकाश में सघोठ का प्रकाश स्वस्थ रहता है उसे ही योगी का ज्ञेय भी स्वस्थ रहता है परन्तु बिना योग किये उस ज्ञान को जानना पस है जैसे अन्धे का मणि पाना आदि ॥ ३१ ॥

भा० ३०—आन्वित चित्तमेभिरित्याचरणानि क्लेशास्त एव मन्त्रास्तभ्याऽपेतस्य तद्विरहितस्य ज्ञानस्य शरदूगगन्निमस्या नस्त्वादनवभ्येदात् ज्ञेयमस्य गणनास्पद मयस्यकेशेनैव सर्वज्ञेयं आभातीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

ततः किमित्याह—

भा० ३० का भा०—आच्छादित होय ठक जाय चित्त चित्तमे पन अबिद्यादि क्लेशों का आचरण करते हैं और वही मल है ज्ञानसे रहित जब ज्ञान होता है तब यह आकाश के समान अनन्त होता है और फिर ज्ञेय कम रह जाता है अर्थात् सद्ब्र में ही योगी सब विषयों को जान जाता है ॥ ३१ ॥

फिर क्या होता है सा भाग कहत है—

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिगुणा

नाम् ॥ ३२ ॥

सू० का प०—(ततः) तब (कृतार्थानाम्) “कृता निष्पादिता धर्माद्यर्था यैस्ते” कृतप्रयोजनों को (गुणानाम्) गुणों के (परिणामक्रमसमाप्तिः) परिणाम के क्रम की समाप्ति होजाती है ॥ ३२ ॥

सू० का भा०—धर्ममेघ समाधि होने से कृतार्थयोगी के गुणों के परिणाम भी समाप्त हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

व्या० भा०—तस्य धर्ममेघस्योदयात् कृतार्थानां गुणानां परिणामक्रमः परिसमाप्यते नहि कृतभोगापवर्गाः परिसमाप्तक्रमाः क्षणमप्यवस्थातुमुत्सहन्ते ॥ ३२ ॥

अथ कोऽयं क्रमो नामेति—

भा० का प०—पूर्वोक्त धर्ममेघ समाधि के उदय से कृत प्रयोजनों के गुणों के परिणामों का पूर्वोक्त क्रम समाप्त हो जाता है क्योंकि भोग और मोक्ष प्राप्त किये हुए समाप्तक्रम योगी थोड़े काल भी ठहर नहीं सकते ॥ ३२ ॥ ।

भा० का भा०—पूर्वोक्त धर्ममेघ समाधि के उदय से उन गुणों का परिणाम अर्थात् बार-बार उदय होना वन्द हो जाता है जिसका फल मिल चुका है क्योंकि गुण भोग फल के पश्चात् क्षणमात्र भी नहीं रह सकते ॥ ३२ ॥

भो० वृ०—कृतो निष्पादितो भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थः प्रयोजनं यैस्ते कृतार्था गुणाः सत्वरजस्तमांसि तेषां परिणाम आपुरुषार्थसमाप्तेरानुलोम्येन प्रातिलोम्येन चाङ्गाङ्गिभावः स्थितिलक्षण-

स्तस्य पोऽसौ क्रमा ब्रह्ममाणास्तस्य परिसमाप्तिर्निष्ठा न पुनरुप-
श्रम्यते ॥ ३२ ॥

क्रमस्योक्तस्य लक्षणमाह—

सो० सू० का मा०—आ सत, रज और तम आदि गुण अपने
योगादि प्रयोजन का उपयोग कर इनका परिणाम अर्थात् अनुसोय,
विशोभ या अज्ञातिभाव से छद्म और ब्रह्म के क्रम को समाप्त
कर देते हैं फिर इनका छद्म नहीं होता ॥ ३२ ॥

आगे क्रम का लक्षण कहेंगे—

वृणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य* क्रम. ॥ ३३

सू० का प०—(वृणप्रतियोगी) वृण के विरोधी
(परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः) परिणाम के अवसान से जो
ज्ञाना बाध (क्रमः) उसे क्रम कहते हैं ॥ ३३ ॥

सू० का मा०—क्रम का लक्षण यह है कि जो वृण वृण में
दूसरी अवस्था का कारण करे वह क्रम है ॥ ३३ ॥

व्या० मा०—वृणानन्तर्यात्मा परिणामस्यापरान्ते-
नावसानेन गृह्यते क्रमः नष्टननुभूतक्रमवशा पुराणता वृण
स्यान्ते मयानि नित्येषु च क्रमो ष्टः । द्वयी वेय नित्यता
कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च । तत्र कूटस्थनित्यता
पुरुषस्य परिणामिनित्यता गुणानाम् । यस्मिन् परिणाम्य
माने तस्य न विहन्यते तन्नित्यम् । उभयस्य च उत्त्वानमि-
षातान्नित्यत्वम् । तत्र गुणपरम्परा पुद्गलादिषु परिणामा
परान्तनिर्ग्राह्यः क्रमो लम्बपर्यवसानो नित्येषु धर्मिषु गुण

अलब्धपर्यवसानः । कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्त-
पुरुषेषु स्वरूपास्तित्वा क्रमेणैवानुभूयत इति तत्राप्यलब्धप-
र्यवसानः शब्दपृष्ठे नास्ति क्रियामुपादाय कल्पित इति ।
अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्ति
क्रमसमाप्तिर्नवेति । अवचनीयमेतत् । कथम् ? अस्ति प्रश्न
एकान्तवचनीयः सर्वो जातो मरिष्यतीति । ओं भो इति ।

अथ सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति विभज्य वचनीयमे-
तत् । प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यत
इतरस्तु जनिष्यते । तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा ?
श्रेयसीत्येवं परिपृष्टे विभज्य वचनीयः प्रश्नः पशूनधिकृत्य
श्रेयसी देवानृषींश्चाधिकृत्य नेति अयं त्ववचनीयः प्रश्नः
संसारोऽयमन्तवानथानन्त इति कुशलस्यास्ति संसारक्रमप-
रिसमाप्तिर्नेतरस्येति अन्धतरावधारणे दोषः तस्माद्भूताकर-
णीय एवायं प्रश्न इति ॥ ३३ ॥

गुणाधिकारक्रमसमाप्तौ कैवल्यमुक्तं तत्स्वरूपमवधारयेते—

भा० का प०—वर्तमान क्षण के पश्चात् जो काल से परिणाम
होता है उसके अनन्तर जो ग्रहण किया जाता है उसे क्रम कहते हैं ।
इसमें शका होती है कि वस्त्र का पुरानापन वस्त्र के अन्त में नहीं
जाना जाता तब क्रम का लक्षण अयुक्त हुआ ? इसका उत्तर यह है
कि नित्य पदार्थों में क्रम ठीक रीति से जाना जाता है । अब इसमें
भी सन्देह होगा कि जिन पदार्थों में क्रम है वे नित्य नहीं हो सकते
हैं । इसका समाधान यह है कि नित्यता दो प्रकार की है—एक

कूटस्थ नित्यता और दूसरी परिणाम नित्यता । यहाँ कूटस्थनित्यता पुरुष की है और परिणामनित्यता गुणों की है । जिनके परिणाम से तत्त्व नष्ट नहीं होते व नित्य हैं वो कर्म या कारणरूप तत्त्व का नाशक न हो, इसमें यह भी शंका हो सकती है कि वो परिणामी वस्तु है यह नित्य नहीं हो सकती और बुद्धि आदिकों में अन्तरात्मा से समझने योग्य क्रम रहता है परन्तु नित्य गुणों में वो क्रम रहता है उसका अन्त होता है इससे ही हममें क्रमनित्यता रहती है । कूटस्थ अर्थात् विकाररहित नित्यपदार्थों में वो क्रम रहता है उसका अन्त नहीं होता । वो कुछ जीव अपम स्वरूप में स्थिर रहते हैं उनके जीव की विद्यमानता क्रम से ही जाती जाती है । क्योंकि जीव की नित्यता भी अन्तरहित होती है । अब यह शंका होती है कि संसार की स्थिति और समय से वो गुणों में क्रम रहता है उसकी समाप्ति होती है या नहीं ? इस विषय का कथन असम्भव है । कैसे यह प्रश्न एकदेशीय है या उत्पन्न हुए हैं वे सब मरेंगे सब मरकर उत्पन्न होंगे यह पूर्ववचन का अर्थापत्तिम्बाय से विभाग का उत्तर होता है । इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि जिस की विषय सम्बन्धिनी तृष्णा नष्ट हो गयी है वह कुराम अर्थात् योगी उत्पन्न नहीं होगा जैसे मनुष्य जाति कल्याणकारिणी है या नहीं ? यह प्रश्न विभागवचन वाला है अर्थात् इसके उत्तर में हाँ और ना दोनों कह सकते हैं क्योंकि मनुष्य पशुओं की अपेक्षा उत्तम है, देव और अपिओं की अपेक्षा उत्तम नहीं है । संसार अनन्त है या साम्त है ? इसका उत्तर यह है कि पापी को संसार के क्रम की समाप्ति हो जाती है दूसरे को नहीं इसलिये संसार को साम्त या अनन्त कहने में एक तरह का बाध है, इस कारण यह प्रश्न विवेचनीय है ॥ ३३ ॥

भा० क० सा०—वर्तमान जन्म के पश्चात् वो क्रम से परि

णाम होता है उसके अनन्तर जो ग्रहण किया जाता है उसे क्रम कहते हैं । इसमें शंका होती है कि वस्त्र का पुरानापन वस्त्र के अन्त में नहीं जाना जाता तब क्रम का लक्षण अयुक्त हुआ । इसका उत्तर यह है कि नित्य पदार्थों में क्रम ठीक रीति से जाना जाता है । अब इसमें भी सन्देह होगा कि जिन पदार्थों में क्रम है वह नित्य नहीं हो सकते हैं ? इसका समाधान यह है कि नित्यता दो प्रकार की है—एक कूटस्थ नित्यता, दूसरी परिणामनित्यता । यहाँ कूटस्थनित्यता पुरुष की है और परिणामनित्यता गुणों की है । जिनके परिणाम से तत्व नष्ट नहीं होते वह नित्य है, जो कारण वा कार्यरूप तत्वका नाशक न हो । इसमें यह भी शंका हो सकती है कि जो परिणामी वस्तु है वह नित्य नहीं हो सकती ? इसका उत्तर देते हैं कि नित्यता गुणों में रहती है और बुद्धि आदि में अन्त दशा से समझने योग्य क्रम रहता है । परन्तु नित्य गुणों में जो क्रम रहता है उसका अन्त होता है इससे ही उनमें क्रमनित्यता रहती है । कूटस्थ अर्थात् विकाररहित नित्य पदार्थों में जो क्रम रहता है उसका अन्त नहीं होता । जो मुक्त जीव अपने स्वरूप में स्थिर रहते हैं उनके जीव की विद्यमानता क्रम से ही जानी जाती है क्योंकि जीव की नित्यता भी अन्तरहित होती है । अब यह शंका होती है कि संसार की स्थिति और लय से जो गुणों में क्रम रहता है उसकी समाप्ति होती है वा नहीं ? इस विषय का कथन असम्भव है । कैसे, यह प्रश्न एकदेशीय है । जो उत्पन्न हुए हैं वे सब मरेंगे, मर कर उत्पन्न होंगे यह पूर्ववचन का अर्थापत्ति न्याय से विभाग वा उत्तर होता है । इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि जिसकी विषय सम्बन्धिनी तृष्णा नष्ट हो गई वह कुशल अर्थात् योगी उत्पन्न नहीं होगा तैसे ही मनुष्यजाति कल्याणकारिणी है वा नहीं ? यह प्रश्न विभाग वचनवाला है अर्थात् इसके उत्तर में

हैं और ना दोनों कर सकते हैं । क्योंकि पशुओं की अपेक्षा मनुष्य उत्तम है वैसे तथा भूतियों की अपेक्षा उत्तम नहीं है । संसार अनन्त है वा सन्त है ? इसका उत्तर यह है कि योगी को संसार के क्रम की समाप्ति हो जाती है दूसरे का नहीं, इसलिये संसार को सन्त व अनन्त एक तरह का कहने में दोष है इस कारण यह प्रश्न विवेचनीय है ॥ ३३ ॥

मो० पु०—इष्टोऽस्मीयान् क्लृप्तस्तस्य योऽसौ प्रतियोगी क्षण
विसृज्यः परिणामोऽपरान्तनिर्माणोऽनुमूतपु क्लृप्तेषु पश्चात् सङ्क्रम-
मुद्ध्यैव यो गृह्यते स क्षणानां क्रम उच्यते । न ह्यनुमूतेषु क्लृप्तेषु
क्रमः परिहृत्य शक्यः ॥ ३३ ॥

इदानीं क्लृप्तमूतस्य कैवल्यस्यासाधारणं स्वरूपमाह—

मो० पु० का मा०—अत्यन्त सूक्ष्म काष्ठ को क्षण करते हैं
उसका जो प्रतियोगी क्षण अर्थात् विसृज्य परिणाम जो पूर्वक्षण
के नाश होने पर प्रदण किया जाता है उसे क्षण का क्रम कहते हैं
क्योंकि जिनका अनुभव नहीं किया उनके क्रम का भी ज्ञान नहीं
हो सकता ॥ ३३ ॥

आगे योग के फल का असाधारण लक्षण ब्रह्म ब्रह्म—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः केवल्यं
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

सू० का प०—(पुरुषार्थशून्यानां गुणानां) जिन
गुणों की प्राप्ति में पुरुषार्थों की समाप्ति हो जाय (प्रति-
प्रसवः) व्यावृत्त गति से उन गुणों के नाश को (कैव-
ल्यम्) मोक्ष कहते हैं (स्वरूपप्रतिष्ठा वा) अथवा अपने

स्वरूप में स्थित होने को मोक्ष कहते हैं (चितिशक्तिः)

यद्वा ज्ञानशक्ति को मोक्ष कहते हैं ॥ ३४ ॥

सू० का भा०—स्पष्ट है ॥ ३४ ॥

व्या० भा०—कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्यकारणात्मनां गुणानां तत्कैवल्यम्, स्वरूप-प्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वानभिसम्बन्धात् पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला तस्याः तदा तथैवावस्थानम् कैवल्यमिति ॥ ३४ ॥

भा० का प०—जिन गुणों के फल भोग वा स्वर्गादि फल प्राप्त हो चुके हैं वे जब पुरुषार्थशून्य होकर कार्य कारण भाव से उत्पन्न होने के अयोग्य हो जायें, उस दशा को मोक्ष कहते हैं स्वरूप प्रतिष्ठा का अर्थ यह है कि बुद्धि वा मन के सम्बन्ध से रहित जो ज्ञानशक्ति है उसे केवला कहते हैं । सर्वदा उसी ज्ञानशक्ति में स्थिर रहने को कैवल्य कहते हैं ॥ ३४ ॥

भा० का भा०—जिन गुणों के फल भोग वा स्वर्गादि फल प्राप्त हो चुके हैं कार्य कारण भाव से उन गुणों की अनुत्पत्ति को मोक्ष कहते हैं । स्वरूपप्रतिष्ठा का अर्थ यह है कि बुद्धि वा मन के संबन्ध से रहित जो ज्ञानशक्ति उसे केवला कहते हैं, सर्वदा उसी ज्ञान-शक्ति में स्थिर रहने को कैवल्य कहते हैं ॥ ३४ ॥

भो० वृ०—समाप्तभोगापवर्गलक्षणपुरुषार्थानां गुणानां यः प्रति-प्रसवः प्रतिलोमस्य परिणामस्य समाप्ती विकारानुद्भवः क्षणेषु । यदि वा चिच्छक्तेर्वृत्तिसारूप्यनिवृत्तिस्वरूपमात्रेऽवस्थानं तत् कैव-ल्यमुच्यते ।

भो० वृ० का भा०—समाप्त हो गये हैं भोग और अपवर्ग रूप लक्षण जिन पुरुषार्थ रूप गुणों के उन गुणों का जो प्रति प्रसव

अथान् अनुज्ञामादि भाषों से फिर अरुम न जाना उसे मास कहते हैं । यज्ञा बिन् राक्षि का वृत्तियों की सरूपता का त्यागकर अपन ही रूप में स्थिर रहना, उस कैवल्य या मुक्ति कहते हैं ।

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे सारूप्यप्रवचने
कैवल्यपादश्चतुर्थः सम्पूर्णः ।

॥ समाप्तमार्गं प्रथः ॥



